ओ३म्

सविता देवता

[समस्त संसार का प्रेरणा स्रोत]

वेदमार्तण्ड
भगवद्दत्त वेदालंकार,
एम.ए.

ओउम्

सविता देवता

[समस्त संसार का प्रेरणा स्रोत]

वेदमार्तण्ड

भगवद्दत्त वेदालंकार;
एम. ए.

पुस्तक-परिचय

यह सविता देव संसार की समग्र प्रेरणाओं का आदि स्रोत है। संसार की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय इसी के अधीन है। इन्द्र आदि देवों के माध्यम से यह समग्र प्राणियों को अपने अपने कार्यों में प्रेरित करता है। इन्द्र, मित्र, वरुण और रुद्र आदि देवताओं के जो व्रत इसने निर्धारित कर दिए उन्हें वे पूरे करने पड़ते हैं। कोई भी देवता इसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता (ऋ०२/३८/९)। सब प्राणी इसी की कृपा से अपने अपने भाग का ऐश्वर्य व धन-संपत्ति प्राप्त करते हैं। मनुष्य में योग-साधना की प्रवृत्ति व लगन इसी की कृपा पर निर्भर है। सावित्र-होम मन्त्रों में योगाभ्यास का विस्तार से वर्णन हुआ है। अन्य सब देवों की अपेक्षा सविता देवता का महत्व इसलिए भी अधिक है कि वेदों की माता गायत्री-मन्त्र का देवता सविता ही है। गायत्री मन्त्र द्वारा ऐश्वर्योपलब्धि के अतिरिक्त मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। सूर्योपासना से भी सविता की ही आराधना मानी गई है, क्योंकि सूर्य सविता का प्रत्यक्ष रूप है।

प्राप्ति स्थान :

ए-१/३२ सफदर जंग एन्क्लेव

नई दिल्ली-२९

मूल्य ३५)

आदि
इसी
समग्र
है। इ
व्रत इ
हैं।
कर स
से अ
करते
इसो
योगा
देवों
अधि
सवित
अति
भी स
सूर्य

सविता देवता

[समग्र संसार का प्रेरणा स्रोत]

लेखक
भगवद् दत्त वेदालंकार, एम. ए. वेदमार्तण्ड
भू० पू० वेदोपाध्याय, सम्पादक 'गुरुकुल पत्रिका'
एवं वेदान्वेषणकर्त्ता
गुरुकुल काँगड़ी विश्व विद्यालय हरिद्वार।

प्रकाशक :

श्री सरस्वती सदन

ए—१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव, नई दिल्ली—२६

[मूल्य ३५ रुपये

१९८१]

● प्रकाशक ;
श्री सरस्वती सदन, मंसूरी
स—१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव
नई दिल्ली — ११००२९

● लेखक का पता :
वैदिक स्वाध्याय सदन
९, कल्याण नगर, गढ़ रोड मेरठ।

● प्रथम संस्करण १९८१

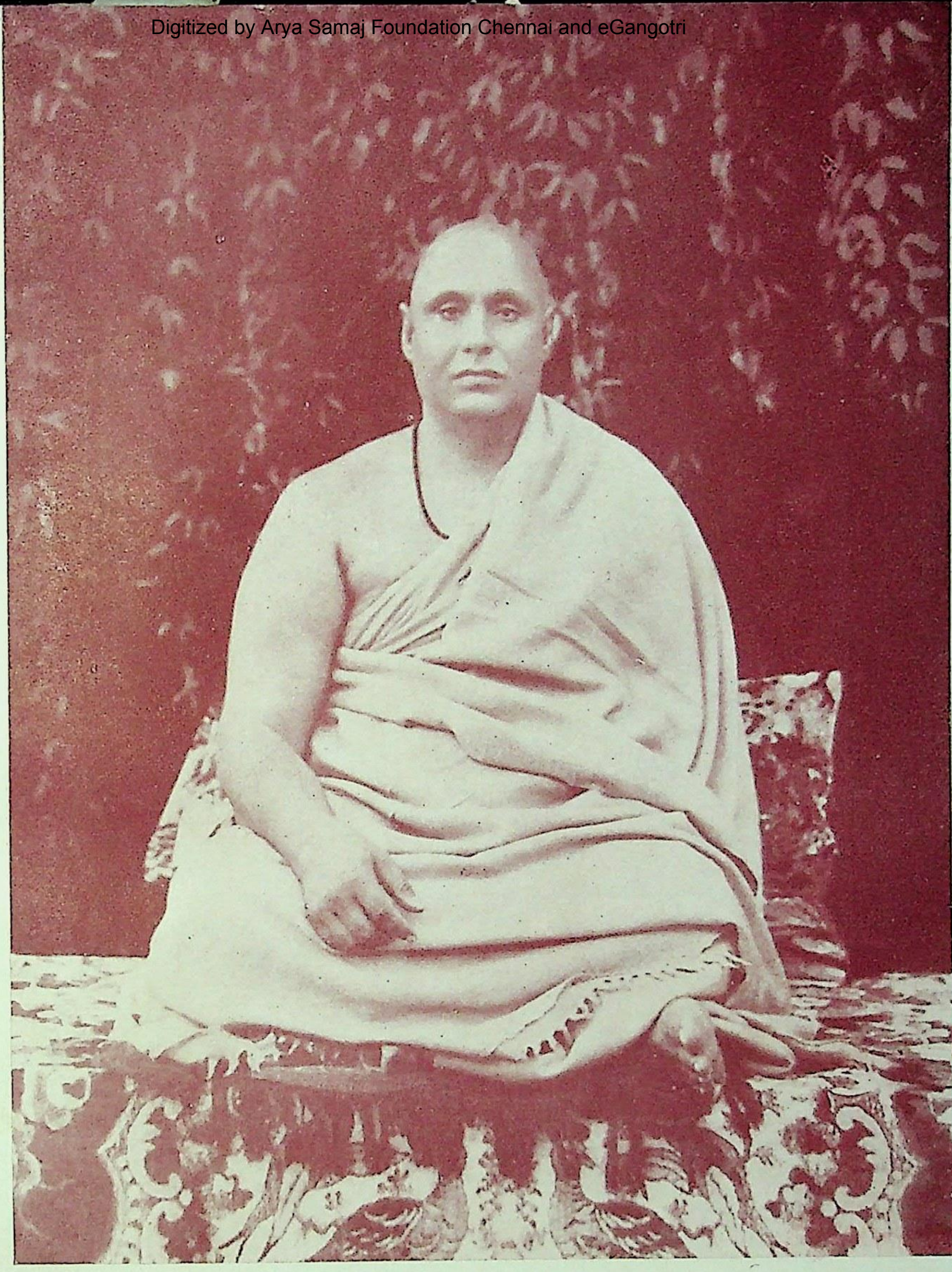
● मुद्रक :
गहलौत प्रिंटिंग प्रेस,
१४९/७ राजेन्द्र नगर, मेरठ।

विषय सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय



दर्शनरत्न वेदालंकार ब्रह्मलीन
महामण्डलेश्वर श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज उदासीन
श्री गंगेश्वर धाम, करोलबाग, नई दिल्ली
की पुण्य स्मृति में प्रकाशित व सादर समर्पित

उदासीन-सम्प्रदाय

ब्रह्मा जी के मानसिक पुत्र श्री सनत कुमार तथा उनके शिष्य नारद जी के द्वारा संचालित उदासीन-सम्प्रदाय भारत का अत्यन्त प्राचीन सम्प्रदाय है। जिसका उद्देश्य अपनी बहुमुखी प्रवृत्तियों से भारतीय जनता का सर्वविध कल्याण करना है। युग धर्म के अनुसार इस सम्प्रदाय के प्रचार एवं प्रसार में भी ह्रास और विकास होते रहे हैं, सम्वत् १५५१ में बालयति योगेश्वर आचार्य श्री श्रीचन्द्र जी महाराज का आविर्भाव हुआ। उन्हें भगवान शंकर का अवतार माना जाता है, वह युग ऐसा था जिसमें विधर्मियों ने चारों ओर हाहाकार मचा रखा था। ऐसा कोई भी जघन्य कुकृत्य नहीं था जो उन्होंने निरपराध भारतीय जनता पर न ढाया हो—बलात् उनके धर्म का परिवर्तन कर डाला गया, उनकी माताओं और बहनों की लाज लूटी गई, उनके धर्म स्थानों को मिट्टी में मिला दिया गया तथा कितनों को तलवार के घाट उतार दिया गया, उस समय दूसरे आचार्य अपने ही राग द्वेष में फँसे दिखाई देते हैं। भगवत्पाद आचार्य श्री श्रीचन्द्र जी महाराज उदासीन साधु-सन्तों को तथा अपने शिष्यों को आदेश देते हैं कि जाओ महात्माओं, नगरों में रहने वाले धनी लोगों को समझाओ गाँवों की अबोध जनता का उद्धार करो, उन्हें अपने धर्म पर डटे रहने का ढाँढ़स बँधाओ तथा तुम लोग सदा सर्वदा भगवान के नाम का स्मरण करते रहो—"चेतहु नगरी तारहु गाम—अलख पुरुष का सुमिरहु नाम।" यह आदेश देने के बाद स्वयं भगवत्पाद आचार्य जी महाराज जहाँ-जहाँ विधर्मियों के नृशंस अत्याचारों की अग्नि ज्वाला धधक रही थी वहाँ-वहाँ पहुँच जाते हैं, अपने योगबल से उन क्रूर शासकों को समझाते हैं तथा उन्हें मानवता का मार्ग दिखाते हैं। आज भी इस बात के प्रमाण स्वरूप काश्मीर (श्रीनगर) में 'श्री चन्द्र चुनार' कराची के समीप 'नगर ठटठा' पेशावर में 'श्री चन्द्र जी की धर्मशाला' काबुल में 'श्री चन्द्र जी का छप्पर' सीमा प्रान्त में 'थानदास का कोट' आदि स्थान विद्यमान हैं।

आगे चलकर इस सम्प्रदाय में दो ऐसे धार्मिक नेता महापुरुष हुए हैं, उनमें से निर्वाणदेव बाबा प्रियतम दास जी महाराज ने 'उदासीन पंचायती बड़ा अखाड़ा' तथा निर्वाण देव बाबा संतोषदास जी महाराज ने "उदासीन पंचायती नया अखाड़ा" नामक अपनी विशाल धार्मिक संस्थाओं की संस्थापना की। उनका सुचारु रूप से संचालन करने के लिये उनमें चार विभाग बनाए—पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर। कितना अच्छा होता यदि भारत सरकार भी इसी आदर्श के आधार पर देश के चार विभाग बना लेती। जिससे भाषा के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रान्त बनाने का विचार आपस के प्यार में बाधक न हो पाता।

देश के शान्त वातावरण में इस सम्प्रदाय में बड़े-बड़े विद्वान, ग्रन्थ लेखक उदारात्मा महात्मा, त्यागी-तपस्वी तथा बडे-बड़े धर्म प्रचारक हुए हैं, जिनका अनुभव पूर्ण वर्णन काशी नरेश महाराजा ईश्वरी नारायणसिंह के उपदेष्टा काष्ठ जिह्व स्वामी (देवतीर्थ) जी ने अपने 'उदासीन-साधु-स्तोत्रम्" में किया।

काली कमली वाले बाबा विशुद्धानन्द जी महाराज (ऋषिकेश) तथा उनके शिष्य स्वर्गाश्रम के संस्थापक बाबा आत्मप्रकाश जी, श्री हरिहर बाबाजी (दिल्ली वाले) श्री लाल बाबाजी (कलकत्ता वाले) श्री बाबा शारदा रामजी (पूना वाले) श्री अवधूत चेतन देवजी (कनखल) स्वामी केशवानन्दजी महाराज (कनखल) स्वामी बालरामजी (हरिद्वार) स्वामी हरिप्रकाशजी वैदिक मुनि, महन्त हरिनाम दास जी (साधुवेला) महन्त हरिनामदासजी (श्रीनगर) महन्त लक्ष्मणदास जी (देहरादून) इसी सम्प्रदाय की विभूतियाँ हैं।

राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में इस सम्प्रदाय का प्रथम पंक्ति का योगदान है। श्री स्वामी विष्णुदास जी के शिष्य श्री गिरिधर कविराय तथा संत गंगादास जी आदि खड़ी बोली में सफलता पूर्वक कविता करने वाले अनेक कवि हुए हैं। अब तक उन पर भिन्न-भिन्न विषयों पर सात शोध ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। उदासीन महात्मा श्री संत रेणजी, कार्ष्णी गोपाल दासजी तथा निगमानन्द परमहंस पर भी शोध ग्रंथ लिखे जा चुके हैं।

श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्द जी महाराज

बीच में सनातन धर्म और आर्य समाज के शास्त्रार्थ का एक युग आया था (अब वह चला गया)। उसमें वेद दर्शनाचार्य श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्द जी महाराज ने बहुत ही ख्याति अर्जित की। उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति, सुरीली और ऊँची आवाज श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर लेती थी। जब वे अमुक वेद, अमुक मण्डल, अमुक मन्त्र, अमुक संख्या का निर्देश करते थे तब तो सब लोगों को दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती थी।

इस सम्प्रदाय के "उदासीन" नाम को जितना आपने चमकाया है उतना किसी दूसरे विद्वान ने नहीं चमकाया। आपका दृष्टिकोण सदैव सामाजिक एवं व्यापक रहा। यही कारण है कि आज उदासीन समाज में जो-जो चमकते सितारे हैं वे सबके सब आपकी मण्डली में विद्याध्ययन कर चुके हैं। वे सम्प्रति चाहे अध्यापक हों, चाहें प्रवक्ता हों, चाहे महन्त हो, चाहे लेखक हो।

श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज

उन सब चमकते सितारों में से वेद दर्शनाचार्य जी के दीक्षित एवं पट्ट शिष्य दर्शनरत्न, वेदालङ्कार श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज सुधाकर निकले। जिन्होंने अपने पूज्य गुरुदेव जी के अध्यापन प्रवचन आदि का समस्त कार्य भार अपने दृढ़ कन्धों पर उठा लिया। वेद दर्शनाचार्य जी यह देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज इतने कुशल कार्यकर्ता सिद्ध हुए कि उन्होंने वेद दर्शनाचार्य जी के आदेश निर्देश से वृन्दावन में 'श्रौतमुनि-निवास' अहमदाबाद में 'वेद मन्दिर' हरिद्वार में 'रामधाम' देहली में 'गङ्गेश्वरधाम' आदि धार्मिक स्थानों की स्थापना कर डाली। एक ओर राजा-रानियाँ, सेठ-साहूकार आदि श्री वेदालङ्कार जी

का सेवकत्व स्वीकार करके अपने आपको धन्य समझने लगे। दूसरी ओर उन्होंने अपना सन्त शिष्य मण्डल तैयार किया। जिसमें कोई नव्य न्यायाचार्य, कोई व्याकरणाचार्य, कोई वेदान्ताचार्य, कोई आयुर्वेदाचार्य, और कोई संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी की एम. ए. आदि परीक्षाएँ उत्तीर्ण की, किसी भी मण्डलेश्वर के इतने पढ़े लिखे सुयोग्य सन्त शिष्य सुनने में नहीं आए और न ही राजा-महाराजा आदि गृहस्थ शिष्य सेवकों की किसी की इतनी संख्या सुनी है।

अब वे वेदालङ्कार जी प्रतिष्ठित प्रवक्ता विद्वान के साथ-साथ कठिन से कठिन समस्या सुलझाने वाले धर्माधिकारी भी वन गये।

'उदासीन पञ्चायती बड़ा अखाड़ा' ही नहीं, किन्तु इतर सम्प्रदायों के लोग भी आकर अपनी समस्यायें उनसे सुलझाने लगे। 'अखिल भारतीय उदासीन परिषद्' के तो वे बहिश्चर प्राण ही थे। उनकी लोक संग्रह करने की शक्ति अत्यन्त स्तवनीय थी जिससे भिन्न-भिन्न विचारों के लोग भी उनकी बात मानने के लिये बाध्य हो जाया करते थे। यही कारण है कि बम्बई के 'पञ्चदेव महायाग' के विशाल मञ्च पर सब सम्प्रदायों के आचार्यो, मण्डलेश्वरों, महामण्डलेश्वरों को प्रतिष्ठित करने का उन्हें अनन्यगामी गौरव मिला। उनकी इन विशेषताओं को देखकर ही समस्त साधु सन्तों ने उन्हें "भारत-साधु-समाज" का उपाध्यक्ष निर्वाचित किया था। वे एक बहुमुखी धार्मिक प्रवृत्तियों वाले सफल नेता थे।

उनके शिष्यों में से एक प्रमुख शिष्य स्वामी सर्वज्ञमुनि जी एम. ए. हैं जो गम्भीर एवं कुशल कार्यकर्ता के साथ-साथ साहित्यिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन कराया है। जिनमें सबसे स्थूल कार्य—'यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद का सरल हिन्दी भाष्य है।

दर्शनरत्न वेदालङ्कार श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज के असमय में ही ब्रह्मलीन हो जाने पर वेददर्शनाचार्य जी ने पुनः अपने वेद भगवान को देश देशान्तरों में प्रतिष्ठापित करने का बीड़ा उठा लिया है। इन दोनों दिवाकर सुधाकर गुरु-शिष्यों के प्रकाश को अलग-अलग करके देख पाना सम्भव नहीं है कारण कि यदि एक ज्ञान का मस्तिष्क है तो दूसरा द्रव्यदर्शी आँख, यदि एक सूर्य हैं तो दूसरा चाँद यदि सूर्य जीवन शक्ति देता है तो चाँद जीवन सुधा, यदि सूर्य जीवन में प्राण डालता है तो चन्द्रमा उसमें रस। इसीलिये सब सम्प्रदायों के सन्त-महात्माओं ने बम्बई के 'पञ्चदेव महायाग' के अभूतपूर्व अवसर पर ठीक ही कहा था।

उदासीन महाकाशे दिवाकर-सुधाकरौ।
श्री मद् गङ्गेश्वरानन्द-सर्वानन्दमहोदयौ ॥

दर्शन रत्नवेदालंकार श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज "यथा नाम तथा गुण" की उक्ति को चरितार्थ करने वाले महापुरुष थे। ज्ञानी और साधारण प्राणी, धनी और निर्धन, राजा और प्रजा, गृहस्थ और त्यागी, बाल और बृद्ध, माई और भाई, हिन्दु और गैर हिन्दु, छात्र और अध्यापक सभी वर्ग उनकी सन्निधि के इच्छुक थे।

जैसे वे शरीर से सुन्दर थे वैसे ही मधुरवाणी और करुणा पूर्ण मन के धनी थे। आप दर्शनों के व्याख्याता, धर्मोपदेशक, कर्मयोगी, भगवद्भक्त, समन्वयवादी, सत्यनिष्ट-वैदिक धर्म के पोषक, मानवता के पुजारी–साधु समाज संगठनकर्त्ता, उदासीन सम्प्रदाय के अग्र गण्य नेता, संस्कृत और राष्ट्र भाषा के प्रचारक, राष्ट्रहित चिन्तक सर्वतो मुखी प्रज्ञा वाले सन्त थे। ऐसे महापुरुष की पुण्य स्मृति में यह ग्रंथ प्रकाशित और उनके यश शरीर के प्रति समर्पित कर मैं अपने इस प्रयास को सफल समझता हूँ।

भगवद्दत्त

मेरे प्रेरणा-स्त्रोत—सर्वप्रथम मैं समग्र संसार के प्रेरणा–स्त्रोत सर्वनियन्ता परमपिता परमात्मा की वन्दना करता हूँ जो कि अनन्तकाल से मुझे प्रेरित करते रहे हैं और–करते रहेंगे। तदनन्तर इस जन्म के माता-पिता उत्तर-प्रदेशीय मेरठ जिला-न्तर्गत-नेक ग्राम-वासी पिता स्व० हकीम रिसालसिंह तथा जननी स्व० भूरो देवी को श्रद्धावनत हो प्रणाम करता हूँ जिन्होंने अत्यन्त विपन्नावस्था में भी मुझे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में वेदाध्ययनार्थ प्रविष्ट किया। पितृ-देवो भव और मातृ देवो भव की भावना से भावित हुआ उन स्वर्गस्थ माता-पिता के तृप्त्यर्थ पित्र्यन्न रूप में मेरे वेद सम्बन्धी चिन्तन-मनन सदा समर्पित रहे हैं। गुरुकुल-काँगड़ी विश्व-विद्यालय के संस्थापक स्वा० श्रद्धानन्द, गुरुकुल माता तथा आचार्य रामदेव स्वामी अभयदेव, वेदोपाध्याय प्रो० विश्वनाथ जी, पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार तथा पं० हरिशरण जी आदि समस्त गुरुजनों का मैं चिरऋणी हूँ जिनके स्नेहसिक्त उपदेशा-मृत व अध्यापन से मेरे ज्ञान-चक्षु खुले। मेरे वेद सम्बन्धी चिन्तन मनन में जो कुछ सत्यांश है वह उन्हीं की देन है। तत्पश्चात् श्री पं० रामचन्द्र जी की पुत्री तथा पं० बुद्धदेव विद्यालंकार की भगिनी मेरी प्रिया धर्म-पत्नी श्रीमती शान्ति देवी का मैं किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ यह समझ नहीं आता। क्योंकि यह आभार-प्रदर्शन अपने लिए ही होगा। आर्थिक अभावों कष्टों तथा व्याधि आदि नानाविध विपत्तियों में भी गृहस्थी को सुचारु रूप से चलाते हुए छाया के समान मेरी अनुगामिनी बन वेदानुसन्धान के कार्य में मुझे सतत प्रेरणा देती रहीं।

दो शब्द

मैंने जब-जब भी वेदों की गहराईयों में उतरने का प्रयत्न किया तब-तब अनेक जाज्वल्यमान चमकते रत्न हस्तगत हुए। जब भी वैदिक सिद्धान्तों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया तब ही उनकी सार्वभौमता, व्यापकता और सर्वज्ञ की देन और अधिक स्पष्ट होती गई। इसकी पुष्टि के लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। वेद कहता है कि 'माता भूमिः, पुत्रोऽहं पृथिव्याः 'अथर्व' १२।१।१२ 'यह भूमि मेरी माता है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।' माता तो यह भूमि हो गई तो पिता कौन है? इसका भी समाधान वेद से हो जाता है। मन्त्र में आता है "द्यौ में पिता

जनिता नाभिरत्र बन्धु में माता पृथिवी महीयम् । ऋ. १।२२।३३ । अर्थात् द्युलोक मेरा पिता व जनक है यह अन्तरिक्ष नाभि स्थानीय बन्धन का हेतु मेरा बन्धु है तथा यह महान् पृथ्वी मेरी माता है । वेद यह नहीं बताता कि भारत मेरी माता है, इंगलैण्ड मेरी माता है, अमेरिका व रूस मेरी माता है । इस प्रकार कितना विशाल व्यापक व उदात्त दृष्टिकोण वेदों का है । खण्ड-खण्ड करके देखना परिधि व सीमा में अपने को बाँधना यह वेद की दृष्टि में दैत्यभाव हैं और मैं, मेरा इन अहंकार गर्भित परिधियों व सीमाओं में बाँध कर व्यवहार करना दैत्यों की अधीनता स्वीकार करना है । इसके विपरीत समग्र रूप में तथा सर्व प्राणि-जगत् को आत्म रूप में देखना देव भाव है । कहा भी है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व भूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ईश. उ. ६ ।

देव समग्र रूप में देखते हैं तो दैत्य खण्ड रूप में । कथानक प्रिय ऋषियों ने इसी तथ्य को कथानक के द्वारा इस प्रकार दर्शाया है कि कश्यप की दो पत्नियाँ थीं, एक दिति (दो अवखण्डने अर्थात् खण्ड-खण्ड रूप में देखने वाली) और दूसरी अदिति = (न + दिति) । दिति से दैत्य उत्पन्न हुए और अदिति से आदित्य अर्थात् देव । इस प्रकार यदि हम मनुष्य समाज पर दृष्टिपात करें तो हमें दो प्रकार के मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं, एक दैत्य प्रभाव वाले जो कि मनुष्य समाज को हिन्दू, मुस्लिम, क्रिश्चियन और बौद्ध, नास्तिकादि और फिर हिन्दुओं में आर्यसमाजी, सनातनी तथा शैव, वैष्णव शाक्त, सिक्ख और जैन आदि अनेक खण्डों व उपखण्डों में विभक्त हुए ही देखते हैं और खण्ड खण्डभाव में ही सदा सोचते हैं । इस प्रकार ये दैत्यभाव से अभिभूत रहते हैं दूसरे अदिति के पुत्र देव तुल्य है जो मानव मात्र को समग्र रूप में लेते हैं । ये संख्या में अल्पाल्प है । कोई कह सकता है कि देश भेद रुचिभेद, शक्ति व योग्यता की न्यूनाधिकता के कारण मनुष्यों में भेद तो रहेगा ही फिर उस भेद दृष्टि को दैत्यदृष्टि क्यों कहा जाये ? इसका उत्तर यही है कि वह उथला भेद है स्थूलता से सम्बन्ध रखता है । सूक्ष्मता में भेद नहीं है यह स्थूल भेद यदि द्वेष बुद्धि को उत्पन्न करता है तो यह हेय है । इस स्थूल भेद को एक परिवार-गत भेद समझना चाहिये । जैसा मन्त्र में कहा है, "जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्" अथर्व १२।७।४५ ।

अर्थात् यह पृथिवी माता बहुत प्रकार की विविध वाणी बोलने वाले नाना धर्मों वाले जन समुदाय को एक घर के सदृश धारण करती है । अर्थात् मन्त्र में यह दर्शाया है कि जिस प्रकार परिवार में रुचि, योग्यता व शक्ति में भिन्न-भिन्न होते हुए भी प्रेम से रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य समाज को इस पृथिवी पर पारिवारिक भावना से रहना चाहिये । यहां आधार में एकता है । इस एकता में अनेकता है । अतः वेद के उपर्युक्त उद्धरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि वेद समग्र मानव जाति का है चाहे वह हिन्दु हो क्रिश्चियन हो, मुसलमान हो, बौद्ध व अन्य कोई धर्माब-

लम्बी हों हमारा तो यह कहना है कि अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय के रीति रिवाजों को मानते हुए भी वेद की शिक्षाओं से लाभ उठाया जा सकता है और अपने रीति-रिवाजों में यथोचित परिवर्तन तथा तदनुसार जीवन यापन किया जा सकता है। क्योंकि ये वेद संकुचित व एकांगी न होकर आध्यात्मिक व वैज्ञानिक ग्रन्थ है।

प्राचीन काल से भारतवर्ष को माता कहने का एक ही प्रयोजन था वह यह कि मनुष्यों में आर्यत्व को उत्पन्न कर भूमण्डल में सर्वत्र उसका प्रचार करना। असुरों दस्युओं चोर तथा लुटेरों को विनष्ट करना। इसी दृष्टि से "कृण्वन्तोविश्वमार्यम्" का यह उद्घोष किया जाता था।

इस सविता देवता का संक्षिप्त विवेचन हमने सन् १९५३ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से प्रकाशित "आत्म समर्पण" नामक पुस्तक में किया था, उसी के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक में वेदों व ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर सविता के स्वरूप व उसके कार्यों पर प्रकाश डाला गया है। सविता का प्रमुख कार्य अग्नि, इन्द्र मित्र, वरुण रुद्रादि देवों तथा अन्य सब प्राणियों को अपने-अपने कार्यों के प्रति प्रेरणा देने का है। इसी दृष्टि से शास्त्रों में अनेक बार यह वाक्य आता है कि "सविता वै देवानां प्रसविता" अर्थात् सविता देवों तथा प्राकृतिक इन्द्रादि शक्तियों को प्रेरणा देने वाला है।

संस्कृत भाषा में सविता सूर्य का वाचक माना जाता है पर वैदिक वाक्यों के विश्लेषण व विवेचन से हम यह कह सकते हैं कि सविता सूर्य नहीं है सूर्य में रहने वाला वह पुरुष है जो कि ईशोपनिषद् में निम्न मन्त्र पद से कहा गया है, "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" अर्थात् आदित्य में जो पुरुष है वह सविता है। सूर्य तो उस सविता का रथ है। समग्र संसार की उत्पत्ति, स्थिति आदि में वह सविता ही प्रमुख कारण है। प्राणि-जगत् के सब कार्य इसी की प्रेरणा पर निर्भर हैं। इसके व्रतों को कोई तोड़ नहीं सकता। ऋ. २।३८।९। मनुष्य में योग की प्रवृत्ति इसी की कृपा पर निर्भर है। सावित्र-होम सम्बन्धी मन्त्रों में योग का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। गायत्री मन्त्र को वेदों की माता माना जाता है। वैदिक वाङ्मय में गायत्री जप की महान् महिमा गायी गई है। भौतिक सुख समृद्धि के अतिरिक्त मुक्ति-लाभ तक इसके जप का फल है। ऐसे महिमामय गायत्री मन्त्र का देवता सविता है इस दृष्टि से भी सविता देवता के स्वरूप व उसके कार्यों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। पिण्ड में सवितृ-शक्ति हमारे मस्तिष्क में रहती है। जिसका संचार शरीर में आज्ञावाहक नाड़ियां (Motor nerves) द्वारा होता है। सविता का लोक ऊर्ध्वतम स्थान में माना गया है। वहीं से ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड के जिस-जिस अंग में पहुँचती है उन्हें भी सविता कह दिया गया है। ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा भी उस समय सविता हो जाता है जब कि वह प्रेरणा आदि का कार्य करता है। इसी भांति मन भी सविता है, प्राण भी सविता हो जाता है। इस विषय को तालिका द्वारा हमने पुस्तक में दर्शाया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड के माध्यम से सविता देवता के स्वरूप व उसके कार्यों का विवेचन हुआ है। परन्तु हमारी सदा यह मान्यता रही है कि जो यज्ञ

यागादि बाह्य ब्रह्माण्ड में चालू हैं वे उसी रूप में पिण्ड में भी चलते हैं उन्हीं की अनुकृति कर्मकाण्ड में की जाती है। क्योंकि हमारा दृष्टिकोण सदा से अध्यात्म परक रहा है। इस लिये हमने प्रमुख रूप में शतपथ ब्राह्मण का आश्रय ले तदन्तर्गत सविता सम्बन्धी प्रकरणों का आध्यात्मिक क्षेत्र में स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञ याग तथा छोटे से छोटे विधि विधान के भी स्पष्टीकरण के लिये विस्तार से बहुत कुछ लिखा जाये तभी वह हृदयङ्गम हो सकता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो हमने ब्राह्मणग्रन्थ के प्रकरणों का दिशानिर्देश व संकेत मात्र किया है।

अन्त में हमने सूर्य पर भी कुछ संक्षिप्त सी टिप्पणी देदी है। क्योंकि सवितृ-शक्ति का प्रमुख भंडार सूर्य ही है अतः विद्वान लोग सविता व सूर्य में विशेष भेद नहीं करते हैं पर सूर्य पर विस्तार से तो अन्यत्र है लिखा जाना उपयुक्त होता।

आभार

वर्षों पुरानी बात है। जब 'श्री गुरु गंगेश्वरधाम' में श्री स्वामी सर्वज्ञ मुनि जी महाराज एम. ए. वहाँ के व्यवस्थापक थे। तब वहाँ दोनों समय प्रतिदिन सवेरे उपनिषदों पर तथा सायं भगवद्-गीता पर प्रेरक प्रवचन हुआ करते थे। ऐसा कोई भी उदासीन-समाज का विद्वान वक्ता नहीं जो वहाँ प्रवचन करने के लिये न पधारा हो। उन दिनों की जन्माष्टमी की शोभा यात्रा तो आज भी आँखों में तैर रही है, जिसमें असंख्य पुरुषों के अतिरिक्त हाथी आदि वाहन भी उसमें सम्मिलित होकर अपनी पशुता को पावन बना रहे थे। वह जन्माष्टमी तो भूल जाने की वस्तु ही नहीं। जो राष्ट्र भाषा-पतंजलि, श्री स्वामी निगमानन्दजी परमहंस की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई थी जिसमें मुख्य अतिथि गृहमंत्री श्री गुलजारी लालजी नंदा थे। मंडली सहित सरदार सुजानसिंह जी का वह संकीर्तन जिसमें भगवान विदुरानी जी से कुछ खाने को माँग रहे हैं—आज भी वर्तमान की घटना प्रतीत हो रही है। उसी समय एक प्राध्यापक ने अपने भाषण में ठीक ही कहा था कि 'बिडला मन्दिर' गंङ्गेश्व धाम से बड़ा हो सकता है। परन्तु दोनों समय जो शास्त्रीय विचार एवं संस्कार यहाँ दिये जा रहे हैं वे राजधानी (देहली) भर में अन्यत्र कहीं नहीं दिये जाते।

एक बार मुझे कनखल (अवधूत चेतन देव की कुटिया) में भी जाने का सुअवसर मिला। उन दिनों श्री स्वामी सर्वज्ञ मुनिजी वहाँ व्यवस्थापक थे। उदासीन समाज के विविध विषयों एवं विविध विचारों के विद्वान वहाँ देखने को मिले। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वामी ब्रह्मानन्दजी, परम सन्त कृपालसिंह जी परम भागवत पंडित रास बिहारी जी श्री गुलजारी लाल नन्दा जी, श्री सुशील कुमार जी जैन आदि प्रख्यात लोग भी सर्वज्ञजी के यहाँ पधारते रहे हैं।

मैं श्री गुरू गङ्गेश्वरधाम (दिल्ली में :**सविता देवता**' नामक अपनी प्रिय एवं प्रमुख कृति श्री सर्वज्ञ जी महाराज के पास लेकर गया और मैंने कहा कि—'मैं अपनी यह कृति किसी विशिष्ट सुकृति को समर्पित करना चाहता हूँ।' उन्होंने मुझे 'सद्गुरु

स्वामी सर्वानन्द' नामक स्मृति ग्रंथ दे दिया। मैंने उसे देखा और पाया कि श्री स्वामी सर्वानन्द जी जैसे और भी, विद्वान् हो सकते हैं ओर हैं भी वैसे वक्ता भी दूसरे हो सकते हैं और हैं भी, वैसे लोक-संग्रही भी अनेक हो सकते हैं और हैं भी। परन्तु एक ही व्यक्ति' में एक साथ इतने सद्गुणों का समवाय मिलना अत्यन्त आश्चर्य की बात है। मैंने श्री सर्वज्ञ जी महाराज से अपनी अभिलाषा व्यक्त की कि 'मैं श्री स्वामी सर्वानन्द जी महाराज को यह कृति समर्पित करना चाहता हूँ। उन्होंने इसके प्रकाशन व्यय का भार सहर्ष स्वीकार कर लिया। मैं उनके इस कृपा भरे उदार म्यवहार का सदा आभागी रहूँगा।

इस पुस्तक की 'प्रेस कॉपी' तैयार करने में प्रिय बेटी श्रीमती सुधा एम० ए० तथा प्रिय पुत्री श्रीमती माधुरी पाराशर एम० ए०, बी० टी० ने सराहनीय सहयोग प्रदान किया है, इसके लिये दोनों साधुवाद एवं आशीर्वाद की पात्र हैं।

अन्त मैं 'श्री सरस्वती सदन' (मन्सूरी एवं दिल्ली) के अध्यक्ष प्रिय श्री अमिताभ को मेरा हार्दिक धन्यवाद है। जिसके प्रकाशन संस्थान की ओर से यह ग्रन्थ सुन्दर एवं आकर्षक रूप में प्रकाशित हो सका है। — **भगवद्दत्त**

सन्तति से आशा—मेरी तीन पुत्रियाँ तीन जामाता एक पुत्र और पुत्र-बधू हैं। ये सब सुपठित उच्च शिक्षा-सम्पन्न तथा आर्य संस्कृति के प्रेमी हैं। मेरी ज्येष्ठ पुत्री माधुरी एम० ए०, बी० टी० बड़ी उदार तथा अन्नपूर्णा नाम को सार्थक करती है। इनके पति मेरे जामाता डा० सत्यव्रत पाराशर एम० ए० (संस्कृत) तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्व-विद्यालय के आयुर्वेद कालेज के स्नातक हैं। मेरठ में अत्यन्त सफल चिकित्सकों में इनकी गणना होती है नेतृत्व शक्ति भी इनमें भरपूर है। मेरी द्वितीय पुत्री वन्दना रानी बड़ी सरल प्रकृति तथा सर्व गुण सम्पन्न है—इनके पति भरतराय मद्रास में अपना अच्छा व्यापार चला रहे हैं। ये कठोर परिश्रमी तथा सभी व्यसनों से दूर हैं। तीसरी सबसे छोटी पुत्री नीराजना एम०ए०, पी० एच०डी० बड़ी विदुषी, प्रतिभा सम्पन्न तथा प्रत्युत्पन्न मति हैं। 'वैदिक सोम' पर इन्होंने पी० एच० डी० किया है। मैं इनसे साग्रह आशा करता हूँ कि गृहस्थ के झंझटों में अधिक न फँसकर वेदानुसन्धान के कार्य को आगे भी चालू रक्खे। इनके पति मेरे तृतीय जामांता कौशल साहित्यक रुचि के हैं। ये कवि, कहानी लेखक तथा राजनीति आदि विषयों में अपनी लेखनी से सत्प्रेरक तथा उच्चकोटि के लेख लिखते रहते हैं। मेरा एक मात्र पुत्र डा० वेदमूर्ति B. Sc. B. A. M. S. गुरुकुल काँगड़ी में स्थापित आयुर्वेद कॉलेज का स्नातक हैं। यह भी सफल चिकित्सक तथा एलोपैथी और आयुर्वेद दोनों विषयों का गम्भीर व प्रौढ़ पाण्डित्य रखता है। मैं इन सबसे यह आशा करता हूँ कि मेरे दिवंगत होने पर भी इन परिवारों से वेद का उच्छेद न होवे मेरी आन्तरिक इच्छा तो यह थी कि इनके परिवारों में वेद के ऋषि पैदा हों यदि यह न हो सके तो वेद के प्रचार-प्रसार में तन मन धन से ये अवश्य सहायता करते रहें।

प्रथम अध्याय

सविता देवता का स्वरूप

[समग्र संसार को अपने-अपने कार्यों में प्रेरणा देने वाला]

वैदिक देवताओं में सविता का स्थान सर्वोत्तम है ? सविता भगवान का वह रूप है जो कि सबका प्रेरक नियामक तथा स्थावर व जंगम समग्र जगत् को उत्पन्न कर सबके गुण, धर्मों, शक्तियों व ऐश्वर्यों का विभाग करने वाला है। यह व्रतों का व्रतपति है। जो व्रत व कर्म उसने जिसके नियत कर दिये वे उसे पालन करने पड़ते हैं। कोई भी उसके व्रतों को भंङ्ग नहीं कर सकता। भगवान् के इन्द्र, मित्र, वरुण, बृहस्पति, सूर्य आदि जितने भी रूप हैं सब इसी सविता से प्रेरणा व अनुमति प्राप्त करते हैं। इसी की आज्ञा का पालन उन्हें करना पड़ता है और जिस देवता व मनुष्य आदि के हिस्से में जो शक्ति व ऐश्वर्य उसने जितनी मात्रा में नियत कर दिया उतनी ही मात्रा उसे प्राप्त होती है। उस मात्रा में क्षय वृद्धि उसी की कृपा पर निर्भर है।

निरुक्त में सविता की व्युत्पत्ति निम्न प्रकार की है:—**'सविता सर्वस्य प्रसविता'** निरु, १०/३१ अर्थात् वह सविता सबका प्रेरक व प्रसवकर्ता है। निम्न धातुओं से इसकी निष्पत्ति की जा सकती है। **षू प्रेरणे (तु दादि०) तृच् प्रत्यय। षू प्रसवैश्वर्ययोः, षूङ् प्राणि गर्भ विमोचने (अदादि०) षुञ् अभिषवे (स्वादि०)।**

वेद में सविता के अनेकों कार्य बताये गये हैं जिनके आधार पर सविता के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है सविता के स्वरूप व उसके कार्य के निर्धारण में निम्न मन्त्र पद विशेष महत्व रखता है वह है—**"देवस्य सवितुः प्रसवेऽश्विनों र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे"** सविता देव की प्रेरणा व अनुमति होने पर अश्वियों की बाहुओं से तथा पूषा के हाथों द्वारा मैं इसको पकड़ता हूँ।

यह मन्त्र समग्र कार्यों की सुसम्पन्नता के लिये सविता की प्रेरणा व अनुमति अश्वियों की बाहु तथा पूषा की पकड़ इस त्रिगुट को अनिवार्य रूप से दर्शा रहा है। इस त्रिगुट की क्रमिक अभिव्यक्ति किसी भी क्षेत्र में हो सकती है।

अब हम सविता देव के विविध कार्यों के आधार पर उसके स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

प्रेरक सविता—

वेद में सविता देव के अनेकों कार्य बताये गये हैं। उन सब में एक कार्य प्रमुख है और वह है प्रेरणा का। सविता के प्रेरक रूप में सबसे प्रबल प्रमाण गायत्री मन्त्र की 'प्रचोदयात्' क्रिया है। प्रसव के जो उत्पत्ति, प्राणीगर्भ विमोचन, सवन व अभिषव आदि अर्थ धातुओं के आधार पर किये जाते हैं, वे सब प्रेरणा के ही परिणाम

हैं। अथवा उसके ही फैलाव हैं। सविता भगवान् की प्रेरणा पाकर ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ अपने-अपने कार्यों में जुट जाती हैं।

संसार की समग्र प्रेरणाओं का, वे चाहें किसी भी माध्यम से हो वह सविता ही स्वामी होता है। कहा भी है **'उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत्'** ऋ० ५/८१/५. अर्थात् हे सविता देव! तुम अकेले ही प्रेरणा के ईश हो, स्वामी हो। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि प्र+सव प्रकृष्ट प्रेरणा ही उस सविता भगवान् की होती है, दुष्ट व कुमार्ग गामिनी प्रेरणा सविता की नहीं होती, इस दृष्टि से 'सव' के पूर्व में 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग किया है। सविता की यह प्रेरणा निरन्तर रहती है। **'सवाय शश्वत्तमं उदस्थात्'** ऋ० २/३८/१ अर्थात् वह सविता देव प्रेरणा देने के लिये सदा ऊर्ध्व में स्थित रहता है। प्रेरणा के लिये उसके हाथ दूर-दूर तक फैले हुये हैं। संसार में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ कि उसके हाथ पहुँच कर प्रेरणा न देते हों। निम्न मन्त्रों में **"प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि"** ऋ० ४/५३/३ उसकी प्रेरणा मनुष्य को निष्पाप बनाती है। **'त्वं नो अत्र सुवतादनागसः'** ऋ० ४/५४/३ हे सविता देव! तुम हमें अनागस अर्थात् निष्पाप बनने के लिये प्रेरित करो। ऋ० ४/५४/५ में आता है कि यह इन्द्र अर्थात् दिव्य मन आन्तरिक देवों में ज्येष्ठ व श्रेष्ठ है। जब ये देव 'पस्त्यावान्' घर वाले बनते हैं। अर्थात् अपने-अपने निवास स्थानों को सुशोभित करते हैं तब सविता देव इन्हें 'बृहत् के पर्वतों' पर आरोहण के लिये तथा वहाँ निवास (क्षय) करने के लिये प्रेरित करता है। और ज्यों-ज्यों गति करते हुये ये अपने को विशेष नियन्त्रण व नियम में रखते जाते हैं त्यों-त्यों सविता की अनुज्ञा व प्रेरणा इन्हें मिलती जाती है। व्यक्ति को शुद्ध पवित्र वायु तथा सूर्य रश्मियों का साधु सम्पर्क उस सर्व प्रेरक सविता भगवान् की कृपा पर ही निर्भर है। कहा भी है—**'सवितुर्वः, प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। यजुः** १/१२ (अच्छिद्र पवित्र=वायु)।

यजुः ४/२५ में आता है कि साधु-संकल्प तथा ज्योति रूप वह सविता देव सर्वसमर्थ है। उस सविता देव की स्वीकृति होने पर ही हे सोम! तुझे मैं प्रजाओं के लिये अर्थात् सन्तति के लिये बाँधता हूँ। प्रजा और तुम परस्पर एक दूसरे को अनु प्राणित करो।

एक स्थल पर आता है **'देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञं पतिं भगाय'** यजुः ६/१ हे सविता देव! तू यज्ञ तथा यज्ञपति दोनों को भग (ऐश्वर्य) की प्राप्ति के लिये प्रेरित कर।

यहाँ 'यज्ञ' शरीर यज्ञ है। बाह्य यज्ञ का भी ग्रहण किया जा सकता है। यह सविता 'पवित्रेण सवेन' यजुः १६/४३ पवित्र वायु तथा सव-प्रेरणा इन दोनों साधनों से भक्त को पवित्र किया करता है। इस सविता की प्रेरणा (देव वीति)= देवत्व की प्राप्ति के लिये होती है। यह प्रेरणा विश्वदेवों से सम्बन्ध रखती है। कहा है। **'आसवं देववीतये आसवं विश्वदेव्यम्** यजु: २२/१३,१४। योग मार्ग में

युक्त-मन बनने के लिये तथा ऊर्ध्व में गति करने के लिये सविता देव की ही प्रेरणा होती है। उसकी प्रेरणा होने पर ही मनुष्य योगी बन सकता है यह योग का विषय यजु : ११/१-६ मन्त्रों में विशद रूप से पल्लवित हुआ है।

सविता की प्रेरणा के सम्बन्ध में हमें इस तथ्य को सदा हृदयंगम रखना चाहिये कि जिस क्षण उस सविता की प्रेरणा तथा उसकी अनुमति हो जाती है, वह सदा सत्य होती है, उसे कोई झुठला नहीं सकता, उसे कोई भी शत्रु अवरुद्ध नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से सविता के लिये अनेकों मन्त्रों में 'सत्य सवम्' यजु: ४/४५ 'सविता···सत्य प्रसव: यजु: १०/२८ 'सत्यराधसम्' यजु: २३/११ आदि विशेषण दिये गये हैं।

प्रसव उत्पत्ति—

लौकिक व्यवहार में प्रसव और उत्पत्ति को एक ही समझा जाता है। परन्तु वेद की दृष्टि से इसमें अन्तर है। प्रसव का सम्बन्ध सविता से है और उत्पत्ति का सम्बन्ध अग्नि से है। उत्पत्ति का अर्थ है ऊपर को गति होना उद्+पत्=आरोहण =रोहण=रोहित। यह आरोहण अग्नि का धर्म है। पृथिवी में बीज डालने के कुछ समय पश्चात् अंकुर रूप में उत्+पत् अर्थात् ऊपर को गति प्रारम्भ हो जाती है। यह ऊपर को गति अर्थात् आरोहण करना अग्नि का धर्म है। परन्तु प्रसव में यह प्रक्रिया नहीं है। प्रसव का सम्बन्ध अग्नि से न होकर सविता से हैं। यह ठीक है कि वृक्ष वनस्पति आदि की उत्पत्ति सूर्य और पार्थिव अग्नि के मेल का परिणाम है। इसी प्रकार शरीरधारी अन्य प्राणियों की उत्पत्ति नर मादा के संयोग से है। नर और मादा का साम्य द्यौ और पृथिवी से माना जाता है—द्यौरहं पृथिवी त्वं० मन्त्र पद इसी तथ्य की ओर इंगित करते हैं। यह सब प्रजनन प्रक्रिया सविता और अग्नि के मेल का परिणाम है पर प्रसव शुद्ध रूप में सविता से सम्बन्ध रखता है। प्रसव का मुख्य भाव निचुड़ने तथा ऊर्ध्व से नीचे की ओर आने में है। मनुष्य के शरीर में व्यापक बीर्य प्रसूत होकर शिश्न में पहुँचता है और वहाँ से प्रसूत होकर स्त्री गर्भ में, यह प्रसव है। इस अवस्था में प्रसव की प्रक्रिया समाप्त हो गयी। प्रसवोंन्मुखी स्त्री के लिये जो प्रसव शब्द का प्रयोग रूढ़ि हो गया है, वह भी शिशु के मातृगर्भ से नीचे पृथिवी पर आने की प्रक्रिया व सादृश्य के कारण है। इसी प्रकार हमारे शरीर में मस्तिष्क से नीचे के अङ्गों को जो आदेश पहुँचते हैं वे सविता के प्रसव हैं। इस प्रकार ऊपर से नीचे को आना सविता के अधीन है। और नीचे से ऊपर को जाना अग्नि का धर्म है इसे तालिका में इस प्रकार रखा जा सकता है।

सविता	अग्नि
प्रसव	उत्पत्ति
अवरोहण	आरोहण
सूर्य	अग्नि
द्यौ	पृथिवी

पुरुष	स्त्री
वीर्य	रज
आज्ञा वाहक (motor nerves) नाड़ियां	ज्ञान वाहक (sensory nerves) नाड़ियां ।

प्रसव में आज्ञा तथा आदेश की सत्ता

प्रसव के प्रेरणा अर्थ में आज्ञा देना अर्थात् आदेश देना यह अर्थ भी समाविष्ट होता है। कार्य के लिये अनुमति व स्वीकृति भी यहाँ विद्यमान होती है। उसकी प्रेरणा व आज्ञा सबको अवश्य पालन करनी पड़ती है वह सत्य है अर्थात् पूरी होकर ही रहती है। इसलिये सविता देव को 'सत्यसवं सवितारं' ऋ० ५/८२/८ कहा गया है। इसका भाव यह है कि उस सविता देव का सव = प्रसव = प्रेरणा = आज्ञा सत्य ही होती है। जब किसी कार्य के लिये सविता देव की प्रेरणा व अनुमति नहीं मिलती तब वह कार्य पूर्ण नहीं होता। ऐसा व्यक्ति प्रारम्भ किये हुये कार्य को मध्य में ही छोड़ बैठता है। सविता देव की अनुमति मिलने पर मनुष्य के मन में उस कार्य के प्रति उमंग, उत्साह, साहस, दृढ़ संकल्प तथा आगे ही आगे बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। उसके मार्ग की सब बाधायें स्वयं विलीन हो जाती हैं। एक मन्त्र में आता है।

समववर्ति विष्ठितो जिगीषु विश्वेषां कामश्चरताममाभूत् ।
शश्वाँ अपो विकृतं हित्व्यागादनु व्रतं सवितुर्देव्यस्य ॥ ऋ० २/३८/६

अर्थात् जब सविता देव की प्रेरणा व अनुमति नहीं होती एक विजयशील योद्धा रणभूमि की ओर विशेष रूप में प्रस्थान करके भी अथवा युद्ध स्थली में मोर्चा लगाकर स्थित हुआ भी लोट पड़ता है, ऐसी अवस्था में सक्रिय, जोशीले सैनिकों की कामना घर लौटने की हो जाती है और कर्मठ व्यक्ति भी अपूर्ण कार्य =(विकृतं) को भी छोड़ बैठता है। यह सब सविता देव के नियम के अनुसार ही होता है।

अतः मनुष्य को कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व सविता देव की अनुमति लेनी चाहिये। यह अनुमति की उपलब्धि सविता देव की स्तुति व प्रार्थना से ही मिलती है। इसी दृष्टि से सविता देवता सम्बन्धी, सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र के जप का विधान सब शास्त्रों में मिलता है। गायत्री मन्त्र द्वारा जप व स्तवन करने पर सविता देव बुद्धि को तत्सम्बन्धी कार्य के सम्पादन के लिये प्रेरित करता है। इसी उपर्युक्त तथ्य को निम्न मन्त्र में भी उजागर किया गया है—

देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः ।
नमस्यन्ति धियेषिताः ॥ ऋ० ३/६२/१२

अर्थात् बुद्धि से प्रेरित विप्र लोग पापों का वर्जन करने वाले श्रेष्ठ यज्ञों व कर्मों द्वारा सविता देवता का सदा नमन किया करते हैं। इस मन्त्र से पूर्व १०वें गायत्री मन्त्र में बुद्धि की प्रेरणा की गई है। यहाँ एक आनुषंगिक प्रश्न पैदा होता है कि उस सविता देव की आज्ञा का स्वरूप क्या है ? क्या सविता की आज्ञा एक

तानाशाही, क्रूर, नृशंस व अत्याचारी शासक की आज्ञा की तुल्य होती है ? इस सम्बन्ध में वेद कहता है कि एक तो सविता देव बोलता ही बहुत कम है इसलिये वेद में उसे 'अयोहनु.' ऋ० ६/७१/४ लोहे की ठोड़ी वाला कहा है, अर्थात् ठोड़ी लोहे के समान इतनी भारी है कि वह कभी खुलती नहीं, यदि खुलती है तो बहुत कम। और जब वह बोलता है तो बहुत धीरे बोलता है। इसी कारण वेद में उसे 'मन्द्रजिह्व' ऋ० ६/७१/४ अर्थात् मन्द्र ध्वनि कहा है और जो कुछ वह बोलता है वह हितकारी और रमणीय होता है इसीलिये उसे 'हिरण्यजिह्व' ६/७१/३ और 'सुजिह्व' ऋ० ७/४५/४ भी कहा है। इसी रूप में उस सविता देव की हितकारी तथा प्यारी आज्ञायें ब्रह्माण्ड में सबको दी जाती है।

सविता देव के व्रत

यह संसार चक्र किन्हीं विशिष्ट नियमों व व्रतों में ही बंधा रात दिन घूम रहा है। इसकी नियामक देव शक्तियों के अपने नियम व व्रत हैं। वेदों में इस संसार चक्र को सृष्टि-यज्ञ नाम से कहा जाता है। इस सृष्टि-यज्ञ के व्रतों का रक्षक यह सविता देव है। यह स्वयं भी व्रतों का पालन करने वाला है और अन्यों से भी वह पालन कराता है। मन्त्र में कहा है **'व्रतानि देवः सविताभिरक्षते'** ऋ० ४/५३/४ अर्थात् वह सविता देव व्रतों की रक्षा करता है। वह इन व्रतों को टूटने नहीं देता। यह दिव्य जल भी उसी के व्रत में रहते हुये संसार का तर्पण व सिञ्चन कर रहे हैं। उसी के व्रत का पालन करती हुई यह प्राण वायु भी सदागति होकर संसार को अनुप्राणित कर रही है। कहा भी है **'आपश्चिदस्य व्रतमानिमृग्रा अयं चिद्वातो रमते परिज्मन्।'** ऋ० ३/३८/२ उसकी आज्ञा के बिना एक कण भी इधर से उधर नहीं हो सकता है। उसकी यह शक्ति है कि चलते-चलते राही को वहीं रोक दे और स्थिर बैठे को चला दे। मन्त्र में कहा है—**'नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः'** ऋ० २/३८/३ अर्थात् निरन्तर गतिमान को गति से उपरत कर दे और रण स्थली के बाँकुरे बहादुर को रण से विमुख कर दे। प्रवासी का प्रवास बन्द कर दे। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि संसार का सब व्यवहार, गति व उपरति सब उसी सविता भगवान की प्रेरणा तथा उसी के व्रत के अनुसार होती है (अनुव्रतं सवितुर्दैव्यस्य) ऋ० २/३८/६ मनुष्य अभिमान करता है कि मैं सब कुछ करता हूँ परन्तु उसे यह पता नहीं कि मनुष्य के सद्विचार व सद्इच्छा तक सब उसी की प्रेरणा से उद्बुद्ध होते हैं। ऋ० २/३८/७ में आता है कि 'हे सविता देव तूने जलों में सब प्रकार के रसादि तत्व निहित किये हैं। अन्तरिक्ष तथा मरूभूमि में भी वे जलीय तत्व स्थापित किये हैं जिनकी खोज में मनुष्य कटिबद्ध होते हैं। और पक्षियों के सञ्चार व उड़ान भरने के लिये तूने वनों का निर्माण किया है। सविता देव के इन व्रतों को कोई भी हिंसित नहीं कर सकता। रात्री में शयन के समय वरुण सब इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त कर अन्तर्मुखी करता है। (वरुण=वारयति निवारयति इन्द्रियादीनि विषयेभ्यः) और जल प्रधान हृदय प्रदेश में ला स्थापित करता है।

इसी भाँति रात्रिकाल में सब पशु पक्षी अपने-अपने धोसलों व बाड़ों में आ पहुँचते हैं। इन सब स्थानों के चुनने तथा उनके निर्माण करने की स्वाभाविक शक्ति व योग्यता पशु-पक्षियों में जन्म से ही होती है। यह सब उस सविता देव का प्रताप है।' ऋ० २/३८/८। मनुष्य के दिव्य व अदिव्य सभी क्षेत्रों की रक्षा तभी होती है जबकि शरीरस्थ आपस्तत्त्व का पतन न हो। इसमें सविता की कृपा ही कारण होती है। आपस्तत्त्व का सर्वोत्कृष्ट रूप वीर्य है। मन्त्र है—**'अपांनपातमवसे सवितारमुपस्तुहि। तस्य व्रतान्युष्मसि।** ऋ० १/२२/६ हम सविता के व्रतों को चाहते हैं। इसके लिये सविता की स्तुति करनी चाहिये, जो कि हमारी रक्षा के निमित्त आपस्तत्त्व का पालन नहीं होने देता। व्रतों का मजबूरी में पालन करना अथवा स्वेच्छा से पतन करना इन दोनों में महान् अन्तर है। वह सविता 'धृतव्रतः' ऋ० ४/५३/४ है। वह दिव्य व अदिव्य लोकों को प्रकाशित करता हुआ स्वयं भी व्रतों का पालन करता है और अन्यों से भी करवाता है। उसके नियमों का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता 'न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तत्' ऋ० ४/५४/४। पृथ्वी तथा द्युलोक में वह जो करता है वह सत्य ही होता है 'सुवति सत्यमस्यतत्' ऋ० ४/५४/४। इस प्रकार केवल मनुष्य ही नहीं जल में रहने वाले मत्स्यादि क्षुद्र जीव, जंगलों में बसने वाले हिंसक जन्तु, पेड़ पौधे तथा उन पर स्वच्छन्द विहार करने वाले पक्षी अर्थात् सभी प्राणियों का वह सविता देव व्रत नियत कर देता है। कोई भी उसके नियमों और व्रतों को तोड नहीं सकता है और तो और भगवान की अन्य सब शक्तियाँ उसी की आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने-अपने व्रतों का सदा पालन कर रही है। कहा भी है—

"न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः।
वारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः॥"

ऋ० २/३८/९

जिस सविता के व्रत को इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा तथा रुद्रादि देव कोई भी नहीं तोड़ सकता और न कोई अराती हिंसित कर सकता है। ऐसे उस सविता देव का मैं नमस्कारों से आह्वान करता हूँ। और कल्याण की याचना करता हूँ। **'यस्य प्रयाण मन्वन्य इद् ययुर्देवाः'** ऋ० ५/८१/३ जिस सविता देव के प्रयाण करने पर अन्य सब देव उसका अनुगमन करते हैं जैसे राजा के अनुचर राजा के प्रस्थान करने पर उसका अनुसरण किया करते हैं। इस प्रकार इस दृष्टि से सविता का स्थान अन्य सब देवों से सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्निद्रिता आदि व्याधियों का कारण सविता देव के व्रत का पालन न करना है क्योंकि दिन रात का निर्माण सविता देव के नियमों के अधीन होता है। दिन में समग्र प्राणी कार्यरत रहते हैं, इन्द्रियाँ और बुद्धि जागरूक रहती है पर रात्री आने पर ये स्वतः कार्य विरत हो जाती हैं। इसी कारण प्राणी निद्रा की गोद में चले जाते हैं। यह सब सविता के शाश्वत नियमों के अधीन होता है पर जो व्यक्ति इन नियमों का उल्लंघन करता है वह शीघ्र ही

व्याधिग्रस्त हो दुःख भोगता है। आजकल मनुष्य विशेष कर नौजवान रात्री को अधिक देर जागकर सविता के नियमों को भंग करते हैं अतः उन्हें उन्निद्रिता आदि रोग होने स्वाभाविक हैं। यह उपर्युक्त तथ्य ऋ० २/३८/३ में दर्शाया गया है।

विभाग कर्त्ता सविता

सविता देव सबको ज्ञान, ऐश्वर्य व शक्ति आदि का बाँटने वाला है जिसके भाग्य में जो और जितना उपर्युक्त पदार्थों का भाग आता है वह उसे प्रदान करता है। क्या देव, क्या मनुष्य और महान से महान प्राणी से लेकर क्षुद्र से क्षुद्र कीट पतङ्ग तक सबके हिस्से वह पृथक् कर देता है। जीवात्मा जब जन्म धारण करता है तब सविता देव से वह अपने ऐश्वर्य आदि का भाग साथ लेकर आता है। वेद में आजीगर्ति शुनःशेप ऋषि के मन्त्रों में आता है कि प्राण-वासनाओं से परिपूरित निकृष्ट कोटि की भूमिकाओं में निमज्जित जीवात्मा जब उत्कृष्ट भूमिकाओं में अर्थात् देव मानव आदि की ऊँची योनियों में जन्म लेता है तब वह अनेकों देवों से अपने छुटकारे की प्रार्थना करता है (**को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयम् मात रञ्च**) उन देवों में सविता देव से वह इस प्रकार प्रार्थना करता है "हे सविता देव ! तुम वरणीय पदार्थों के स्वामी (ईशानमू वार्याणाम्) हो।" हे सर्वदा रक्षक सविता देव हम तुमसे अपना भाग माँगते हैं (भागमीमहे)। इसी प्रकरण में सविता को 'भगभक्तस्य' सबके भागों का विभाग करने वाला बताया है—

भगभक्तस्य ते वयमुदशेमतवावसा।
मूर्धानम् राय आरभे ॥ ऋ० १/२४/३

ऐश्वर्यो का विभाग करने वाले हे सविता देव ! तेरी रक्षा में हम ऊर्ध्व में पहुँचे, उन्नति करें और ऐश्वर्व की मूर्द्धा अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचे।

संस्कृत में 'भग' शब्द के अनेकों अर्थों में एक अर्थ ऐश्वर्य भी है। भग ऐश्वर्य वह है जो कि सेवनीय (भज सेवायाम्) होता है। परन्तु हमारे विचार में 'भग' शब्द में भाग का भाव भी समाविष्ट है क्योंकि प्राणी के भाग्य में जो हिस्सा आता है चाहे वह अच्छा हो या बुरा उसे सेवन करना ही पड़ता है। इसलिये भग का सेवन अर्थ तो है ही साथ में भाग व ऐश्वर्य की नियत मात्रा का भी द्योतक है। एक मन्त्र में आता है—

'विभक्तारं हवा महे वसोश्चित्रस्य राधसः।' ऋ० १/२२/७

सबको निवास देने वाले, अद्भुत ऐश्वर्य के विभाजक उस सविता देवता का हम आह्वान करते हैं। वह सविता देव देवताओं, मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों को अपना-अपना हिस्सा देता है। देवताओं को वह अमृत देता है। कहा भी है—

'देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्त्वं सुवसि भागमुत्तमम्।' ऋ० ४/५४/२

'यज्ञीय' अर्थात् यज्ञ के रचने वाले देवों को वह सर्वोत्तम भाग अर्थात् अमृतत्व प्रदान करता है। मनुष्यों को वह रत्नादि रमणीय बहुमूल्य पदार्थ प्रदान करता है। **'वियो रत्ना भजति मानवेभ्यः'** ऋ० ४/५१/१ प्रश्न है क्या वह देवों को

रत्नादि रमणीय पदार्थ नहीं देता ? इसका उत्तर है कि निश्चय से देता है, जैसा कि ऋ० २/३८/१ में कहा है—'**नूनं देवेभ्यो विहिधाति रत्न**' अर्थात् वह सविता देवों को निश्चय रूप में रमणीय पदार्थ प्रदान करता है। 'देव' शब्द से प्राकृतिक शक्तियों का ग्रहण करने पर उनमें रमणीयता, सौन्दर्य तथा तद्गत शक्तियों का 'रत्न' शब्द से ग्रहण किया जा सकता है। ऋ० २/३८/११ में आता है—कि सविता देव अपने भक्त स्तोताओं को द्यु-लोक, पृथिवी लोक तथा जलों में उनके काम्य, वांछनीय ऐश्वर्य प्रदान किया करता है। मन्त्र में कहा है—'**हिरण्याक्षः सविता देव आगाद् ददत् रत्ना दाशुषे वार्याणि**' ऋ० १/३५/८ अर्थात् हिरण्मय इन्द्रियों वाला वह सविता देव दाश्वान् को वरणीय रत्न धारण कराता है। भक्त प्रार्थना करता है 'दिवे दिवे वाममस्मभ्यम् सावीः' ऋ० ६/७१/६ है सविता देव ! तू हमें प्रतिदिन प्रशस्त ऐश्वर्यों को प्रदान कर। '**अयाधिया वाम भाजः स्याम**' इस बुद्धि द्वारा हम वांछनीय ऐश्वर्यों का उपभोग करने वाले हों। '**वियो रत्ना पुरुवसुर्दधाति**' ऋ० ७/३८/१ अनन्त ऐश्वर्यशाली वह सविता देव विविध रत्नों को धारण करता व कराता है '**भगमनुग्रो अधयाति रत्नं**' ऋ० ७/३८/६ 'अनुग्र' अर्थात् विनम्र व्यक्ति उस सविता देव से रत्नों की याचना करता है 'साविषत् वसुपतिर्वसूनि' ऋ० ७/४५/३ वह ऐश्वर्यों का स्वामी हमें ऐश्वर्य प्रदान करता है '**वियो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं यथा दधत्**' जो सविता देव मनुष्यों के लिये रमणीय भौतिक तथा दिव्य धनों को विभाग करके प्रदान करता है उसकी हमें ऐसी स्तुति करनी चाहिये कि जिससे वह हमें श्रेष्ठ द्रविण प्रदान करे। अब विचारणीय है कि उस सविता देव के सबको ऐश्वर्य बांटने में कंजूसी तो नहीं है ? वेद कहता है वह तो 'हिरण्य पाणिः सुपाणिः' है। उसके हाथों में हितकारी व रमणीय पदार्थ भरे हुये हैं। और न्यून नहीं प्रत्युत् प्रभूत मात्रा में भरे हुये हैं। वह तो द्वेष रहित हाथों में मुट्ठे भर भरकर बाँट रहा है 'अद्वेषो हस्तयोर्दधे' ऋ० १/२४/४ वह तो दोनों हाथों को फैलाये हुये मानव हितकारी ऐश्वर्यों को चहुँ दिशाओं में बिखेर रहा है 'प्रास्राग् बाहू-हस्ते दधानो नर्या पुरूणि' ऋ० ७/४५/१ उससे जरा माँगो तो सही उसके बाहू तो बहुत शिथिल है 'उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता' ऋ० ७/४५/२ आसानी से सम्पूर्ण ऐश्वर्य नीचे आ गिरेगा। पर हाँ, वह ऐश्वर्य निन्दक व्यक्ति को नहीं मिलेगा '**भगः शशमानः पुरा निदः**' ऋ० १/२४/४ यहाँ यह बात ध्यान देने की है रत्ना व वस्तु आदि शब्द दिव्य ऐश्वर्य के वाचक अधिक हैं। भौतिक ऐश्वर्य तो निन्दक को भी मिल जाता है पर दिव्य ऐश्वर्य उसे नहीं मिलता।

सविता-मर्त्य भोजन—

वेद में सविता देव को मर्त्य भोजन बांटने वाला भण्डारी भी बताया है। मन्त्र में आता है 'मर्त भोजनमध रासते नः' ऋ० ७/४५/३ अर्थात् वह सविता देव हमें मर्त्य भोजन देता है। 'आनृभ्यो मर्त भोजनं सुवानः' ऋ० ७/३८/२ अर्थात् मनुष्यों के लिये वह मर्त्य भोजन उत्पन्न करता है। मर्त्य भोजन वह है जो मरणधर्मा शरीर के लिये उपयोगी हो।

सविता-सूर्य—

प्राय: विद्वान् सविता से सूर्य का ग्रहण करते हैं। मन्त्रों से कुछ-कुछ ऐसा आभास भी होता है कि सूर्य ही सविता है पर हम ऐसा नहीं मानते। सविता सूर्य से पृथक है। हाँ सविता के गुण, धर्म व कार्य आदि जब सूर्य द्वारा सुसम्पन्न होते हैं तब सूर्य भी सविता नाम से सम्बोधित होता है। इसी भाँति यह सवितृत्व चन्द्रमा, वायु, अग्नि आदि जिन-जिन देवों द्वारा प्रकाश में आता है तब-तब वे भी सविता नाम से सम्बोधित किये जा सकते हैं। अथवा यह कहा जा सकता है कि उस समय उनमें सवितृशक्ति सक्रिय है, क्योंकि प्रकृति के अणु रेणु तक में यह सवितृशक्ति अभिव्याप्त है। इस सर्वत्र अभिव्याप्त प्रेरणादायक भागवत शक्ति का वह सूर्य एक प्रत्यक्ष माध्यम है। मन्त्र के आधार पर यह सूर्य उस सविता देव का रथ है। अतः गौणरूप से सूर्य को भी सविता कह दिया गया है। मन्त्र है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽ देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

ऋ० १/३५/२

कृष्णरज अर्थात् रात्री से आवर्त्तन करता हुआ बाहर आता हुआ अमृत तथा मृत इन दोनों जगतों को स्व स्व स्थान में निवेशित करता हुआ सब भुवनों पर दृष्टिपात करता हुआ यह सवितादेव सूर्य रूपी हिरण्यमय रथ पर सवार होकर आ रहा है। यहाँ हिरण्य-रथ सूर्य-मण्डल है। जैसा कि यजुः ४०/१७ में लिखा है **'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्'** अर्थात् आदित्य (सूर्य-मण्डल) में जो पुरुष है वह मैं (सविता) हूँ। ऋ० १/३५/३. सूर्य मण्डल से नीचे पृथिवी की ओर आने वाली रश्मियों के मार्ग को 'प्रवत्' कहा जाता है और नीचे पृथिवी से रस लेकर ऊर्ध्व में सूर्य की ओर जाने वाली रश्मियों के मार्ग को 'उद्वत्' कहते हैं। इन दोनों प्रकार की रश्मियों (हरिभ्याम्) का परस्पर मेल होता है। इस मेल को वेद के शब्दों में यजन कहते हैं। मानव-शरीर में ये दो प्रकार के हरि आज्ञा-वाहक तथा ज्ञान-वाहक (Motor-Sensory-Nerves) नाड़ियाँ हैं। आज्ञा वाहक नाड़ियों के मार्ग को 'प्रवत्' मार्ग कहते हैं और ज्ञान वाहक नाड़ियों के मार्ग को 'उद्वत्' कहते हैं, यहाँ बुद्धि सूर्य है। 'प्रवत्' तथा 'उद्वत्' ये दोनों स्थूल से सूक्ष्म की ओर और सूक्ष्म से स्थूल शरीर की ओर इन दो गतियों को भी सूचित करते हैं। यह विज्ञानात्मा सूर्य 'परावत्' दूर नामक स्थान में विराजमान होता है। (अन्तो वै परावत् ऐ०ब्रा० ५/२, **'परावत् इति दूरनामसु पठितम्'** निघ० ३/२६)। यह दूरी सूक्ष्मता की दूरी है। और दूसरे नस नाड़ियों व ऐन्द्रियिक शक्तियों का अन्त है। ऋ० ७/४५ सूक्त को भी सूर्य परक लगाया जा सकता है। किरण रूपी अश्व उसको वहन करते हैं। वह सविता "नर्या पुरूणि" मानव हितकारी बहुत सी शक्तियों तथा सुन्दर रत्नों को हाथ में लिये हुये पृथिवी को ओर आता है। भक्त उससे धन्य-धान्यों, स्वास्थ्य तथा शक्ति आदि की याचना करता है। ऋ० ५/८१/२ में आता है 'सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो विराजति' यह वरणीय सविता उषा के प्रयाण करने के पश्चात् आता है। इससे

यह स्पष्ट है कि यहाँ सविता से सूर्य का ग्रहण किया जा सकता है। ऋ० ५/८१/४ में सविता तथा सूर्य का पार्थक्य अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में दर्शाया गया है। यहाँ आता है—'उत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि' हे सवितादेव तुम सूर्य की रश्मियों के साथ समवेत होते हो। सूर्य रूपी सविता के सब कर्म हिरण्वमय किरणों द्वारा होते हैं। अतः उसे 'हिरण्य शम्यम्' ऋ० १/३५/४ कहा है। यह शमि कर्म विश्व रूपात्मक होता है। अतः कोई भी ऐसा रूप नहीं जो इन किरणों द्वारा निर्मित न होता हो। अध्यात्म में, यह आत्म सूर्य भी ज्योति रूप हिरण्मय आवरण से आवृत होता है। सूर्य के रथ का प्रउग भाग (मध्य भाग) हिरण्य का होता है। **'हिरण्य प्रउगं वहन्तः'** ऋ० १/३५/५। सूर्य के ये अश्व भूरे रंग के होते हैं और पैर इनके श्वेत होते हैं। 'श्यावा शिति पादः' मानव मस्तिष्क का बभ्रु वर्ण (Grey Matter) ऐन्द्रियिक किरणों का रूप है। ऋ० १/३५/७ में इस सूर्य रूपी सविता को सुपर्ण पक्षी मानकर रश्मियों (अश्व) की पंख से उपमा दी गयी है। यह सुपर्ण नामक सूर्य इस महान् आकाश में उड़ा जा रहा है। जिस प्रकार पक्षी उड़ते हुये पंखों को फड़फड़ाता है उसी प्रकार यह सूर्य रूपी सुपर्ण भी कम्पन करता है पर इसका कम्पन गम्भीर होता है जो कि प्रत्यक्ष रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता। (गभीर वेपाः)। रात्रि में यह सूर्य कहाँ चला जाता है? इस तथ्य को कौन वैज्ञानिक पुरुष जानता है? यह ठीक है कि पृथिवी परिभ्रमण के कारण यह सूर्य पृथिवी के द्वितीय पार्श्व में प्रकाशित होता है पर इस रात्रि काल वाले पार्थिव पार्श्व में भी तो इसकी सत्ता है। तीन द्यु लोकों में किस द्यु लोक में इसकी रश्मि फैली हुयी होती है? वस्तुतः अध्यात्म क्षेत्र में ये प्रश्न अधिक संगत होते हैं। वहाँ विज्ञानात्मा सूर्य रात्रि में तीन मस्तिष्कों (तीन द्यु लोकों) में किस मस्तिष्क भाग में जा पहुँचता है? ये तीन मस्तिष्क (Cerebrum), अनुमस्तिष्क (Cerebellum), सुषुम्ना शीर्षक (Medulla oblongatta) हैं। मन्त्र में इसी प्रश्न की ओर संकेत हुआ है। रात्रि में यह विज्ञानात्मा सूर्य अनुमस्तिष्क (Cerebellum) में जा पहुँचता है। जहाँ जन्म जन्मान्तरों के संस्कार प्रच्छन्न रूप में निहित होते हैं। इसी तथ्य को निम्न मन्त्र में प्रश्नवाचक कथन द्वारा उजागर किया गया है। यथा—

'क्वेदान सूर्यः कश्चिकेत कतमाम् द्यां रश्मि रस्या ततान' ऋ० १/३५/७

अर्थात् इस समय (निद्रा में) यह बुद्धि सूर्य कहाँ है? इसे कौन जान सकता है? और कौन से द्यु लोक को इसकी रश्मि तानें हुये हैं। ऋ० १/३५/९ मन्त्र में सविता और सूर्य दोनों पृथक् रूप में वर्णित हुये हैं। यथा—'सविता······वेति सूर्य' यह सविता सूर्य को अभिव्याप्त करता है, गति देता है तथा कांतिमय बनाता है इत्यादि।

वेति = त्रि, गति, व्याप्ति, प्रजन, कान्त्यसन, खादनेषु।

मनुष्य में कार्य क्षमता सविता से—

एक मन्त्र पाद है 'मध्याकर्तोर्न्यधात् शक्मधीरः' ऋ० १/३५/४। उस धीर सवितृ रूप देव ने मध्य में शक्ति (शक्म) को ला स्थापित किया है। जो व्यक्ति

सविता के प्रति आत्म समर्पण करता है एक प्रकार से वह स्वयं सविता रूप हो जाता है। उसके प्रत्येक कार्य में सवितृ शक्ति का प्रकटन होता है।

अग्नि आदि महाभूतों में सूर्य का तेज=२/३८/५-७

अग्नि में समुत्पन्न तेज, विद्युत की चमक, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रादि की ज्योतियाँ ये सब सविता भगवान की देन है। यथा—**"प्रभवः शोको अग्नेः···अन्वस्य केतमिषितं"** सवित्रा ऋ० २/३८/५ अर्थात् उसमें उत्पन्न तेज जो प्रज्ञापक है दर्शाने वाला है वह सविता ने प्रेषित किया है। जलों में जलीय तत्व, नाना विध औषधि वनस्पतियों में रस ये सब सविता द्वारा प्रदत्त हैं। यह जल पृथ्वी पर सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता परन्तु सविता की प्रेरणा पा यह मनुष्य मरु भूमि में भी जल की खोज में प्रवृत्त होता है। इस सविता भगवान् ने केवल मनुष्यों की ही सुख सामग्री उत्पन्न नहीं की प्रत्युत् पशु पक्षियों के लिये भी उसने वनो का निर्माण किया है। ये सब सविता देव के व्रत हैं। सविता देव के व्रतों का हिंसित करने वाला नष्ट हो जाता है।

सविता हिरण्यमय—

प्रश्न पैदा होता है कि सविता का अपना रूप क्या है ? इसके उत्तर में मन्त्रों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उसका अपना स्वरूप हिरण्यमय है। परन्तु यह हिरण्यमय रूप स्थूल चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सामान्य चक्षुओं से दृष्टिगोचर न हो वह है नहीं। इस सम्बन्ध में औपनिषदिक ऋषियों के उद्‌गार हमें ध्यान में रखने चाहिये।

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति' ये सूर्य चन्द्रमा आदि उसकी ज्योति से चमक रहे हैं। उसकी अपनी हिरण्यमय ज्योति योग द्वारा दिव्य चक्षु प्राप्त होने पर दृष्टिगोचर होती है। हमारे शरीर में मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदि अन्तःकरण भी हिरण्य रूप के हैं जो कि योग शक्ति द्वारा ही देखे जा सकते हैं। मन्त्रों में सविता के निम्न विशेषण आते हैं। हिरण्य पाणिः, हिरण्य हस्तः, हिरण्याक्षः, हिरण्य जिह्वः, हिरण्य रथः, हिरण्य शभ्यंम् अर्थात् उसके हाथ, आँखे, जिह्वा आदि हिरण्य के हैं। वह हिरण्यमय रथ पर आरूढ़ होकर चलता है। उसके कर्म भी हिरण्यमय होते हैं। इस प्रकार सब अङ्ग प्रत्यङ्ग उसके साधन व कर्म सब हिरण्य के बताये गये हैं। यह सविता हिरण्य पाणि कैसे बना ? इसका एक आलंकारिक वर्णन कौषीतकि ब्राह्मण में दिया हुआ है। कथानक का सार इस प्रकार है। वहाँ आता है "किसी यज्ञ में सविता को खाने के लिये प्राशित्र दिया तो उसने जब उस प्राशित्र को हाथ में लेने का प्रयत्न किया तो उसके हाथ कटकर गिर पड़े तब अध्वर्युओं ने उसके हिरण्य के हाथ लगा दिये।"

यह एक अलङ्कार गर्भित कथानक है। सविता भगवान् सूर्य की किरणों के माध्यम से संसार की रचना कर रहा है। उसने इस जगत में इतना सौन्दर्य भर दिया है कि मनुष्य त्रिकाल में भी नहीं भर सकता। उसकी प्रकृति में इतनी सर्वातिशायिनी श्रेष्ठ कला का प्रदर्शन हुआ है कि दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है।

यह सब उस हिरण्यमय हाथों का प्रभाव है । इसी भाँति जब किसी मनुष्य में सवितृ शक्ति उद् बुद्ध हो जाती है तो उसके हाथ आदि अङ्गों में भी हिरण्य शक्ति का आविर्भाव हो जाता है तब उसके कार्य भी सुसंपन्न होते हैं और उनकी कोई सीमा नहीं रहती । दूर से दूर स्थित वस्तुओं का निर्माण उनमें परिवर्तन आदि नानाविध कर्म वह इन हिरण्मय हाथों के प्रभाव से कर सकता है । इस अवस्था में उसके सामान्य हाथ कट गये हैं ऐसा कहा जा सकता है । इसी प्रकार हिरणयाक्ष बन कर वह सृष्टि के किसी भी कोने में स्थित वस्तु व घटना का दर्शन कर सकता है । 'हिरण्य शृंग' होने पर उसकी ज्योति ऊध्व के लोकों की ओर प्रयाण करती है । 'हिरण्य स्तूप'' बनने पर उसके अन्दर हिरण्यमय ज्योति का एक संघात बन जाता है जिसके बल पर वह अन्दर को गहराईयों में प्रवेश कर वहाँ के प्रच्छन्न रहस्यों को देखता है ।

इसी हिरण्य-स्तूप के सम्बन्ध में एक कथानक शा० ब्रा० १/६/४/१ में आता है ।' इन्द्र ने वृत्र पर जब वज्र का प्रहार किया तो उसे यह सन्देह हुआ कि वृत्र मरा नहीं । अतः अपने को निर्बल समझ कर वृत्र के डर के मारे वह इन्द्र कहीं जा छिपा । देवताओं को जब यह पता चला कि वृत्र मारा जा चुका है पर इन्द्र संदेह में उसके ढर से कहीं जा छिपा है तब देवताओं ने इन्द्र को ढूंढने के लिये अपने में से अग्नि को, ऋषियों में हिरण्य स्तूप ऋषि को तथा छन्दों में बृहती छन्द को ढूंढने के लिये भेजा ।'' यह अलंकार अत्यन्त गहन है । संक्षेप व यह कहा जा सकता है कि अग्नि देववाहन है अर्थात् सब देवों को वहन कर लाने तथा प्राप्त कराने वाला हैं । बृहती छन्द मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है और हिरण्य स्तूप आन्तरिक ज्योति-ष्पुञ्ज है । ये तीनों मिलकर इन्द्र अर्थात् दिव्य मन तथा दिव्य मन से सम्मिलित आत्मतत्व को ढूंढते है । हिरण्य-स्तूप ऋषि के मन्त्रों में हमें यही रहस्य ढूंढने का प्रयत्न करना चाहिये ।

सविता को हिरण्यपाणि व हिरण्यहस्त कहने का एक रहस्य यह भी है कि जिस प्रकार बेंत व हंटर हाथ में लिये हुये एक जमादार दृढ़ अनुशासन प्रिय होता हुआ कभी-कभी क्रूरता का प्रदर्शन कर बैठता है अत, वह हिरण्यपाणि नहीं है । पर देवों तथा अन्य प्राणी जगत के अध्यक्ष सविता देव के हाथ में शास्त्रों ने हिरण्य बताया है । अर्थात् यह कोड़ा व हंटर नहीं है प्रत्युत सुवर्ण है । जो नियम परायण व्यक्ति हैं तथा दाश्वान् (आत्म समर्पण) करने वाले हैं उनको वह हिरण्य देता है ।

असुर सविता—

सविता का एक विशेषण 'असुरः' भी है । वेदों में प्रायः सभी देवों को 'असुर' पद से सम्बोधित किया गया है । वहाँ असुर पद बुरे अर्थ में नहीं है । निरुक्त १०/३/३३ में आता है 'देवाना मसुरत्वमेकं प्रज्ञावत्वं वाऽनवत्वं वा । असुरिति प्रज्ञा-नाम अस्यत्यनर्थान्, अस्ताश्चा स्यामर्थाः, असुरत्वमादि लुप्तम् अर्थात् देवों में असु-रत्व इस बात का द्योतक है कि वे प्रज्ञा तथा प्राण शक्ति वाले हैं ।

'असु' प्रज्ञाको कहते हैं। इसलिये कि वह अनर्थो को परे फैंकती है। दूसरे इस प्रज्ञा में अर्थ फैंके जाते है। यहाँ 'असु क्षेपणे' धातु है। 'असुर' पद की और भी व्युत्पत्ति हो सकती है। यथा ना+सु+रताः (भोगेषु) अर्थात् जो भोगों में रमण नहीं करते अथवा "**असुः प्राणः यः शरीरेऽस्तः क्षिप्तः तद्वान् असुरः मतुबर्थीयो रः प्रत्ययः।**" इस प्रकार ये उपर्युक्त व्युत्पत्तियाँ असुर पद की हो सकती हैं। यहाँ सविता के प्रसंग में असुर पद से प्रज्ञा तथा प्राणवत्ता वाले सविता की ओर निर्देश समझना चाहिये।

सविता का पक्षी कृकवाकुः (मुर्गा)

सविता का एक पक्षी कृकवाकु है। कृकवाकु मुर्गे को कहते हैं। निरुक्त १२/२/१४ में आता है—'**कृकवाकुः सावित्र इति पशु समाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति कालानुवादं, परीत्य। कृकवाकोः पूर्वं शब्दानुकरणं वचेरुत्तरम्।** अर्थात् पशु समाम्नाय में कृकवाकु पक्षी को सविता देवता का माना गया है। इसमें हेतु यह दिया गया है कि वह सविता के काल का अनुवाद करता है अर्थात् प्रभात बेला में जब मुर्गा बांग देता है या कृक ध्वनि निकालता है तो यह बता रहा होता है कि अब सविता का काल हो गया है। उठ बैठों, सोओ मत। अब सोने का समय नहीं है। वैसे तो सभी पक्षी प्रभात काल आने पर मिलकर कोलाहल करते हैं पर सविता की प्रेरणा को सबसे पूर्व तथा सर्वाधिक रूप में मुर्गा ही अनुभव करता है। पशु पक्षियों में जो अपनी विशिष्ट तथा स्वाभाविक शक्ति होती है वह किसी न किसी देवता की शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है वह स्वाभाविक शक्ति मनुष्य साधना द्वारा अपने अन्दर उद्बुद्ध कर सकता है या उसका उपयोग ले सकता है। परन्तु मनुष्य रात दिन भोग विलास सम्बन्धी साधनों के जुटाने में संलग्न होने के कारण उन शक्तियों की उपेक्षा कर देता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य सविता की प्रेरणा प्राप्त करने की स्वाभाविक शक्ति को अपने अन्दर किस प्रकार उद्बुद्ध करे? इसका एक साधन यह है कि मनुष्य सोते समय यह दृढ़ निश्चय करके सोवे कि ब्रह्म मुहूर्त में शय्या का परित्याग अवश्य ही कर देना है। इस दृढ़ संकल्प का फल यह होगा कि मनुष्य अपने संकल्पित अभीष्ट समय में अवश्य उठ बैंठेगा और उसकी बुद्धि सविता की प्रेरणा शक्ति को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर लेगी। यदि प्रमाद व आलस्य वश वह न उठ सके तो दूसरा उपाय यह है कि कृक शब्द के समान कर्कश ध्वनि करने वाली घड़ी व किसी यन्त्र की सहायता ले। कर्कश शब्द में भी कृक ध्वनि वाला शब्द है। कर्कश ध्वनि मनुष्य के दिमाग पर प्रहार करती है जिससे उसका आलस्य रफूचक्कर हो जाता है। यह कृक ध्वनि मनुष्य के मस्तिष्क तन्तुओं पर प्रहार करती है जिससे कि वे जागृत हो सक्रिय हो जाते हैं।

ऋषियों ने मनुष्य में देवत्व के उद्बोधन के लिये ब्राह्ममुहूर्त को सर्वोत्तम काल माना है। इस दृष्टि से वेदों में देवों को (उषर्बुधः) उषा काल में जागने वाला बताया है इसी कारण उषा काल में जागने वाले मुर्गे को बहुत ऊँचा स्थान दिया

है। वेद में आता है "**कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद** यजुः १/१६ हे कुक्कुट ! तू मधुर जिह्वा वाला है। प्रभात बेला में तू हमारे लिये अन्न तथा ऊर्ज की प्राप्ति के लिये बोल अर्थात् तेरे द्वारा प्रभात वेला में जगाये जाने पर हम अन्न तथा ऊर्ज की प्राप्ति में लग जायें। यही भाव इस मन्त्र पद का है।

ग्नास्पति :—यह सविता 'ग्नाः' अर्थात् स्त्रियों का पति है क्योंकि स्त्रियाँ सविता के द्वारा प्रसवोन्मुखी होती हैं। 'ग्नाः' पद गत्यर्थक गम् धातु से बाहुलकात् नक् प्रत्यय करके बनता है। स्त्रियों को ग्नाः इसलिये कहते हैं कि पुरुष सम्भोग के लिये इनके प्रति जाता है। 'गच्छन्त्येनाः' नि. ३/४/२१. गायत्री आदि छन्दों को भी 'ग्नाः' कहते हैं। 'छन्दासि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्ग लोकं गच्छन्ति श. ब्रा. ५/५/४/१७ अर्थात् इन छन्दों का अवलम्बन करके मनुष्य स्वर्ग में पहुँचते हैं। वेद मन्त्रों का आश्रय लेने तदनुकूल जीवन व्यतीत करने से मनुष्य दिव्य लोकों में जन्म लेता है। मानव शरीर में ये छन्द प्राण कहे गये हैं। 'प्राणाः वै छन्दांसि, कौ० ७/६/,१७/२ ये छन्दात्मक प्राण प्रदीप्त व समिद्ध होकर मनुष्य को स्वर्ग की और वहन करके ले जाते हैं। इन समिद्ध व प्रदीप्त छन्दों को ऊर्ध्व की ओर प्रेरित करने वाला सविता देवता है। इसीलिये दूसरे शब्दों में 'छन्दांसि सावित्री' अर्थात् ये छन्द ही सावित्री बनते हैं और ये ही ग्ना हैं। जिनमें सविता दिव्य शक्तियों को उत्पन्न करता हैं। जैसा मन्त्र में कहा है 'उत् ग्ना व्यन्तु देव पत्नीः ऋ ५/४६/८ अर्थात् ये ग्ना देव पत्नियाँ है, जिनमें कि देव उत्पन्न होते हैं। निघ० १/११ में ग्ना पद वाक् नामों में भी पढ़ा गया है। अर्थात् सप्तद्वारों में प्रसृत यह वाक् जब दिव्य रूप को धारण करती है तब वह ग्ना पद से सम्बोधित होती है। यह सब सविता देव की प्रेरणा पर निर्भर है।

—:०:—

द्वितीय अध्याय
सावित्र होम

[योग साधन में सविता की प्रेरणा]

यजुर्वेद के ११ वें अध्याय के प्रथम आठ मन्त्र सविता के है। कर्मकाण्डकी परिभाषा में श. प. ६/३/१ में इनका विनियोग सावित्र होम में किया गया है। यह सावित्र होम यजुर्वेद के ११ वें अध्याय से लेकर १८ वें अध्याय तक वर्णित 'अग्नि-चिति' का एक अवान्तर प्रकरण है। अतः इस सावित्र होम को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम करने के लिये अग्निचयन पर भी सरसरी तौर पर प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है।

अग्नि चयन

वेद में आता है कि "अग्नि मनुष्या ऋषयः समीधिरे" अर्थात् मनुष्य ऋषि अग्नि को प्रदीप्त किया करते हैं। किन साधनों व उपायों से अग्नि प्रदीप्त होती हैं, इसका सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन ब्राह्मणग्रन्थों के अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, अग्निचयन आदि यज्ञ यागों में किया गया है। अग्निद्वारा ऋषित्व की प्राप्ति तथा सविता द्वारा योग के प्रति प्रेरणा किस प्रकार होती है इसके ज्ञान के लिए इन यज्ञ यागों पर भी विचार किया जाये तो यह विषय स्पष्ट हो सकता है। पर इन यज्ञों के सब अंगों, सब विधि-विधानों को पूर्णरूप से हृदयंगम कर सकना अति कठिन है। बाह्य-कर्मकाण्ड की सब क्रियाओं को युक्ति की कसौटी पर बुद्धिगम्य कर सकना अशक्य है। परन्तु यह निश्चित है कि ये सब बाह्य-यज्ञ आन्तरिक यज्ञों के प्रतिनिधि हैं, सहायक हैं। प्रमुखता आध्यात्मिक यज्ञों की है। ये बाह्य यज्ञ हमारे आन्तरिक यज्ञों की पूर्णता व निष्पन्नता में सहायक हैं। यह विषय बहुत व्यापक है। अतः इस पर विशेष विचार न कर हम यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि अग्नि चयन का सविता से क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण के लिए अग्निचयन का आध्यात्मिक भाव क्या हो सकता है यह कुछ प्रमाणों व संकेतों के आधार पर दर्शाने का प्रयत्न करते हैं।

यजुर्वेद के ११ वें अध्याय से १८ वें अध्याय तक अग्निचयन सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा अग्निचिति का वर्णन किया गया है। अग्निचयन का अर्थ है अग्नि का चिनना १ अमुक अमुक स्थान पर अग्नि का रखना। अग्नि की उत्पत्ति भी इस अग्निचयन में समाविष्ट है। विस्रंसित २ व पृथक्-पृथक् अंगों का परस्पर सन्धान करना, उन्हें एकसूत्रता में बांधना भी इसका कार्य है। यह अग्नि का चयन ब्रह्माण्ड व पिण्ड दोनों

---

१ यच्चिनोति तस्मात् चितयः। श. प. ६। १।२।१७–१९
अथ यश्चितेऽग्निः०। श. प. ६।१।२।२०।

२ श. प. ६।१।२।१२–२६।

क्षेत्रों में होता है। अग्निचयन सम्बन्धी ये मन्त्र मानव में दिव्य उत्पत्ति, द्वितीय जन्म (द्विजत्व) व आध्यात्मिक शक्तियों की ओर भी संकेत करते हैं। श. प. ६।१।२।३५ में आता है कि 'किस कामना से मनुष्य अग्नि का चयन करता है ? इस सम्बन्ध में एक मत तो यह है कि "सुपर्णो मा भूत्वा दिवं वहादित्यु हैक आहुः" अर्थात् यह अग्नि सुपर्ण बनकर मुझे द्युलोक में वहन करके ले जाये। परन्तु याज्ञवल्क्य का पक्ष दूसरा है। उसका कथन यह है कि अग्निचयन १ से प्राण प्रजापति का रुप धारण करते हैं तदनन्तर प्रजापति देवों. दिव्यशक्तियों व इन्द्रियों में देवत्व का सर्जन करता है और अग्नि के प्रभाव में विद्यमान दिव्यशक्तियां अमर हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अग्निचयन से मनुष्य अमर हो जाता है। यही उसका दिव्य जन्म है। द्वितीय जन्म व द्विजत्व भी यही है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि जैसी अग्नि होगी और जितनी मात्रा में २ होगी उतना ही उस अग्नि का तथा तत्सम्बन्धी दिव्यशक्तियों का चयन होगा। अध्यात्म में भी क्षेत्र भेद से अनेकों प्रकार की अग्नियां हो सकती हैं। वाक् अग्नि, चक्षु अग्नि, मस्तिष्क सम्बन्धी, मन व हृदय सम्बन्धी अग्नि। इस प्रकार अनेकों अग्नियां हमारे शरीर में हैं। इन सब पर विचार न करके यहां इस लघु लेख में सामान्य रूप से अग्निचयन व सावित्र होम द्वारा आध्यात्मिक व दिव्य उत्पत्ति का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं। यजुर्वेद के इन अग्निचयन सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड से प्रारम्भ होती है और प्रारम्भ में सृष्टि के आद्य ३ ऋषिप्राणों की ओर ही संकेत किया गया है। अतः सृष्टि के आद्य-ऋषियों तथा मानव में उनके प्रादुर्भाव की प्रक्रिया व स्वरूप-निर्धारण के लिए शत-पथ ब्राह्मण के इस षष्ठ काण्ड का स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक है। इसका ब्रह्माण्ड व पिण्ड इन दोनों क्षेत्रों में व्यौरेवार पूर्णरूप से स्पष्टीकरण तो कठिन है पर अध्यात्म क्षेत्र में कुछ संक्षिप्त विचार करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण का यह षष्ठ काण्ड 'उखा सम्भरण' नाम से प्रसिद्ध है। इस काण्ड में वर्णित विषय तैत्तिरीय संहिता में 'उख्याग्निकथनम्' नाम से आता है। मैत्रायणी आदि संहिताओं में 'अग्निचिति ब्राह्मणम् नाम से वर्णित हुआ है। परन्तु काठ सं. १६ में सावित्रा नाम से दिया गया है। इस संहिता की दृष्टि सेतो संविता देव ही इस अग्निचिति का प्रमुख व एक मात्र नियामक है। इन सबका तात्पर्य यही है कि ब्रह्माण्ड व पिण्ड में 'उखा' नाम से प्रसिद्ध स्थानों में अग्नि का चयन तथा तत्सम्बन्धी सृष्टि की उत्पत्ति करनी है।

अग्निचयन को यहाँ नीचे से लेकर ऊर्ध्व तक पाँच चितिओं में विभक्त किया

---

१ न तथा विद्यात्०—श. प. ६।१।२।३५।

२ यावानग्नि र्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतच्चिनोति। श. प. ६।१।२।२८।
बहवो ह्येतेऽग्नयो यदेताश्चितयोऽथ यत् कामायेति० श. प. ६।१।२।१९।

३ असद्वा इदमग्र आसीत्० श. पः ६।१।१।१।

गया है। इसमें पुरुष, अश्व, गौ, अवि और अज इन पांच पशुओं का भी आलम्भन होता है। ये पाँच पशु पारिभाषिक व आलंकारिक रूप के हैं। हमारे विचार में ये पशु मनुष्य के आभ्यन्तर अंगों से सम्बद्ध है। इस चयन-यज्ञ का प्रारम्भ मुख से होता है। (मुखतो वा एतद् यज्ञमालब्ध० मैं. सं० ३।१।१)। क्योंकि सर्वप्रथम अग्नि का चयन मुख से होता है। मुखाग्नि द्वारा अन्न-भक्षण से स्थूल शारीरिक अग्नि तथा ब्रह्मचर्य काल में शिक्षा आदि द्वारा सूक्ष्म-अग्नि प्रवुद्ध व प्रादुर्भूत की जाती है। इस प्रकार स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार की अग्नियों का चयन मुख से होता है। मुख ही प्रधान कारण होता है क्योंकि ब्रह्मचर्य काल में विद्याध्ययन करते हुए मुख द्वारा त्रयी विद्या का अध्ययन किया जाता हैं। इसलिये ब्रह्म की उत्पत्ति को दूसरे शब्दों में मुख की उत्पत्ति कहा गया है। ऐसा व्यक्ति अनुचान अर्थात् अग्नि के सदृश देदीप्यमान होता है। शास्त्र में इसे अग्नि कल्प श० प० ६। १।१।१० कहा गया है। यह ब्रह्म ही अग्नि का मुख है अथवा यह अग्नि ब्रह्म का मुख है। इसी दृष्टि से ऋग्वेद आदि शब्द–ब्रह्म का प्रारम्भ अग्नि देवता से होता है। (मुखं ह्येतग्नेर्यद् ब्रह्म)। आगे सब दिव्यशक्तियों की उत्पत्ति का सिलसिला सर्वप्रथम अग्नि की उत्पत्ति १ से चालू होता है।

अग्निचयन में सर्वप्रथम ऋषियों२ को स्मरण किया गया है। ये ऋषि सृष्टि के विभिन्न स्तरों के आद्य प्राण हैं। किस चिति में कौन सा ऋषि है वह तालिका में निम्न प्रकार है—

	चिति		ऋषि
१	प्रथमा	—	प्रजापति
२	द्वितीया	—	देव
३	तृतीया	—	इन्द्राग्नी, विश्वकर्मा
४	चतुर्थी	—	ऋषयः
५	पंचमी	—	परमेष्ठी

इस प्रकार उपर्युक्त चितियों के ये प्रजापति आदि ऋषि हैं। ये विभिन्न स्तरों के प्राण हैं। इनका पिण्ड की दृष्टि से संक्षिप्त भाव यह है कि प्रथम चिति के समय मानव की गर्भावस्था व शैशव काल में प्रजापति प्राण सक्रिय होते हैं। द्वितीय जन्म व आध्यात्मिक उत्पत्ति में भी प्रजापति का दिव्य रूप सक्रिय होता है। उसी प्रकार द्वितीय चिति में देव अर्थात् इन्द्रिय शक्तियाँ उद्बुद्ध होती है। आध्यात्मिक उत्पत्ति में उनका दिव्य रूप प्रकट होता है। तृतीय चिति में इन्द्र और अग्नि तथा विश्वकर्मा रूप होता है। चतुर्थ चिति में स्वयं ऋषित्व सक्रिय व उद्बुद्ध होता है और अन्त में पंचमी चिति में परमेष्ठी जागृत हो जाता है। इसी भाँति ५

१. स (अग्निः) यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षेत ।श. प. ६।१।१।११

२. असद्वा इदमग्र आसीत्० श. प. ६।१।१।१।

ऋतुयें, ५ दिशायें भी ५ चितियों के रूप में कही गई है। श० प० ६।१।२।१७-१९ इन सब ऋषि प्राणों को प्रदीप्त करने वाला मध्य का केन्द्रीय प्राण १ इन्द्र नाम से कहा गया है।

इन चितियों का ब्रह्माण्ड व पिण्ड में क्या महत्व है, किन २ अग्नियों का चयन होता है, इत्यादि बातें गुह्य रूप की हैं। परन्तु प्रजापतित्व व देवत्व आदि के ज्ञान व उनकी प्राप्ति के लिये इन चितियों के स्वरूप व उनकी सूक्ष्मता को जानना भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि पिण्ड में प्राणों की दृष्टि से पुरुष शरीर के सात विभाग किये गये हैं। यथा नाभि से नीचे के दो, नाभि से ऊपर के दो, पार्श्व (पक्ष) दो तथा प्रतिष्ठा स्थान एक। शिष्य के द्वितीय जन्म तथा उसमें देवत्व की उत्पत्ति के लिये आचार्य इन सातों अंगों की श्री१ (रस) को ऊर्ध्व में सिर की ओर प्रेरित करता है। सिर को शिर इसलिये कहते हैं कि इसमें सब देवशक्तियाँ व इन्द्रियाँ आश्रय लिये हुए है। समग्र शरीर की श्री ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ऊर्ध्व में सिर की ओर गति करती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि शरीर के सब यज्ञ व समग्र देवशक्तियाँ ब्रह्मचर्य पर ही आश्रित हैं। ब्रह्मचर्य से ही इनका यज्ञ सुचारू रूप से चालू रहता है। परन्तु वीर्य रूपी रस के अधः पतन से यह श्री विनष्ट हो जाती है। सब आन्तरिक यज्ञ विनाशोन्मुख हो जाते हैं और देवशक्तियाँ भी प्रसुप्त व प्रच्छन्न पड़ी रहती हैं। जब ब्रह्मचर्य द्वारा मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन जाता है तब सम्पूर्ण शरीर की श्री भी ऊर्ध्वगति वाली हो जाती है। (समुदूहन्ति) इस अवस्था में विद्याप्राप्ति का रुझान हो जाता है और ध्यान में मन लगता है। ध्यानावस्था में कुछ और श्रम व तप करने से त्रयी रूप ब्रह्म की उत्पत्ति होती है। वेदप्रतिभासित होने लगते हैं। इस अवस्था में पहुंचकर मनुष्य का प्रतिष्ठित स्थान ब्रह्म ही बन जाता है।

आगे इस अग्नि को आधार बनाकर पृथ्वी, अन्तरिक्ष द्यु तथा दिशाओं सम्बन्धी सृष्टियों का वर्णन हुआ है ये सब अग्नि की चितियाँ हैं। इन चितियाँ की पूर्णता व निष्पन्नता में सविता का प्रमुख स्थान है। सविता ने इन चितियों को देखा।१ उत्पत्ति के लिये प्रेरित किया। इसलिये सविता द्वारा निष्पन्न कार्यों को सावित्र-होम भी कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य में अग्नि की

---

१. स योऽयं मध्ये प्राणः। एष एवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध यद्वैन्द्ध तस्मादिन्ध इन्धो हवैं तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्। श. प. ६।१।१।२।

२. यैवैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीर्यो रसस्तमेतदूर्ध्वं समुदूहन्ति तदस्यैतच्छिर-स्तस्यिन्नेतस्मिन् सर्वे देवाः श्रिताः। अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्माद्वैवैतच्छिरः। श. प. ६।१।१।७

३. तेषां चेतयमानानां सवितैतानि सावित्राण्यपश्यत्-तस्मात् सावित्राणि, यत्सावित्राणि हूयन्ते प्रसूतया। श. प. ६।३।१।१। मै. सं, अग्निर्वै यत्र यत्रा गच्छत् सावितान्वपश्यत् यत् सावित्राणि हूयन्तेऽग्नेरेवानुक्शात्या मै. सं. ३।१।१। सवितृ प्रसूतोऽग्निं चिनुते। मै. सं. ३।२।४

उत्पत्ति व उसका विविध स्थानों में चयन बार-बार की आन्तरिक प्रेरणा (सावित्राणि-षु प्रसवैश्वर्ययोप्रसवोऽभ्यनुज्ञानम् प्रेरणम्) पर निर्भर करता है। शास्त्रों में सविता का धाम ऊर्ध्वतम लोक माना है। अर्थात् ऊर्ध्वतम लोक में स्थित हो यह सविता सब देवशक्तियों को प्रेरित करता है। यह हम गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'आत्मसमर्पण' नामक पुस्तक में प्रदर्शित कर चुके हैं। सावित्र कर्म अनेकों प्रकार के दर्शाये गये हैं। इस सावित्र-होम में अग्नि आदि दिव्यशक्तियों की उत्पत्ति के लिये सविता सम्बन्धी प्रेरणायें आहुति रूप में पड़तीरहती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड में सविता भगवान की प्रेरणा से तथा पिण्ड में सविता स्थानीय आन्तरिक (मन) प्रेरणा से अग्निप्रधान दिव्य जीवन की उत्पत्ति होती है। दैनिक अग्नि होत्र भी यदि मानव अग्नि उत्पत्ति का साधन बनता है तो यह भी सावित्र कर्म के अन्तर्गत परिगणित किया जायेगा। उदाहरण के तौर पर मन के सवितृरूप को तथा तत्सम्बन्धी सावित्र-कर्म को हम यहाँ प्रदर्शित करते हैं।

मन सविता है। क्योंकि मानसिक इच्छा ही कार्य को करने के लिये प्रेरणा देती है। प्रेरणा देने के पश्चात् यह मन स्वयं रेतस् रूप में आहुति भाव को प्राप्त कर प्राण रूपी चमस द्वारा वाक् रूपी योषा (स्त्री) में जाकर पड़ती है। ब्राह्मण ग्रन्थ के पारिभाषिक शब्दों में वाक् स्रुक है प्राण स्रुव है। स्रुक योषा है (स्त्री है) स्रुव पुरुष है मन रेतस् है। आधुनिक भाषा में उपर्युक्त कथन को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि यह मनरूपी सविता स्वयं रेतस् रूप को धारण कर अपने आप को प्राण रूप स्रुवा (चमचा) द्वारा वाक् अग्नि में सिञ्चित करता रहता है। इससे वाक् अग्नि प्रबुद्ध व प्रवृद्ध होती है। अर्थात् मन प्राण के साथ सम्पर्क कर संकल्प रूप को धारण करता है यदि मन के साथ प्राण का सम्पर्क नहीं है तो यह मन केवल इच्छामात्र रह जाता है। इच्छामात्र से कोई काम सिद्ध नहीं होता, सिद्धि के लिये प्रबल संकल्प चाहिये। प्रबल संकल्प उसी समय जागृत होता है जब मन का प्राण के साथ सम्पर्क होता है। पारिभाषिक शब्दों में मन रेतस् है प्राण इस रेतस् को धारण करने वाला स्रुव (चमस) है और वाक् रूप योषा में यह मन रूपी रेतस्पड़ता रहता है। इस प्रक्रिया से वाक् अग्नि प्रवृद्ध होती है। अब जिस समय मन प्राण के साथ सम्पर्क कर संकल्प रूप धारण कर लेता है तब यह आहुति हो जाती है उस समय एक और वस्तु इस आहुति द्रव्य में आ मिलती है, वह ऋत रूप जल है जो कि मस्तिष्क में विद्यमान वाक् लोक १ से उत्पन्न होकर इस संकल्प में आ मिलता है। जब 'ऋत जल आ मिला तब 'त्रयी विद्या'२ भी आ धमकती है। तदनन्तर सब देवों का प्रजनन

---

१. अथ यास्ता आप आयन् वाचो लोकादेतास्ताः। श. प. ६।३।१।९-१०।

२. ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां सैवास्मा प्रतिष्ठाऽभवत् तस्मादाह ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत श. प. ६।१।१।८।
सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्० श. प. ६।१।१।१०।

करने वाला प्रजापति भी आ पहुँचता है। इस प्रकार मनुष्य में ये सब शक्तियाँ उद्बुद्ध हो जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राण सम्पृक्त मन में इतना प्रबल संकल्प होना चाहिये कि कुछ काल पश्चात् मस्तिष्क में ऋत रूप जल (आपः) का उद्गम होने लगे, और ऋतम्भरा प्रज्ञा पैदा हो जाये। इस पारदर्शक ऋत रूपी जल में त्रयी विद्या के साथ देवशक्तियों का प्रजनन करने वाला प्रजापति भी उद्बुद्ध हो जाये तब ये सब मिलकर एक आहुति बनती हैं। प्राचीन समय में आचार्य अपने शिष्यों में उपयुक्त आहुति को डालते थे। यह आहुति वाक् में पड़ती थी और वेदों के विद्वान् बनने के साथ साथ उनमें दिव्यता व आध्यात्मिकता का भी प्रदुर्भाव होता था।

इस प्रकार वाक् का बड़ा महत्व है शास्त्रों में वाक् को ही पृथ्वी माना है१ पृथ्वी में अग्नि समाविष्ट है अतः मुखस्थ वाक्-अग्नि को पार्थिवाग्नि कह सकते हैं। यह वाक् अग्नि नाभि से नीचे के उदर व उपस्थ आदि अंगों में भी पहुँचती है। परन्तु जब वाक्-अग्नि गायत्री का रूप धारण करती है तब उसका वह दिव्य रूप होता है और मुख से उत्पन्न होकर यह गायत्री रूप अग्नि, उदर उपस्थ आदि नीचे के अंगों को अभिव्याप्त कर उन्हें वासना रहित करती है। सामान्य अग्नि और गायत्री अग्नि में एक भेद यह भी है कि गायत्री अग्नि पृथ्वी पर रमण नहीं करती वह ऊर्ध्वगति वाली होती है। इस अवस्था में पुरुष ऊर्ध्वरेतस् बनता है।

मुख द्वारा अग्नि चयन का प्रारम्भ गायत्री १ गान से होता है। इस गायत्री गान से कालान्तर में गायत्र साम की उत्पत्ति होती है। गायत्री को आधुनिक भाषा में भगवान् के प्रति भक्तिभाव भरित संगीत की संज्ञा दी जा सकती है। इस भक्ति-भाव भरित संगीत से मनुष्य में एक आवरण अथवा यह कह सकते हैं कि मनुष्य के आन्तरिक प्राणों में एक शक्ति उद्गत हो जाती है जो कि नीचे के अङ्गों को आक्रान्त कर लेती है। यह आवरण व शक्ति ही गायत्र-साम है। एक तो यह गायत्र-साम=(प्राण) नीचे के शिश्न उपस्थ व उदर आदि अङ्गों को अपने वश में कर उनकी वासनाओं को गायत्री-गान के समय तो अवश्य ही नियन्त्रित कर लेता है। और दूसरा इन अङ्गों में दिव्य अग्नि के साथ इनके सात्विक अंश को प्रवृद्ध कर वीर्य के ऊर्ध्वारोहण में सहायक होता हैं। ब्रह्मचर्य काल में शिष्य से काम, क्रोध आदि वासनाओं को शान्त करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि शिक्षा काल में अन्य विषयों के साथ भक्तिभाव भरित संगीत (गायत्री) को भी स्थान दिया जाय। मै. ३/२/६ में आता है कि 'तेजों वै गायत्री ब्रह्मवर्चसम्' अर्थात् गायत्री ब्रह्मवर्चस् तेज है। अतः इसमें वासना आदि का अभाव होना स्वाभाविक है। शैशव काल में सर्व प्रथम शरीर व प्राण आदि की वृद्धि पर विशेष बल दिया जाता है इनकी वृद्धि अन्न तथा तदुत्पन्न वीर्य पर निर्भर करती है। इसलिये अग्नि चयन यज्ञ को मुख से

१. गायत्री यज्ञमुखं यज्ञ मुखमेवालभ्य यत्सावित्राणि हूयन्ते प्रसूतया।
मै. सं. ३/१/१

प्रारम्भ तो किया पर उसका प्रथम चयन नाभि से जानु प्रदेश तक के अङ्गों में किया जाता है। कहा भी है—'जानुदघ्नं प्रथमं चिन्वानश्चिन्वीत गायत्री-चितम्" मै. सं. ३/३/२ जब नाभि से लेकर जानु तक के सब अङ्ग सुचारू रूप से कार्य करने लगें, उनमें दिव्य अग्नि प्रभूत मात्रा में समिद्ध व प्रवृद्ध हो जाये तो फिर दूसरा अग्नि का चयन ठोड़ी से लेकर नाभि तकके अङ्गों में किया जाता है। इसमें हृदय, फेफड़े (फुफ्फुस) तथा मध्य देह आ जाता है। बच्चे का यह यौवन का प्रारम्भ है। इसमें हृदय तथा मन की संकल्पाग्नि प्रवृद्ध करनी होती हैं। फेफड़े बलवान् बनते हैं। कहा भी है ,नाभि दघ्नं' द्वितीयं चिन्वानश्चिन्वीत त्रिष्टुप् चितम्। मै. सं ३/३/२ अर्थात् दूसरा अग्नि का चयन ठोड़ी से नाभि तक होता है। (यह त्रिष्टुप् छन्द से छन्दित होता है। त्रिष्टुप् में तीन स्तोम (१ हृदय + २ फेफड़े) हैं। इसमें इन्द्र के अधिष्ठातृत्व में अग्नि प्रवृद्ध होती है क्योंकि सारे बल के कार्य इन्द्र के हैं। "इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः।" ऐ. बा. ७/१६ और क्योंकि हृदय तथा फेफड़ों के सशक्त होने पर ही बल का प्रकटन होता है। तीसरा अग्नि के चयन का क्षेत्र सम्पूर्ण मस्तिष्क तथा ठोड़ी तक का प्रदेश होता है। इसमें सभी प्रकार का मस्तिष्क सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान प्रवृद्ध होता है। यथा—"चुबुक-दघ्नं तृतीय चिन्वानश्चिन्वीत जगच्चितम्। मै. सं. ३/३/२ अर्थात् अग्नि का तृतीय चयन सम्पूर्ण मस्तिष्क से ठोड़ी तक के प्रदेश में होता है। यह जगती छन्द से छन्दित होता है।

अग्नि चयन का यह क्रम स्वाभाविक है पर कोई इस क्रम को स्वीकार न कर अन्य क्रम अपनाये या उल्लंघन करे तो वह ठीक नहीं है। प्रारम्भ में ही बच्चे पर आवश्यकता से अधिक मस्तिष्क सम्बन्धी बोझ लाद देना और शरीर वृद्धि पर विशेष ध्यान न देना उस बच्चे की सब शक्तियों की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा उपस्थित करना है। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में कहा गया है। जो महान् क्षेत्र वाली मस्तिष्क अग्नि का चयन करके पीछे छोटे क्षेत्र की अग्नि का चयन करता है। वह छोटे यज्ञ, छोटी प्रजा, थोड़े पशु, स्वल्प अन्नाद्य प्राप्त करता है। वह एक प्रकार से पापी बनता हैं, अर्थात् क्षीण होता है। परन्तु जो छोटी अग्नि का चयन कर आगे महान् से महान् अग्नि का चयन करता चला जाता है वह महान् यज्ञ को महान् प्रजा पशु तथा अन्नाद्य को प्राप्त होता है। वह एक प्रकार से संसार में सुचारू रूप से निवास करता है और आगे आगे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनता चला जाता है। यह अग्नि की उत्तरवती नाम की चिति कहलाती है। क्योंकि इससे चयन कर्ता

---

१. यज्ज्यायांसं चित्वा कनीयांसं चिन्वीत कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसी प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान्त्स्यात्, अथ कनीयांसं चित्वा ज्यायांसं चिनुते ज्यायांसमेव यज्ञक्रतुमुपैति भूयसी प्रजां भूयसः पशून् भूयोऽन्नाद्यं वसीयान् भवत्येष वा अग्ने रुत्तरवती नाम चिति रुत्तरमुत्तरं श्वः श्वः श्रेयान भवति।" मै. सं. ३/३/२

शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त करता जाता है। इसी प्रकार पञ्चचिति, दशचिति आदि रूपों में भी चितियों का वर्णन हुआ है।

रेतस् का सिञ्चन भी अग्नि का चयन माना गया है। शास्त्रों में प्रतिपादित रेतस् पुरुष वीर्य ही नहीं है, शरीर में जहाँ भी जिस शक्ति का व जिस देवता का उद्भव करना हो वहाँ तदनुकूल रेतस् लेना होगा। इसी कारण घृत ६/२/३/४४, आज्य श. प. १/३/१/१८ वाक् (श. प. १/५/२/७ हिरण्यम् तै. ब्रा. ३/८/२।४ आदि रेतस् माने गये हैं। मै. सं० ३/२/८ में आता है कि 'रेतो वा एतत् सिच्यते यदग्निश्चीयते'' अर्थात् अग्नि का चयन रेतस् का सिञ्चन है। जिस प्रकार स्त्री में रेतस् के सिञ्चन से प्रजा की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार अग्नि के चयन में शक्ति व देवता आदि की उत्पत्ति होती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि अग्नि का चयन ओज तथा बल से होता है। सामान्य मनोभाव ही अग्नि चयन में पर्याप्त नहीं है।

इसी दृष्टि से कहा है कि "ओजसा वा एतद् वीर्येणाग्नि श्चीयते" मै. सं. ३/२/८ अर्थात् ओज तथा वीर भाव से अग्नि का चयन होता है। इसमें एक प्रकार से क्षात्र भाव का अवलम्बन करना पड़ता है। (क्षत्रं वा एषोऽग्नीनां यश्चीयते" मै. सं. ३/२/३ ऊर्ज्यग्नि श्चीयते मै. सं. ३/२/५ अर्थात् अग्नि चयन में क्षत्रत्व व ऊर्ज काम आता है।

अग्नि का चयन हिरण्य (रुक्म) में—

एक स्थल पर आता है कि यह अग्नि का चयन पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु लोक में न कर हिरण्य में करना चाहिये। क्योंकि हिरण्य अमृत रूप है। पिण्ड में लोकों से उदर हृदय तथा मस्तिष्क का ग्रहण किया जाता है।

तै. सं. ५/२/७ में आता है कि **ब्रह्मवादिनोवदन्ति न पृथिव्यां नान्तरिक्षे न दिव्यग्निश्चेतव्य इति यत् पृथिव्यां चिन्वीत पृथिवीं शुचार्पयेन्नौषधयो न वनस्पतयः प्रजायेरन् यदन्तरिक्षे चिन्वीतान्तरिक्षं शुचार्पयेन्न वयाँसि प्रजायेरन् यद्दिवि चिन्वीत दिवं शुचार्पयेन्न पर्जन्यो वर्षेद रुक्ममुपदधात्यमृतं वै हिरण्यममृत एवाग्निं चिनुते।"**

ब्रह्मवादियों का कहना हैं कि अग्नि का चयन पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में नहीं होना चाहिये। यदि पृथिवी में भगवान् अग्नि का चयन कर दे तो वह अग्नि इतनी प्रबृद्ध हो जाये कि औषधि वनस्पति आदि सब झुलस जायें तथा पैदा ही न हों। इसी प्रकार पिण्ड में उदर में अत्यधिक अग्नि प्रवृद्ध होने पर भस्मक रोग हो जाये जिससे रस रक्त आदि का निर्माण ही न हो। अन्तरिक्ष में अग्नि के प्रवृद्ध होने पर पक्षिगण ही विनष्ट हो जाये।

हृदय में अत्यधिक अग्नि होने पर उड़ान भरने वाली कोमल भावनायें समाप्त हो जायें। 'वयांसी' पक्षियों को कहते हैं, हृदय में ये उड़ान भरने वाली नाना विध भावनायें हैं। द्युलोक में—अत्यधिक अग्नि होने पर वर्षा की सम्भावना ही न रहे। द्युलोक से मस्तिष्क का ग्रहण करने पर मस्तिष्क में अत्यधिक गर्मी सर्व प्रकार से हानिकारक है। सिरदर्द आदि तो स्थूल भाव हैं पर शुद्धता व क्षुब्धता आदि में किसी भी दिव्य शक्ति व दिव्यज्ञान की वर्षा ही न हो सके। इसलिये अग्नि

का चयन उपर्युक्त तीनों स्थानों में न होकर हिरण्य में होना चाहिये। हिरण्य रुक्म है अर्थात रोचमान है। यह सूक्ष्म शरीर है। इसकी प्रक्रिया यह हो सकती है कि हृदय में स्थित हो अर्थात् चेतना को हृदय में केन्द्रित कर उसे व्याप्त बना लिया जाये जिसे कि योग दर्शन की परिभाषा में 'अनन्त—समापत्ति' कहते हैं। तदनन्तर अग्नि का नाम ग्रहण व चिन्तन से उत्थान किया जाये। इससे अग्नि का चयन हृदय में होता हुआ भी हृदय स्थल में नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी समझना चाहिये।

अग्नि होत्र से अग्नि का चयन—

अग्नि होत्र से भी अग्नि का चयन होता है। यह उसी अवस्था में होता है जबकि बाह्य अग्नि होत्र तथा आन्तरिक अग्नि होत्र का परस्पर समन्वय कर दिया जाता है। दोनों में एक साथ ही आहुति पड़ती है। बाह्य अग्नि होत्र में घी की तथा आन्तरिक अग्नि होत्र में तीव्र विचार रूपी घृत की आहुति दी जाती है। कहा भी है—**एतद्वा अग्निरग्निहोत्रमग्निं वा एतेनाग्निचिद्यच्छति सर्वान् ह वा अस्या अग्नि दोहान् सर्वान् कामान् दुहेय एवं वेद सं वा एतदग्निमिन्धे यच्चिनोति तं दीपयत्येवाग्निरग्निहोत्रेण** मै. सं. ३/२/९ अर्थात् अग्नि अग्निहोत्र को नियन्त्रित करती है। और अग्निचिद् व्यक्ति अग्नि को नियमित करता है अर्थात् अग्निचिद् व्यक्ति ने जिस प्रकार की अग्नि का चयन करना होता है उसके कुछ नियम उपनियम बनाने होते हैं। उसी सीमा तक अग्नि का नियमन करना होता है। यह अग्नि अग्नि होत्र का नियमन करती है। इस प्रकार आन्तरिक तथा बाह्य अग्निहोत्र दोनों का उसी अभीष्ट धरातल पर समन्वय करना होता है। यथा—ज्ञानाग्नि को प्रवृद्ध करने के लिये तदनुकूल नियमोपनियम होंगे। अग्नि होत्र करते हुए भी ज्ञानोपलब्धि को समक्ष करना होगा। योगाग्नि के चयन में 'योग' को चेतना का केन्द्र बनाना होगा। इसी भाँति अन्य क्षेत्रों से सम्बद्ध अन्य अग्नियाँ हो सकती हैं।

क्षात्र अग्नि का चयन—

क्षात्र सम्बन्धी अग्नि की प्रदीप्ति मरुतों से होती है। 'मरुत' आन्तरिक क्षेत्र में प्राण शक्तियां हैं तथा बाह्य क्षेत्र में सैनिक है। सैनिकों में प्राण शक्ति खूब प्रवृद्ध होनी चाहिये इसमें किसी विवाद की शंका ही नहीं है। कहा भी है—**सं वा एतदग्निमिन्धे यच्चिनोति तं दीपयत्येव मारुतैः** मै. सं. ३/३/१० इसी दसवीं कण्डिका में क्षात्र शक्ति व क्षत्रियों के प्रतिनिधि इन्द्र का वर्णन हुआ है। उसी प्रसंग में यहाँ मरुतों द्वारा अग्नि चयन तथा उसकी प्रदीप्ति का वर्णन किया गया है। इसी उपर्युक्त अग्नि चयन को मै. सं. ३/४/३ में निम्न शब्दों में प्रकट किया है। यथा—"**मरुतो हि वायुः संवा एतदग्निमिन्धे यच्चिनोति तं दीपयत्येव वात होमैः** अर्थात् मरुत वायु है। अग्नि चयन करने वाला व्यक्ति वायु द्वारा अग्नि का समिन्धन करता है। ये प्राणशक्ति को बढ़ाने वाले प्राणायाम आदि साधन हैं। इन्हीं का इसमें होम किया जाता है।

अग्नि समिन्धन में घृत की धारा (वसोर्धारा)—

अग्नि को समिद्ध व प्रदीप्ति करने के लिये घृत की धारा अग्नि में डाली जाती है। इस घृत धारा को वेद में 'वसुधारा, 'वसोर्धारा' कहा है। मै. सं. ३/४/१

में इस 'वसोर्धारा' के निम्न प्रयोजन बताये हैं–**'वसोर्धारा जुहोत्य क्लृप्तस्य क्लृप्त्याअशान्तस्य शान्त्या अनभिजितस्याभिजित्या अनवरुद्धस्याविरुद्धयै।' 'वसोर्धारां जुहोति घृतस्य वा एषा धारा"** अर्थात् असमर्थ को समर्थ बनाने, अशान्त को शान्त करने, अविजित को विजितकरने तथा अनवरुद्ध को अवरुद्ध करने के लिये यह घृत की धारा अग्नि मे डाली जाती है। घृत को वसु इसलिये कहते हैं कि यह शक्तियों के 'वास' निवास का हेतु है। अथवा इन्हें यह आच्छादित किये रहता है। वस आच्छादने तथा वस निवासे दोनों से यह 'वसु' निष्पन्न किया जा सकता है। आन्तरिक अग्नि के समिन्धन में विचार प्रहार करना होता है। इससे आन्तरिक अग्नि प्रदीप्त होती है। वाक् अग्नि और उपस्थ आदि को अग्नि एक ही है। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य धारण न कर शिश्न आदि के दुरुपयोग द्वारा इस अग्नि को विनष्ट कर देता है उसकी वाक् अग्नि भी विनष्ट हो जाती है। उसकी वाणी में तेज व ओज नहीं रहता। विद्या भी क्षीणता को प्राप्त हो जाती है। अतः वाक् अग्नि और उपस्थ अग्नि एक ही है। इन दोनों अग्नियों को धारण करने वाले अंग पृथिवी कहे गये हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखकर याज्ञिकों ने 'प्राजापत्याहुति' को मौन होकर देने का विधान किया है। क्योंकि प्राजापत्य कर्म में अग्नि मुख में न रहकर सम्पूर्ण रूप में योनि व शिश्न में उपस्थित रहनी चाहिये। यही रहस्य उपनिषद् में मन और वाक् के पारस्परिक संघर्ष में प्रजापति द्वारा मन का पक्ष लिये जाने पर वाक् का प्राजापत्य आहुति के समय मौनावलम्बन का प्रण लेने में स्पष्ट किया गया है।

यह सावित्र-होम यजुर्वेद के ११ वें अध्याय में वर्णित हुआ है। वहाँ आता है कि सविता सर्वप्रथम यह निश्चय करता है कि अग्नि को खोदकर बाहर निकालना है यह निश्चय करके वह वाणी रूपी कुदाल (अभ्रि) द्वारा पृथ्वी के सधस्थ से अग्नि की खुदाई करता है और ऊर्ध्व में मस्तिष्क की ओर उसे प्रेरित करता है। सविता की प्रेरणा से यह अग्नि की ज्योतिः शिखा रूप में मस्तिष्क में पहुँच तत्रस्थ ऐन्द्रियिक शक्तियों को फैलाती, उद्बुद्ध करती व दिव्य बनाती है। यह गायत्री अग्नि त्रिपदी कहलाती है। शरीर मे ये तीन पाद मुख नाभि तथा मस्तिष्क हो सकते हैं। पार्थिव क्षेत्र से उद्बुद्ध हो यह अग्नि जिस-२ मार्ग का अवलम्बन करती है उस-२ मार्ग को सविता देखता रहता है।

अष्टपदा गायत्री नाम से प्रख्यात यह ज्योति कईयों की दृष्टि में अष्टचक्रों में गति करने वाली कुण्डलिनी भी हो सकती है। मुख से उत्पन्न हो यह गायत्री नीचे के अंगों को अभिव्याप्त कर लेती है परन्तु यह नीचे रमण नहीं करती। पृथ्वी स्थानीय नाभि प्रदेश से ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करती है और दीपशिखा की भांति योगी पुरुषों को दृष्टिगोचर होती है।

अग्नि का उत्खनन

वाक् रूपी (अभ्रि) कुदाल द्वारा अग्नि का उत्सनन शरीर के उदर हृदय तथा मस्तिष्क इन तीनों स्थानों पर होता है। यह उत्खनन अमुक स्थान पर ध्यान को

केन्द्रित कर संकल्प वाली वाक् का प्रयोग करने से होता है। शरीर व शिर आदि को उखा इसलिये कहा जाता है कि इनमें विद्यमान अग्नि को खोदना होता है। उखा शब्द 'उत्खा' १ उत्खनन से बना है। अग्नि के उत्खनन के लिए सविता की प्रेरणा आवश्यक है। सविता का स्थान मस्तिष्क है यहाँ से शरीर के सब अंगों को प्रेरणा जाती है। यजुर्वेद के ११ वें अध्याय के प्रथम ८ मन्त्र सविता की प्रेरणा से सम्बन्ध रखते हैं इनके प्रेरणारूपी कार्यकलाप को शतपथब्राह्मण में सावित्र होम भी कहा गया है। अब हम इन मन्त्रों के आधार पर सावित्र होम का संक्षिप्त रूप प्रदर्शित करते हैं।

१ सर्वप्रथम हमें यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये (निचाय्य) कि दिव्य अग्नि की ज्योति पृथिवी से खोदकर ऊर्ध्व में ले जानी है। इसके लिये प्रथम कर्त्तव्य यह है कि मन का धी के साथ योग किया जाये (युंजते मन उत युंजते धियः)। मस्तिष्क का अधिपति सविता यह कार्य करता है। धी प्रज्ञाकेन्द्रों (Brain Centres) को कहते हैं। याज्ञवल्क्य ने इन्हें २ प्राण नाम दिया है। वास्तव में प्राण, प्राणायतन, प्रज्ञाकेन्द्र, धी व इन्द्रियां आदि संज्ञायें एक ही तत्व के द्योतक हैं। मन्त्र कहता है कि सर्वप्रथम हमें मन का इन प्रज्ञाकेन्द्रों (धी) के साथ योग करना चाहिये। प्रज्ञाकेन्द्रों से संयुक्त मन को 'युक्तमन' कहा गया है। क्योंकि संसार के सभी कार्य युक्तमन से ही सफल होते हैं। ४ अयुक्तमन से संसार का कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं हो सकता। और दिव्य अग्नि की उत्पत्ति तो बिना युक्तमन के नितरां असम्भव है। इस लिये अग्नि की उत्पत्ति के लिए सर्वप्रथम मन को प्राणों व प्रज्ञा केन्द्रों से युक्त करे। मन की इस युक्तावस्था को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि सविता की प्रेरणा निरन्तर होती रहे (सवितुः सवे)। तदनन्तर प्राणसंयुक्त सम्पूर्ण मानसिक शक्ति से द्युलोक की ओर ऊर्ध्वारोहण (स्वर्ग्याय शक्त्या) करने का प्रयत्न करे। हे १ ऋषियों ! द्युलोक में आरोहण कर जाओ, भयभीत मत होओ।

इस ऊर्ध्वारोहण के समय ये देव-दिव्य-इन्द्रियाँ सविता की प्रेरणा से धी-बुद्धिकेन्द्रों से युक्त होकर मस्तिष्क व मस्तिष्क से भी ऊपर द्युलोक की ओर प्रयाण करते हुए एक महान् व दिव्य ज्योतिः व प्रकाश पुञ्ज को उत्पन्न करने लगते हैं यह सविता देव की प्रेरणा का परिणाम है। आध्यात्मिक क्षेत्र में एक स्थिति ऐसी आती है जब कि मस्तिष्क में विद्यमान सविता की प्रेरणायें स्वतः होती हैं उनके लिये प्रयत्न

---

१ इमांल्लोकानुदखनन्यदुदखनंस्तस्मादुत्खोत्खा ह वै तमुखेत्याचक्षते। श. प. ६।७।१।२३।
यजु. ११।१।
२ प्राणा धियः। श. प. ६।३।१।१३
३ न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्। श. प. ६।३।१।१४।
४ आरोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन। अथर्व. १८।३।६४।

करने की आवश्यकता नहीं रहती। आगे चतुर्थ मन्त्र में आता है कि विप्र लोग उस महान् विप्र भगवान् के अन्दर मन को युक्त करते हैं और फिर धी को युक्त करते हैं। मस्तिष्क में विद्यमान सबके ज्ञान व कर्मों के ज्ञाता (वयुनावित्) सविता का एक कार्य यह भी है कि वह सब अंगों (होत्रा) को एकरूप (एक इत्) में कर देता है अर्थात् इन का वैविध्य समाप्त होकर इनमें एकता व एकतानता आ जाती है यह सविता देव का महान् स्तुति के योग्य कार्य है।

आगे ५ वें मन्त्र में अगली भूमिका का चित्र इस प्रकार खींचा गया है कि सविता रूप मन और इन्द्रियों की इस एकत्व की स्थिति में दिव्यज्ञान को उत्पन्न करने वाले सोम रूपी अन्नों के साथ इन का योग होता है। सोम भक्षण से इन मन व इन्द्रियों में सब से पूर्व जिस शक्ति का प्रकाश व प्रकटीकरण होता है, वह ब्रह्म है। यह ब्रह्म त्रयीविद्या व शरीर में ऐन्द्रियिक दिव्य ज्ञान है। सोम भक्षण से उत्पन्न हुआ यह ब्रह्मज्ञान इन मन व इन्द्रियों का प्राण १ बन जाता है। सोम के लिये मन्त्र में **'नमः'** शब्द का प्रयोग हुआ है। क्योंकि सोम की वृद्धि से मनुष्य सौम्य बनता है। उस में नम्रता पैदा होती है। अतः सोम का एक नाम **'नमः'** भी है। इस प्रकार मन व इन्द्रियों की एकता में सोम के सम्पर्क से जो ब्रह्म सम्बन्धी दिव्यज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य लोक में तो उसकी कीर्ति फैलती ही है, पर दिव्यलोकों में विद्यमान अमर देवों में भी उस की कीर्ति जा पहुंचती है। जिस प्रकार राजा के प्रयाण करने पर राजसभा के सब सभासद भी राजा का अनुगमन करते है, उसी प्रकार मनुष्य की इन्द्रियाँ व मन आदि सम्पूर्ण शक्तियां ऊर्ध्वारोहण में सविता का अनुगमन करती हैं। जितने भी पार्थिव अर्थात् शारीरिक संस्थान हैं, उन सब का यह सविता अपने ओज से पुनर्निर्माण करता है। अन्त में सर्वप्रेरक सविता प्रभु से प्रार्थना है कि "हे सर्वप्रेरक सविता देव ! तू इस सावित्र-यज्ञ को प्रेरित कर, इसे पूर्ण कर, दिव्य ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये इस यज्ञपति को तू सदा प्रेरित करता रहे। ज्ञान को पवित्र करने वाला यह दिव्य गन्धर्व हमारे ज्ञान को पवित्र करे। और वाणियों का स्वामी हमारी वाणी को दिव्यज्ञान से मधुर बनावे।" "यह सावित्र-यज्ञ देवों का रक्षक है। जीवात्मा के सच्चे सखा भगवान् को प्राप्त कराने वाला है आन्तरिक स्थानों को जिताने वाला ऐश्वर्यों को जिताने वाला तथा स्वर्ग को प्राप्त कराने वाला है।"

ये उपर्युक्त आठयजुर्मन्त्र हैं। इन से सावित्र-होम किया जाता है। सावित्र-होम की दूसरे शब्दों में सविता की प्रेरणायें व सावित्र कर्म कहा गया है। इस सावित्रहोम व सविता की प्रेरणाओं का क्या स्वरूप है यह उपर्युक्त आठ मन्त्रों के आधार पर जाना जा सकता है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि मन व इन्द्रियाँ आदि शारीरिक शक्तियों को चहुं ओर से समेट कर ऊर्ध्वारोहण करते हुए

---

१ प्राणो वै ब्रह्मापूर्व्यमन्नं नमस्तत्तदेषैवाहुति रन्नमेतयैव तदाहुत्यैतेनान्नेन प्राणा-नेतस्मै कर्मणे युंक्ते। श. प. ६।३।१।१७।

मस्तिष्क में एकाग्र करना और इतना एकाग्र करना कि इन का वैविध्य समाप्त होकर एक चेतना प्रवाह ही अवशिष्ट रहे यह सावित्र-होम का एक स्वरूप है। इस सावित्र-होम के द्वारा मस्तिष्क की अग्नियों को प्रदीप्त किया जाता है। अग्नि की प्रदीप्ति के लिये आगे मन्त्रों में कुछ साधन बताये गये हैं, जिन पर केवल हम संक्षिप्त टिप्पणी ही प्रस्तुत करते हैं।

आठ मन्त्रों से एक आहुति—

१ इन आठ मन्त्रों से केवल एक ही आहुती देनी है पृथक-२ नहीं। यह ही समृद्धि १ व सफलता का सूचक है। इस का भाव यह है कि इन आठ मन्त्रों में जो जो बातें कही गई हैं उन सबको एक बार में ही करना है। कोई क्रिया कभी कर ली कोई कभी या तोड़-२ कर की तो इस से सफलता नहीं मिल सकती। ऐसा समझना चाहिये कि इस शिरोयज्ञ में आठ मन्त्रों वाली यह एक ही आहुति है।

सन्तत होम—

दूसरे यह होम अविच्छिन्न धारा रूप में होना चाहिये। अर्थात् मन व इन्द्रियाँ आदि की एकाग्रता की अवस्था निरन्तर बनी रहनी चाहिये। मध्य में अवकाश होने पर अन्य विघातक विचार प्रविष्ट होकर इस के उद्देश्य को विनष्ट कर देंगे।

१ देवताओं को भय हुआ कि कही हमारे इस यज्ञ के विघातक राक्षस अनुप्रविष्ट न हो जावें। इस लिये उन्होंने इस सावित्रहोम को सततरूप (सन्ततहोम) में किया।

अषाढ़ा—

इस प्रकार इस सावित्रहोम को निरन्तर धारा रूप में करते रहने पर विघातक आसुरी विचार प्रविष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि वे इस 'सन्ततहोम' की तेज धारा को सहन नहीं कर सकते। इसी लिये इसे आषाढ़ा २ भी कहा गया है।

ऊर्ध्व धारा—

मन व इन्द्रियों की एकाग्रता की अवस्था में निरन्तर ऊर्ध्व की ओर प्रवाहित

---

१ यं कामयेत ऋध्नुयादिति तस्य सकृत् सर्वाण्यनुद्रुत्य जुहुयात् ऋध्नोति। अथ यं कामयेत पापीयान्त्स्यादिति तस्य नाना जुहुयात्।

२ अथ यदेकामाहुतिमष्टाभि र्यजुर्भिर्जुहोति तस्मादेकस्मै सते बहवो बलिं हरन्ति बहवो हास्य बलिहृतो भवन्ति॥ मै. सं. ३।१।१।
तस्मादियमेका सत्यष्टधा विहिता। श. प. ६।३।१।३।

३ तां सन्ततां जुहोति। एतद्वै देवा अबिभयुर्यद्वै न इह रक्षाँसि नाष्ट्रा नान्वयेयुरिति त एतं सन्ततहोममपश्यन् रक्षसां नाष्ट्राणामनन्ववायनाय तस्मात् सन्ततां जुहोति। श. प. ६।३।१।५।

४ तामुपाधायासुरान्त्सपत्नान् भ्रातृव्यानस्मात् सर्वस्मात् असहन्त। यदसहन्त तस्मादषाढ़ा। श. प. ७।४।२।३३।

होने वाली यह चेतना की धारा ऊर्ध्वधारा कहलाती है । श. प. ६।३।१।१४ में कहा है कि "तामूर्ध्वामुद्गृहणन्जुहोति । इमां तदूर्ध्वां रूपैरुद्गृहणाति । तस्मादियमूर्ध्वा रूपैः ।

अर्थात् आठ मन्त्रों से दी जाने वाली यह आहुति धारा रूप में ऊर्ध्व की ओर प्रवाहित की जाती है । यह ऊर्ध्वारोहण का संकेत मन्त्रों में 'स्वर्ग्याय शक्त्या' तथा 'स्वर्यतो धिया दिवम्' वाक्यों द्वारा निर्दिष्ट हुआ है ।

अर्द्धेन्द्र (इन्द्रियों का विषयों से आधा सम्पर्क) द्वारा आसुरी विनाश—

मैं. सं. ३।४।१। में आता है कि **"अर्धेन्द्रै वैं देवा इन्द्रियं वै वीर्यमसुराणामवृञ्जतेन्द्रियमेवैतै वीर्यं यजमानो भ्रातृव्यस्य वृंक्ते ।"** अर्थात् देवों ने अर्धेन्द्रोद्वारा असुरों की इन्द्रिय शक्ति को विनष्ट कर दिया। इसी अर्धेन्द्रो द्वारा यजमान भी अपने शत्रु के इन्द्रिय वीर्य को विनष्ट कर देता है । इसके स्पष्टीकरण के लिये वहाँ एक कथानक आता है जो कि इस प्रकार है "देवों तथा असुरों में स्पर्धा हुयी। देवों ने इन्द्र से कहा कि हम तेरे द्वारा इन असुरों को जीतना चाहते हैं । इन्द्र ने कहा ठीक है पर इसमें मुझे क्या भाग प्राप्त होगा ? देवों ने कहा—वरण कर लो । तब इन्द्र ने कहा कि मैं देवताओं के आधे भाग का स्वामी होऊं । शर्त स्वीकार हुयी, देवता विजयी बने ।"

इस कथानक का रहस्य यह है कि जब इन्द्रियाँ आसुरी शक्ति के अधीन होती है तब उन द्वारा आसुरी कार्य होता है । इन इन्द्रियों द्वारा देव कार्य होने लगे इसका उपाय यह है कि इन्द्रियों को आसुरी पाश से छूटकारा दिलाया जाये। वह छुटकारा इस प्रकार हो सकता है कि इन्द्रिय का विषय के साथ आधा सम्बन्ध हो । जब किसी विषय के प्रति इन्द्रिय पूर्ण रूप से जाती है तब यदि मन भी पूर्ण रूप से जाये तो उस विषय के प्रति मनुष्य में आसक्ति पैदा होती है । इस बुरी आसक्ति से छूटकारे का उपाय यह है कि मन तो पूर्ण रूप से उस विषय की ओर जाये ही नहीं और उल्टा इन्द्रियों को भी खींचे रखे । वहाँ मन के पूर्ण रूप से न होने पर विषय के प्रति आसक्ति व संग नहीं पैदा होगा । यह मन ही इन्द्रियों के अधिपति की दृष्टि से इन्द्र कहलाता है । इस इन्द्र में इन्द्रिय की आधी शक्ति खिची रहती है अतएव वह पूर्ण रूप से विषय के प्रति नहीं जा पाती । यही 'अर्धेन्द्राणि जुहोति का भाव है ।

आहुति साधन वाक् और प्राण—

१ इस शिरोयज्ञ में आहुति के साधन वाक् और प्राण हैं । कर्मकाण्ड की भाषा में ये दोनों स्रुवस्रुग् कहलाते हैं । प्रजनन की भाषा में इन्हें प्रजापति और

---

१ प्राणो वै स्रुवः प्राणः प्रजापतिरथ या सा वागासीत् एषा सा स्रुग् योषा वै वै वाग् योषा स्रुग् अथ यास्ता आप आयन् वाचोलोकादेतास्ता यामेतामाहुति जुहोति । श. प. ६।३।१।८ अथ यः स प्रजापति स्त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशद् । श. प. ६।३।३।१

योषा नाम दिया गया है। वाक् योषा है और प्राण प्रजापति है। यह वाक् मस्तिष्क के विश्वरूप यश (जल = मस्तिष्क द्रव) में तैरते हुए ब्रह्मरूपी हंस की वाक् है। यह 'वाचो लोक' कहलाता है। प्राण और इस वाक् लोक के सम्पर्क से एक रस पैदा होता है। (आप आयन्वाचो लोकादेनास्ता:) : इसी रस को ये ऐन्द्रियिक शक्तियाँ यज्ञ में डालती रहती हैं और अपने-२ कार्य का निर्वाह करती हैं। इस वाक् और प्राण के सम्पर्क से एक चिनगारी, विद्युत् व अग्नि पैदा होती है, जो कि ऐन्द्रियिक बल्वों (गोलकों) को प्रज्वलित कर देती है। इन्द्रियों के कार्य करने का यह प्राचीन वर्णन है। इसी रस (आप:) में यह प्राण प्रजापति त्रयी-विद्या द्वारा प्रविष्ट होता है, जिससे कि मनुष्य को त्रयी-विद्या में निहित तद् द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। सावित्रहोम सम्बन्धी आठ मन्त्रों से सततरूप में एक आहुति देने पर इन्द्रियों में अग्नि की उत्पत्ति होती है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि "१ अग्नि देवों से उत्क्रमण कर गई। उन देवों ने कहा कि यह अग्नि पशु है। पशु पशुओं के संघ में ही जाता है। अतः इस पशु-अग्नि को पशुरूपी इन्द्रिय-गोलकों में प्राप्त करते हैं। क्योंकि यह पशु अग्नि अपने पशुरूप में प्रकट होती है। वे पशु गौ, अश्व और पुरुष हैं।" हमें यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि ये तीन पशु गुह्यभाषा में मनुष्य के आन्तरिक अवयव हैं। अब विचारणीय यह है कि गौ, अश्व और पुरुष मनुष्य के आन्तरिक अवयव किस प्रकार हैं ? हम और पशुओं पर विचार न करके उदाहरणार्थ अश्व पर विचार करते हैं। अश्व आन्तरिक सूर्य है जिस की सप्तरश्मियाँ सिर में सप्तप्राणों द्वारा चहुँओर बिखर रही हैं। परन्तु प्रमुख रूप से यह अश्व चक्षु द्वारा बाहिर की ओर को गति करता है। इसलिये चक्षु को हम अश्व मानकर ही यहाँ विचार करते हैं। इस चक्षु रूपी अश्व की सहायता से चक्षु गोलक में दिव्य अग्नि की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

चक्षु सम्बन्धी दिव्य अग्नि का खनन

जिस प्रकार अग्नि के आदि स्रोत व भण्डार इस सूर्य से पृथिवी पर अग्नि आती है (सूर्योऽग्नेर्योनिरायतनम् तै. ब्रा. ३।२।२१।२) और वह यहाँ औषधि, वनस्पति तथा अन्य प्राणियों की उत्पत्ति में कारण बनती है। उन में फिर नये रूप में प्रकट होती है। उसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में विद्यमान सूर्य से सप्तरश्मियों, सप्तकिरणों, सप्तेन्द्रियों के रूप में जो शक्ति इन्द्रिय-गोलकों में पहुंचती है, वह अग्नि है। इन इन्द्रिय-गोलकों में इस अग्नि को अत्यधिक मात्रा में प्रकट करना अर्थात् इसे दिव्य बनाना ही इस अग्नि-खनन का वास्तविक प्रयोजन है। यहाँ हम सब इन्द्रियों का ग्रहण न कर चक्षु सम्बन्धी इन्द्रिय में ही दिव्य अग्नि के पैदा करने के साधनों पर विचार करते हैं। चक्षु को अपने केन्द्र (Brain centres) से बाह्यवस्तु तक पहुंचने में तीन क्षेत्र पार करने पड़ते हैं। एक तो मस्तिष्क-द्रव से चक्षु केन्द्र तक दूसरा

---

१ अग्निर्देवेभ्यउदक्रामत् ते देवा अब्रुवन् पशुर्वा अग्निः पशुभिरिममन्विच्छाम स स्वाय रूपाया विर्भविष्यतीति। श. प. ६।३।१।२२।

चक्षुकेन्द्र से गोलक तक तीसरा गोलक से वाह्य विषय तक ये तीन क्षेत्र हैं। इन्हीं तीनों क्षेत्रों के आधार पर चक्षु को तीन नाम दिये गये हैं और वे भी पशुओं के नाम रखे गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं अश्व, रासभ और अज। अब सब से पूर्व हम अश्व पर विचार करते हैं।

अश्व—

इस सौर मण्डल का अधिपति आदित्य अर्थात् सूर्य है। इससे प्रसृत होने वाली १ सैकड़ों व सहस्रों किरणें वेदों में अश्व कही गई हैं। परन्तु इन किरणों का अश्व नाम उसी समय होता है, जब कि वे अग्नि रूप में सम्पूर्ण पृथिवी को अभि-व्याप्त (अशूङ् व्याप्तौ) कर लेती हैं। इसी प्रकार मानव शरीर में मस्तिष्कान्तर्गत विज्ञानातमा भी सूर्य है। जिस से सैंकड़ों व सहस्रों नस नाड़ियों के माध्यम द्वारा ऐन्द्रि-यिक शक्तिएं शरीर में चहुं ओर प्रसृत हो रही हैं। जिस प्रकार भौतिक सूर्य की ये सैंकड़ों व सहस्रों किरणें स्वरूप की दृष्टि से ७ प्रकार की हैं। इसी प्रकार ये सैंकड़ों नसनाड़ियां भी सात२ इन्द्रियकेन्द्रों में विभक्त करने पर ७ प्रकार की कहलाती हैं। ये अपने गोलकों व विषयों में व्याप्त होने के कारण अश्व नाम से कही जाती हैं। भौतिक सूर्य ही आदित्य है। यही सूर्यकिरणों के रूप में ३ अश्व नाम को धारण करता है। इस अश्व ४ का दिव्य जन्म द्युलोक में है। अन्तरिक्ष इस का मध्यबिन्दु है और पृथिवी इस की योनि है। यह पार्थिवाग्नि भी इसी का प्रसृत व व्याप्त रूप है। इस लिये आदित्य, अग्नि और अश्व ये सब नाम एक ही तत्व के द्योतक हैं, और सूर्य के विभिन्न रूप हैं। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सूर्य के ये सब रूप रहते हुये भी उस का प्रमुख रूप ५ चक्षु है जो कि सम्पूर्ण भुवन को दिखाने वाला है। इसी प्रकार शरीर में भी मस्तिष्क-सूर्य सप्तेन्द्रियों द्वारा अभिव्याप्त होने से अश्व कहलाता है। परन्तु इस का प्रमुख रूप चक्षु में है। मानव शरीर में यह चक्षु भी सूर्य व आदित्य का ही ६ अंशावतार है। इस लिये हम यहां आदित्य को चक्षु मान-कर उसके अश्वरूप को प्रदर्शित करते हैं ? वास्तव में सम्पूर्ण चक्षु का नाम अश्व

---

१ यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः अथर्व. १३।२।६. ७

सूर्यस्याश्वाः हरयः। अथर्व. १३।१।२४।

२ सप्तादित्य = सप्तेन्द्रिय।

३ असौ वा आदित्य एषोऽश्वः। श. प. ६।३।१।२६।

असौ वा आदित्य एषोऽग्निः। श. प. ६।४।३।१०।

अग्निर्वा अश्वः। श. प. ३।६।२।५।

४ दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्। यजु. ११।१२।

५ सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः। अथर्व. १३।१।४५

६ सूर्यो में चक्षुषि श्रितः। तै. ब्रा. ३।१०।८।५

है। परन्तु सूक्ष्म विवेचन के लिये उस के तीन विभाग किये गये हैं। वे तीन विभाग भी तीन पशुओं के नाम से हैं।

इन में इन्द्रिय गोलक से बाहिर भूमि पर विद्यमान वस्तु को घेरने वाली चक्षु-किरण ही अश्व कहलाती है (भूम्या वृत्वाय यजु० ११।१९) अश्व के इस रूप को शास्त्रों में इस प्रकार दर्शाया गया है "१ प्रजापति की आंख बढ़ी और परे जाकर गिरी उस ने वस्तु को व्याप्त किया और वह अश्व कहलाई।" इस उपर्युक्त उद्धरण में "परापतत्" प्रयोग से यह स्पष्ट है कि चक्षु-गोलक से निकलकर पदार्थ पर गिरने वाली और वस्तु को अभिव्याप्त करने वाली चक्षु-किरण ही अश्व नाम से कही जाती है। अग्नि-खनन के लिये यह आवश्यक है कि चक्षु-किरण निरन्तर वस्तु को देखे। पृथिवी पर विद्यमान वस्तु को निरन्तर देखना, मस्तिष्क में विद्यमान अग्नि को खोदना है, जिससे चक्षु दिव्य बनती है। इसी बात को मन्त्र में कहा है कि "वह २ वाजी पृथ्वी पर आते हुए मार्ग के सब शत्रुओं को कंपा देता है। और महत् सधस्थ अर्थात् मस्तिष्क में विद्यमान अग्नि को चक्षु से देख लेता है।' इस प्रकार मन्त्र के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चक्षु से देखते तो हम पृथ्वी पर हैं, पर अग्नि जागृत होती है मस्तिष्क में चक्षु केन्द्र की। परन्तु कहा यह जाता है कि अग्नि पृथ्वी के सधस्थ से खोदी गई। पृथ्वी पर निरन्तर देखते रहने पर होता यह है कि चक्षु पृथ्वी को देखते हुए भी नहीं देखती। वह कुछ समय पश्चात् अपने केन्द्र में आरोहण कर जाती है। इसी तथ्य को मन्त्र में इस प्रकार कहा है कि "स्व की की ओर आरोहण करते हुए हम उत्तम ३ नाक अर्थात् मस्तिष्क में शुभ लक्षणों वाली अथवा श्रेष्ठ ज्ञान कराने वाली अग्नि का खनन करते हैं।'

इस प्रकार प्रमाणों से हमने यह देखा कि चक्षु का वह रूप या वह किरण अश्व है, जो कि इन्द्रिय-गोलक से निकलकर पृथ्वी पर बाह्य वस्तु को अभिव्याप्त कर लेती है। अब हम चक्षु के अज रूप पर विचार करते हैं।

अज

कपाल के अन्दर विद्यमान ४ रस (आपः = Cerebro Spinal Fluid) अज है। वस्तुतः इस रस को अज नहीं कहते, इस रस में जो गति व क्षेपण (अज गति-क्षेपणयोः) का गुण है, वही अज है। यह आदित्य व सूर्य का स्थान है अर्थात् द्युलोक है। इस रस के चारों ओर सिर के अन्दर विद्यमान सप्तऋषि अपना २ आश्रम बनाकर विराजमान हैं। इस रस-स्थान से सब इन्द्रियों व संपूर्ण शरीर की नस नाड़ियों को आज्ञा प्रदान करना, प्रेरित करना तथा उन्हें अग्नि पहुंचाना आदि काम इस अज रूपी रस, का ही है। इस लिये इस अज को आग्नेय भी कहा गया है। सब इन्द्रिय-गोलकों, वेद की भाषा में सब ऐन्द्रियिक पशुओं को उसी अज केन्द्र से अग्नि, रस व शक्ति आदि आती जाती है। इसलिये ५ अज को सब पशुओं का रूप बताया गया

---

१ प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत्परापतत्ततोश्वः समभवद् यदश्वयत् तदश्वस्याश्वत्वम्। चक्षुषोऽश्वम्—श. प. ७।५।२।६ शः १३।३।१।१। तै, ब्रा. १।१।५।४।

२ आगत्य वाज्यध्वानं सर्वा मृधो विधूनुते। अग्निं सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते। यजु. ११।१८

३ ततः खनेम सुप्रतीकमग्निं स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम्। यजु. ११।२२।

४ अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् सोऽजोऽभवत्। श. व. ६।१।१।११

५ अजे हि सर्वेषाँ पशूनां रूपम्। श. प. ६।५।१।४।

है । १ वाक् और ब्रह्म भी यही अज है । यह वाक् ब्रह्मसंवलित वाक् है जो कि सप्तेन्द्रिय द्वारों में विभक्त होती है । जब यह २ वाक् गति व क्षेपण गुण प्राप्त कर सब इन्द्रिय-द्वारों में पहुंचती है, तब गति के कारण इस वाक् को भी अज कह देते हैं । चक्षुशक्ति को बाहर गोलकों के प्रति प्रेरित करना इसी अज का काम है ।

रासभ

हम पूर्व में यह दर्शा चुके हैं कि अज और अश्व मानव शरीर में विद्यमान ऐन्द्रियिक शक्तियां हैं, तो इससे यह स्पष्ट है कि रासभ भी मनुष्य की कोई आन्तरिक शक्ति ही होनी चाहिये । इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि कपाल में विद्यमान रस अज है, जो कि चक्षु केन्द्र को गति देता है । आगेचक्षु केन्द्र से चक्षुगोलक तक ऐन्द्रियिक शक्ति को वहन करके लाने वाला रासभ है । और गोलक से बाहिर पृथिवी पर आकर वस्तु को घेरने वाली चक्षुकिरण अश्व है । यह चक्षुकिरण जब तक गोलक में ही रहती है, तब तक उसे रासभ वहन करता है । रासभ से यहां खच्चर व गदर्भ पशु का ग्रहण नहीं करना है । यह तैं. सं. के निम्न वाक्य से ध्वनित हो रहा है । वहां आता है कि जो ३ पुरीष्य अग्नि को धारण करने वाला अवयव है, उसे ऋषि लोग "रासभ" कहते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि रासभ खच्चर व गर्दभ पशु नहीं है । हां, रासभ पशु से कुछ२ गुण व क्रिया का साम्य हो सकता है । चक्षुकेन्द्र से चक्षुगोलक तक अश्वियों के क्षेत्र हैं । इन्हें ही अश्वियों के ४ बाहू कहते हैं । रासभ अश्वियों का वाहन है । इस प्रकार चक्षु के तीन विभाग किये गये हैं, जो कि आनुपूर्वी रूप से इस प्रकार हैं अर्थात् पहले ५ अश्व फिर रासभ और फिर अज । यह आनुपूर्वी क्रम बाहिर की ओर से अन्दर की ओर को है । अर्थात् अश्व के पैर भूमि पर आकर पड़ते हैं (भूम्या वृत्वाय) । और रासभ के पैर चक्षुगोलक पर । इसी दृष्टि से सायणाचार्य ने कात्यायन श्रौत सूत्र की निम्न प्रकार की व्याख्या की है । ६ "पहले अश्व मध्य में रासभ और फिर अज यह आनुपूर्वी क्रम से समझने चाहिये ।" यह क्रम बाहिर की ओर से अन्दर की ओर को है । भूमि

---

१ वाग्वा अजः, ब्रह्म वा अजः । श. प. ७।५।२।२१,६।४।४।१५ ।

२ वाचोऽजं निरमिमीत । श. प. ७।५।२।६ ।

३ नानदद्रासभः पत्वा इत्याह रासभ इति ह्येतमृषयोऽवदन् भरन्नग्निं पुरीष्यमित्याहाग्निं ह्येष भरति । तैं. स. ५।१।५ ।

४ युञ्जाथां रासभं युवम्० यजु० ११।१३ ।

५ अश्वः प्रथमोऽथ रासभोऽथाज एवं ह्येतेऽनुपूर्वम् । श. प. ६।३।१।२८ ।

६ प्रांचोऽश्वगर्दभाजाः पूर्वापरा रासभो मध्येऽश्वपूर्वाः । का. श्रौ. १६।४७ ।
अश्वपूर्वाः पद्भ्यां पूर्वापराः सन्तः प्राञ्चः प्राङ् मुखाः तिष्ठन्तीति ।
सायण श. प. ६।३।१।२७

पर विद्यमान वस्तु पर चक्षु-इन्द्रिय के पैर पड़ते हैं। पैर वस्तु पर हैं तो सिर की ओर से अन्दर की ओर को प्रयाण करना होता है। इसी दृष्टि से सायणाचार्य ने सूत्र की व्याख्या करते हुये लिखा है कि यह पूर्वापर पैरों की ओर से लेना है। अश्व के पैर भूमि पर पड़कर वस्तु को अभिव्याप्त कर लेते हैं, और फिर इन्द्रिय-गोलक की ओर प्रयाण करने पर रासभ के पैर चक्षुगोलक पर मिलते हैं। इस प्रकार अन्दर की ओर प्रयाण करते हुये इन्द्रियों के केन्द्र स्थान पर पहुँच जाते हैं।

अश्व का पूर्वयोग—

यह विचारणीय है कि अश्व का पूर्वयोग क्यों किया जाता है? और अश्व, रासभ और अज को पूर्वोत्तर क्रम से योग करने का क्या तात्पर्य है? इत्यादि बातें गम्भीर विवेचन की अपेक्षा रखती हैं। हमारे विचार में यह ध्यानयोग सम्बन्धी एक गुह्य प्रक्रिया है। चक्षु में दिव्य अग्नि के आविर्भाव व दिव्यशक्ति की उत्पत्ति के लिये एक प्रच्छन्न साधन है। अश्व के पूर्वयोग का तात्पर्य यह है कि सबके पूर्व वस्तु को एकाग्र दृष्टि से निरन्तर देखना। इस अवस्था में दृष्टिशक्ति वस्तु को अभिव्याप्त कर लेती है। यह अश्व का पूर्वयोग है। यहाँ पर प्रश्न पैदा होता है कि अश्व का पूर्वयोग क्यों करे? अर्थात् सबसे पूर्व बाह्य वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित क्यों किया जाये? इसका समाधान यह है कि मनुष्य का ध्यान बाह्य वस्तु पर ही अधिक, केन्द्रित होता है। रासभ की अवस्था अर्थात् इन्द्रियगोलकों में ध्यान लग ही नहीं सकता। क्योंकि इस अवस्था में ध्यान का कोई लक्ष्य नहीं होता। इसलिये मन अपने स्वभाव के अनुसार इधर उधर उछाल भरता रहता है। मन में नाना प्रकार के विचार उद्बुद्ध होते रहते हैं। परन्तु यदि पहले ही किसी बाह्य वस्तु पर दृष्टि शक्ति को बांध दिया जाये तो मन ही स्वभाव से बंध जाता है। यह बाह्य वस्तु मन रूपी पशु के लिये यूप का काम करती है। अश्व का पूर्वयोग योगदर्शन की परिभाषा में "सम्बन्ध-संयम" का रूप है। एक वस्तु पर ध्यान को निरन्तर केन्द्रित करने पर ध्यान स्वयं ही शनैः शनैः अन्दर की ओर प्रयाण करता है। और अश्व रासभ व अज का स्वयं ही योग होता चला जाता है। बहिर्मुखी अवस्था से अन्तर्मुखी अवस्था हो जाती है। १अश्व और रासभ के योग का फल शास्त्रों में इस प्रकार दिया है कि अश्व का पूर्वयोग और गर्दभ का अपरयोग पाप विचार की निवृत्ति के लिये होता है। अश्व से अन्दर की ओर प्रयाण करना अग्नि के खनन२ के लिये हैं और पापादि ३विचारों व संहारक भावों के अभिभव के लिये है। ये आसुरी शक्तियाँ बहुमुखी होती हैं और पाप का आंशसन करने वाली होती हैं। इस प्रकार बहुमुखी और बहिर्मुखी वृत्ति को पाप व भ्रातृव्य कहा गया है। यह बहुमुखी

---

१. अश्वं पूर्वंनयन्ति गर्दभमपरं पापवसीयसस्य व्यावृत्त्यै। मै. सं. ३।१।२

२. यदश्वेन यन्त्यग्नेरेवानुख्यात्यै। मै. सं. ३।१।२

३. यदश्वेन भ्रातृव्यस्याभिभूत्यै। एतं वै रक्षांसि नातरन् बहु वै भ्रातृव्यः पापमाशस्तिः भ्रातृव्यः। कपि २९।८

वृत्ति उस समय समाप्त हो आती है, जबकि मनुष्य बाह्य वस्तु को एकटक होकर देखता है। यह अश्व का पूर्वयोग है। इसके अनन्तर शनैः-२ मनुष्य का ध्यान वस्तु से हटकर इन्द्रियगोलकों में आ केन्द्रित हो जाता है। यह अश्वियों का क्षेत्र है। मन्त्र में अश्वियों से कहा है 'युञ्जाथां रासभं युवम्' हे अश्वियों! तुम रासभ को युक्त करो। इसके पश्चात् ध्यान को मस्तिष्क में केन्द्रित करना होता है। ध्यान को मस्तिष्क में केन्द्रित करना 'अज' में केन्द्रित करना है'। यहाँ पहुँचकर दिव्य अग्नि का खनन किया जाता है। यह सब प्रक्रिया स्वयं होती जाती है। मनुष्य का केवल प्रयत्न यह होना चाहिये कि वह बहुमुखी विचार को उद्‌बुद्ध न होने दें। और यह बहुमुखी विचार भी मनुष्य को आक्रान्त नहीं कर सकता, यदि वह अश्व का पूर्वयोग पूर्ण रूप से करता है।

अग्नि का खनन व उसके साधन—

वेद में अग्नि को खोदने का १साधन अभ्रि बताया गया है। अभ्रि एक प्रकार की कुदाल है, जिससे अग्नि खोदी जाती है। २सविता इस अभ्रि को अपने हाथ में धारण करता है और अग्नि को खोदता है। यहाँ सविता ३मन को बताया गया है। और अभ्रि छन्दोमयी ४वाक् है। इनका भाव यह है कि चक्षु केन्द्र में पहुँच कर मनोयोग द्वारा जब हम छन्दोमयी वाणी का बार-बार प्रहार करते हैं तो यह केन्द्र स्थित अग्नि खोदी जाती है। वेद की भाषा में यह कहा जा सकता है कि मन रूपी सविता ने वाणीरूपी अभ्रि को पकड़ा हुआ है। सविता प्रेरक को कहते हैं। मन भी वाणी को बार-बार प्रेरित करता है अतः मन सविता है। मन रूपी सविता तीन मन्त्रों द्वारा इस वाक् रूपी अभ्रि को पकड़ता है। वे मन्त्र यजु. ११।९-११ हैं। इस प्रकार चाक्षुष अग्नि के प्रज्वलित करने, चक्षु-इन्द्रिय में दिव्यशक्ति पैदा करने के लिये अश्व रासभ और अज के क्रम से चक्षुकेन्द्र में पहुँचकर पूर्ण मनोयोग पूर्वक उपर्युक्त मन्त्रों का उच्चारण व ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार करने से चक्षु इन्द्रिय में दिव्य अग्नि की उत्पत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों की अग्नियों को प्रदीप्त किया जा सकता है। "प्रदीप्ता एते अग्नयो भवन्ति" श. प. ६।३।३।१। इन ऐन्द्रियिक अग्नियों की प्रदीप्ति व दिव्यीकरण की प्रक्रियायें बड़ी सूक्ष्म व गहन हैं।

---

१. अभ्रिरसि नार्यसि त्वया वयमग्निं शकेम खनितुं सधस्थ आ।
श. प. ६।३।१।४१ यजु. ११।१०।

२. हस्त आधाय सविता बिभ्रदभ्रिं हिरण्ययीम्।
यजु. ११।११ श. प. ६।३।१।४१।

३. मनो वै सविता प्राणा धियः। श. प. ६।३।१।१३।

४. हिरण्मयी ह्येषा या छन्दोमयी, तान्येतान्येव छन्दांस्येषा अभ्रिः।
श. प. ६।३।१।४१।

वाग् वा अभ्रि—वाचा वा एतमभ्र्या देवा अखनंस्तथैवैनमयमेतद्वाचैवाभ्र्या खनति। श. प. ६।४।१।५।

इनका एक-एक क्रम व पद-विन्यास बहुत सम्भल कर करने की आवश्यकता है। यह सब ब्राह्मण ग्रन्थों व यजु शाखाओं में अति विस्तार से दे रक्खा है। हमने संक्षेप में इस विस्तृत प्रकरण की केवल व्याख्या शैली ही प्रदर्शित की है। इन अग्नियों के प्रदीप्त होने व दिव्यीकरण से मनुष्य ऋषि बन जाता है।

सावित्र होम मन्त्रों की व्याख्या—

परमेश्वर आदि सूक्ष्म तत्वों की उपलब्धि के लिये (तत्त्वाय) सर्वप्रथम हमें युक्त मन तथा स्थित प्रज्ञ बनने की आवश्यकता है। इसके लिये प्रथम कर्त्तव्य यह है कि मन को युक्त किया जाये। जब मनुष्य युक्त मन हो जाये तदनन्तर स्थित प्रज्ञ बनने का अभ्यास करे।

युञ्जते मनः उत युञ्जते धियः, युञ्जानः प्रथमं मनः

इस प्रकार अभ्यास से जब युक्त मन तथा युक्त धी हो जाये तब तीसरा पग यह है कि मन का बुद्धि से योग किया जाये। यह सब कार्य मस्तिष्क के अधिपति सविता देव की प्रेरणा पर निर्भर है। मन की सत्ता हृदय में है और बुद्धि की मस्तिष्क में। इस प्रकार मन और बुद्धि को परस्पर संयुक्त किया जाये। इसी को निम्न मन्त्र में इस प्रकार कहा है—"मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।" अर्थात् हृदय तथा मूर्धा को एक रूप में सीना अर्थात् एकाकार करना होता है। मन से मननात्मिका अन्तःकरण वृत्ति का ग्रहण किया जाता है और धी से धारणात्मिका अन्त.करण वृत्ति का। स्थान की दृष्टि से भी धी प्रज्ञा-केन्द्रों (Brain centres) को कहते हैं। याज्ञवल्क्य ने इन्हें प्राण नाम दिया है। वास्तव में प्राण प्राणायतन, प्रज्ञाकेन्द्र, धी व इन्द्रियाँ आदि संज्ञायें एक ही तत्व के द्योतक हैं। प्रज्ञाकेन्द्रों में संयुक्त मन को भी युक्तमन कहा जा सकता है। क्योंकि संसार के सभी कार्य युक्त मन से ही सफल होते हैं। अयुक्तमन से संसार का कोई भी कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न नहीं हो सकता। दिव्य अग्नि की उत्पत्ति तो बिना युक्त मन के नितरां असम्भव है। अब यह दृढ़ निश्चय (निचाय्य) कर कि पृथ्वी पर स्थित दिव्य अग्नि की ज्योति को उर्ध्व में ले जाना है। इसकी प्रक्रिया संक्षेप में यह है कि नाभि से लेकर जांघ तक जो कि पृथ्वी कहलाती है को गायत्री छन्द से छन्दित कर देवे। यह गायत्री छन्द एक आग्नेय शक्ति को उत्पन्न कर देता है। जिसे कि वैदिक भाषा में गायत्र-साम कहते हैं। यह गायत्री शक्ति श्येन बन ऊर्ध्व को आरोहण करती है। प्रथम मन्त्र का सार यह हुआ कि सर्वप्रथम मन और बुद्धि को युक्त करना दोनों को योगयुक्त बनाना तदनन्तर नीचे के नाभि केन्द्र तक के प्रदेश में विद्यमान अग्नि को ऊर्ध्व की ओर प्रेरित करना यह योग की एक प्रक्रिया है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योति निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ यजु. ११।१

---

१. प्राणाधियः—ल. प. ६।३।१।१३

२. न ह्य युक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्। श. प. ६।३।१।१४

(तत्वाय) परमेश्वर प्रकृति आदि तत्वों की उपलब्धि के लिये (सविता) अन्तः-करण में स्थित भागवत प्रेरक शक्ति (प्रथमं) सर्वप्रथम (मनः धियः युञ्जानः) मन को धी से युक्त करती है। तदनन्तर (अग्नेः ज्योतिः निचाय्य) पृथ्वीस्थ अग्नि की ज्योति को निश्चय करके उसे (पृथिव्याऽधि आभरत्) पृथ्वी से ऊपर उठा लाती है। पृथ्वी नाभि से लेकर जाँघ तक का शरीर प्रदेश।

आगे द्वितीय मन्त्र में यह कहा कि मन की इस युक्तावस्था को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि सविता की प्रेरणा निरन्तर होती रहे (सवितुः सवे) तदनन्तर प्राण संयुक्त सम्पूर्ण मानसिक शक्ति से द्युलोक की ओर ऊर्ध्वारोहण (स्वर्ग्याय शक्त्या) करने का प्रयत्न करे। एक मन्त्र में कहा भी है। हे ऋषियों! [1]द्युलोक में आरोहण कर जाओ, भयभीत मत होओ। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या। यजु. ११।२

(युक्तेन मनसा) योगयुक्त मन से (वयं) हम (सवितुः देवस्य) सर्वप्रेरक सविता देव की (सवे) प्रेरणा में रहकर (शक्त्या) अपनी पूर्ण शक्ति से (स्वर्ग्याय) स्वर्गस्थ सब तत्वों को प्राप्त कर लेंगे।

इस ऊर्ध्वारोहण के समय ये देव-दिव्य इन्द्रियाँ धी-बुद्धि केन्द्रों से युक्त होकर मस्तिष्क से भी ऊपर द्युलोक की ओर प्रयाण करते हुये एक महान व दिव्य ज्योति व प्रकाश पुञ्ज को उत्पन्न करने लगते हैं। यह सब सविता देव की प्रेरणा का परिणाम है। आध्यात्मिक क्षेत्र में एक स्थिति ऐसी आती है जबकि मस्तिष्क में विद्यमान सविता की प्रेरणाएँ स्वतः होती हैं उनके लिये प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। मन्त्र इस प्रकार है—

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बहुज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ यजु. ११।३

(सविता) योग के प्रति प्रेरित करने वाला यह सविता भगवान् (युक्त्वाय) योगयुक्त करके (धिया) बुद्धि द्वारा व धारणात्मिका अन्तर्वृत्ति द्वारा (स्वः दिवंयतः) प्रकाश स्वरूप व दिव्यानन्दयुक्त द्युलोक की ओर प्रयाण करते हुये (देवान्) देवों-दिव्य रूप इन्द्रियों को (बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) महान् ज्योति को प्रकाशित करेंगे। (तान्) उन देवों को (प्रसुवाति) प्रेरित करता है।

दिव्य-ज्योति की उपलब्धि के लिये मन और बुद्धि को एक रूप होकर द्युलोक की ओर प्रयाण करना वेद का ही एक विशिष्ट व निराला साधन है। यही तथ्य "दिवस्पृष्ठमधितिष्ठन्ति चेतसा" इस मन्त्र में भी दर्शाया है। आगे चतुर्थ मन्त्र में आता है कि विप्र व मेधावी लोग उस महान् विप्र रूप भगवान के अन्दर मन और बुद्धि को युक्त करते हैं। मस्तिष्क में विद्यमान सब देवशक्तियों के ज्ञान व कर्मों के ज्ञाता (वयुनावित्) सविता का एक कार्य यह भी है कि वह सब अंगोपांगों (होत्रा)

१. आरोहत दिवमुत्तमामृषयो मा विभीतन। अथर्व १८।३।६४

को एक रूप (एक इत्) में कर देता है अर्थात् इनका वैविध्य समाप्त होकर इनमें एकता या एकतानता आ जाती है। यह सविता देवता का महान् स्तुति के योग्य कार्य है। यहाँ मन्त्र में 'युञ्जते' युज धातु के बहुवचन का प्रयोग हुआ है, यह बहुत महत्वशाली तथा रहस्यगर्भित है। इसका रहस्य यह है कि मन को युक्त करने का अभ्यास बहुत से साधकों को एक स्थान पर स्थित हो मिलकर करना चाहिये। क्योंकि अकेला व्यक्ति मन को चलायमान करने वाली आसुरी शक्तियों के प्रहार को सह नहीं सकता। सम्मिलित ध्यान में एक ऐसा प्रबल वातावरण चहुँ ओर फैल जाता है। सबकी चेतनाओं का एक परस्पर गुंथन होकर एक ऐसा अभेद्य कवच बन जाता है कि आसुरी शक्तियाँ उसका भेदन नहीं कर सकतीं। यह एक अग्नि का किला बन जाता है। यह एक यज्ञ रूप हो जाता है जिसको चहुँ ओर से अग्नि आवृत्त किये रहती है। इस अवस्था का दिग्दर्शन निम्न मन्त्र में भी हुआ है—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति। ऋ १।१।७४

हे अग्नि जिस अध्वर यज्ञ को तू चहुँ ओर से घेरे रहती है वह ही यज्ञ देवों से पहुँचता है।

मन को सर्वप्रथम युक्त करने का प्रयोजन यह भी है कि यदि मन को सर्वप्रथम युक्त न करके सीधा बुद्धि अर्थात् मस्तिष्क में ध्यान करे तो एकतो ध्यान लगेगा ही नहीं यदि कुछ ध्यान लगा भी तो स्वल्प काल में ही सिर दर्द होने लगेगा। अतः सर्वप्रथम मन को युक्त कर उसकी धारा ऊर्ध्व की ओर ले जाकर मस्तिष्क में मन को केन्द्रित किया जाये तो ध्यान सहज व स्वाभाविक होगा। इससे संद्यः सफलता प्राप्त होगी। यही तथ्य निम्न मन्त्र में भी उजागर हुआ है—

मूर्धानमस्यं संसीव्याथर्वा हृदयं चयत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानो अधिशीर्षतः॥

अर्थात् अथर्वा निश्चल नीरवता सम्पन्न व्यक्ति मूर्धा और हृदय को एक में सीकर इनकी सम्मिलित चेतना को मस्तिष्क से ऊर्ध्व की ओर प्रेरित करता है।

मस्तिक से ऊर्ध्व की ओर चेतना की यह गति उसी अवस्था में होती है जबकि युक्त मनका बुद्धि के साथ योग होता है। अब इस सम्मिलित मन और बुद्धि द्वारा सविता देव की ध्यान द्वारा अवतारणा करे। सब जगत के उत्पादक सविता देव के प्रेरक भाव को सतत रूप में ध्यावे। अब अगले मन्त्र की व्याख्या करते हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं—

युञ्जते मन उतयुञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः। यजु. ११।४

(युञ्जते मनः) मन को युक्त अर्थात्—योग युक्त करते हैं बाँधते हैं (उत) और तत्पश्चात्—(धियः युञ्जते) बुद्धियों को युक्त करते हैं। अर्थात् इन दोनों के युक्त होने पर परस्पर इन्हें बाँधते हैं कौन ? (विप्राः) ज्ञिप्र लोग तदनन्तर (बृहतः विप्रस्प विपश्चितः) बुद्धि को चिहाने वाले उस महान् विप्र सविता में मन और बुद्धि को

युक्त करते हैं। (वयुनावित्) सबके कर्मों को जानने वाला वह विप्र सविता (एक इत्) अकेला ही (होत्राः) अंगों व प्राणों को (विदधे) विधान करता है। यह (सवितुः देवस्य महीपरिष्टुतिः) सविता देव की महान् स्तुति चहुँ ओर फैली हुई हैं।

आगे पूर्व मन्त्र में अगली भूमिका का चित्र इस प्रकार खींचा गया है कि मन और बुद्धि में केवल ब्रह्म का ही वास हो, तत्सम्बन्धी विचार ही प्रमुख रूप से जागृत हों तो ये देवत्व के पाथेय का काम करते हैं। ब्रह्म सम्बन्धी यह पाथेयं प्राचीन ऋषि मुनियों व कवियों द्वारा श्लोक आदि रूप में की गई स्तुति होती है। दिव्य धामों में जो देव ऋषि महर्षि व अमृत पुत्र रहते हैं वे भक्त द्वारा की गई स्तुति व आराधना को सुनते हैं और उसकी सहायता करते हैं। इसी प्रकार का एक उद्‌गार निम्न मन्त्र पद में भी प्रगट किया गया है।

कवीं रिच्छामि संदृशे सुमेधा ऋ. ३।३८।१ इस वाक्य की व्याख्या में ऐतरेय ब्राह्मण में आता है "ये पूर्वे प्रेता ऋषयस्तानेव तदभ्यति वदति" अर्थात् जो ऋषि लोग पूर्व में इस पृथ्वी से जा चुके हैं उनके सम्बन्ध में यह मन्त्र पद समझना चाहिए। इससे यह भी ज्ञात होता है कि दिव्य धामों में विराजमान ऋषि महर्षि व दिव्य पुरुष पृथिवी में स्थित मनुष्यों के स्तोत्रों का सुनते हैं और उनकी सहायता करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः। श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः। यजु. ११/५

(वां) हेमन और बुद्धि तुम दोनों में (पूर्व्यं ब्रह्म) पूर्व ऋषिओं द्वारा साक्षात्कृत ब्रह्म को (नमोभिः युजे) नमस्कारों द्वारा युक्त करता हूँ। अर्थात् नमस्कार वचनों द्वारा भगवान को मन और बुद्धि में अवतारित करता हूँ। (सूरेः विश्लोकः) सूरि पुरुष का विविध स्तोत्र (देवयान मार्ग में) (पथ्या इव एतु) पाथेय के समान होता है (ये अमृतस्य पुत्राः) जो अमृतपुत्र (दिव्यानि धामानि तस्थुः) दिव्य धामों में विराजमान हैं। (विश्वे) वे सब (शृण्वन्तु) मेरे इस स्तोत्र को सुनें।

उपर्युक्त मन्त्र में पठित ब्रह्म तथा नमः पदों का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में प्राण तथा अन्न किया है। तदनुसार मन्त्र का भाव निम्न प्रकार होगा। सविता रूप मन और ज्ञानेन्द्रियों की इस एकत्व की स्थिति में जब इनके साथ सोम रूप अन्न का सम्पर्क होता है तब इन मन व इन्द्रियों में सबसे पूर्व जिस शक्ति का प्रकाश व प्रकटीकरण होता है वह प्राण रूप में ब्रह्म है अर्थात् प्राणों में आसुरी शक्ति न प्रकट होकर ब्रह्म रूपमें देवी शक्ति का प्रकाश होता है। यह ब्रह्म त्रयीविद्या भी हो सकती है। क्योंकि ब्रह्म वेद को भी कहते हैं। सोम भक्षण से उत्पन्न हुआ यह ब्रह्म-ज्ञान इन मन व इन्द्रियों का प्राण बन जाता है। सोम के लिए मन्त्र में 'नमः' शब्द का प्रयोग हुआ है। क्योंकि सोम की वृद्धि से मनुष्य सौम्य बनता है उसमें नम्रता पैदा होती है। इस प्रकार मन व इन्द्रियों की एकता में सोम के सम्पर्क से जो ब्रह्म सम्बन्धी दिव्य ज्ञान उत्पन्न होता है तथा प्राण—शक्ति दिव्य बनती है उसका परिणाम यह

होता है कि मनुष्य-लोक में तो उसकी कीर्ति फैलती ही है पर दिव्य-लोकों में विद्यमान अमर देवों में भी उसकी कीर्ति जा पहुँचती है।

जिस प्रकार राजा के प्रयाण करने पर राज्य सभा के सब सभासद भी राजा का अनुगमन करते हैं उसी प्रकार मनुष्य में विद्यमान सविता देव के ऊर्ध्वारोहण के समय मनुष्य की इन्द्रियाँ आदि भी उसका अनुगमन करती हैं। जितने भी पार्थिव अर्थात् शारीरिक संस्थान है उन सबका यह सविता अपने ओज से पुनर्निर्माण करता है और उन्हें नवीन दिव्य रूप प्रदान करता है। मन्त्र है—

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा। या पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देव. सविता महित्वना। यजु. ११।६

(यस्य देवस्य) जिस सविता देव के ऊर्ध्व की ओर (प्रयाणमनु) प्रयाण के पीछे (अन्ये देवाः) अन्य इन्द्रियां आदि देव भी (इत्) निश्चय से (ययुः) चल पड़ते हैं वे देव सविता देव के (ओजसा) ओज से (महिमानं) महिमा को प्राप्त करते हैं (एतशः)। सर्व शरीर सर्वव्यापी (स सविता देवः) वह सविता देव (महित्वना) अपनी महिमा से (पार्थिवानि रजांसि विममे) पार्थिव लोकों तथा शरीरस्थ अङ्गोंपाङ्गों को दिव्यता में निर्माण करता है।

अन्त में सर्वप्रेरक सविता भगवान् से प्रार्थना है कि हे सविता देव। तू इस सावित्र-यज्ञ को प्रेरित कर इसे पूर्ण कर दिव्य ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए इस यज्ञपति को तू सदा प्रेरित करता रहे। ज्ञान को पवित्र करने वाला यह दिव्य गन्धर्व हमारे ज्ञान को पवित्र करे और वाणियों का स्वामी हमारी वाणी को दिव्य ज्ञान में मधुर बनावे। मन्त्र हैं—

देव सवितः प्रसुवयज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः। केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पति र्वाचंनः स्वदतु यजु. ११।७

(देव सवितः) हे सर्वप्रेरक सविता देव। (यज्ञं प्रसुव) हमारे इस आध्यात्मिक यज्ञ को प्रेरित कर और (भगाय) ऐश्वर्य की उपलब्धि के लिए (यज्ञपति प्रसुव) यज्ञ के स्वामी मन को प्रेरित कर (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करने वाला (दिव्यः गन्धर्वः) मस्तिष्क में विद्यमान आदिम वाक् को धारणा करने वाला वह प्रेरक सविता (नः केतं) हमारे ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करे। (वाचस्पतिः) वाक् का स्वामी (वाचं नः स्वदतु) हमारी वाणी का आस्वादन करे।

मानव शरीर रूपी यज्ञ का स्वामी मनको माना गया है। सविता भगवान् की प्रेरणा शक्ति मन को आध्यात्मिक यज्ञ में प्रवृत्त करे यही भाव अभिप्रेत है।

दिव्यः गन्धर्वः = दिवि भवः — दिव्यः, द्युलोक = मस्तिष्क में विद्यमान। गन्धर्व = गां धरतीति गन्धर्वः। मस्तिष्क में विद्यमान वाणी का धारण करने वाला यह सविता ही है। वाक् से सामान्य वैखरी वाणी का ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है।

प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्य मन्नं नमस्तत्तदेवैषैवाहुतिर न्नमेतयैव तदा हुत्वै तेनात्रेन प्राणानेतस्मै कर्मणे युङ्क्ते। शत्पथ ६।३।१।१७

यह वाक सप्तद्वारों=(कर्णाविभौ नासिके चक्षिणी मुखम्) में बिखरी वाक् है। यह दिव्य गन्धर्व हमारे ज्ञान तथा वाक् दोनों कोपवित्र करता है। केतम् (किति सं ज्ञाने) यह दिव्य गन्धर्व उसी अवस्था में ज्ञान को पवित्र करेगा जबकि हम मस्तिष्क में चेतना को केन्द्रित कर उसे सक्रिय करेंगे। अगला मन्त्र है—

इमं नो देव सवित र्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखि विंदं सत्राजितं धनजित स्वर्जितम्। ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्र वर्तनि स्वाहा।

यजु. ११।८

(देव सवितः) हे सर्वप्रेरक सविता देव। (नः) हमारे (इमं) इस (देवाव्यं) देवत्व के रक्षक (सखिविंदं) सखाओं को प्राप्त कराने वाले (सत्राजितम्) सत्य को जिताने वाले (धनजितं) दिव्य धनों को जिताने वाले (स्वः जितम्) स्वः को प्राप्त कराने वाले (यज्ञं) यज्ञ का (प्रणय) प्रणयन कर। (ऋचा स्तोमं समर्धय) ऋचा से स्तुति समूह को समृद्ध कर जिससे (गायत्रेण स्थन्तर) गायत्र सामद्वारा शरीर पर अशनया कामना आदि रक्षा को उतारने वाला साग वृद्धि को प्राप्त हो गायत्रवर्तनि बृहद्) गायत्र प्राण का मार्ग बृहद् की ओर हो जाए। (स्वाहा) इस यज्ञ में आत्म हवि प्रदान करता हूँ।

यह आध्यात्मिक यज्ञ देवत्व का रक्षक है (देवाव्यं) जिस व्यक्ति में अध्यात्म व योग का प्रादुर्भाव हो जाता है उसके चारों ओर योग-जिज्ञासुओं व उन्नति के इच्छुक अनेक व्यक्तियों का समूह एकत्रित हो जाता है। वे सब सखा हैं (सखा समान ख्यानाः) समान उद्देश्य के लिए वे प्रसिद्ध होते हैं। वहाँ सब साधक सत्य की खोज में जुटते हैं। अतः यह यज्ञ सत्राजित कहा जाता है। सर्वविध ऐश्वर्य तथा स्वः= प्रकाश ज्ञान तथा स्वर्ग भी इससे मिलता है। मन्त्र में आता है (ऋचा स्तोमम् समर्धय) ऋचाओं से स्तुति समूह को समृद्ध कर यह सामान्य अर्थ है। पिण्ड में ऋचा स्थूल शरीर व उदर आदि नीचे के अंगों को कहते है। मनुष्य में स्तुति का उत्थान उसी समय होता है जब उदर ठीक होता है। गायत्रसाम गायत्र प्राण को कहते हैं। यहाँ गायत्र प्राण पृथ्वी तथा उदर में होता है। यह गायत्र प्राण उदर आदि के अपने प्राण (रथन्तर) को शुद्ध पवित्र व ऊर्ध्वारोहण की ओर प्रवृत्त करता है। उर्ध्व में द्युलोक के प्राण को बृहत् कहते हैं।

पिण्ड में यह बृहत्प्राण मस्तिष्क का प्राण है। इस गायत्र साम के प्रभाव से रथन्तर प्राण की गति ऊर्ध्व की ओर हो जाती है।

उदर शिश्न आदि नीचे के अङ्गों के प्राण को रथन्तर क्यों कहते हैं? इसको पूर्ण रूप से हृदयङ्गम करने के लिए वेद-विमर्श पुस्तक के बृहत् रथन्तर प्रकरण को देखें। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना है कि रथन्तर अन्न भी है और प्राण भी है। उदर शिश्नादिक के प्राण को रथन्तर उसी अवस्था में कहा जाता है जब अन्न द्वारा इन अङ्गों की अशनया समाप्त हो जाती है। अशनया इन अंगों की भोगेच्छा व कामनाएं हैं अशनया को रथ भी कहते हैं। क्योंकि यह मनुष्य को इधर उधर भगाए फिरती है इसको तदनुकूल अन्न देकर अपने ऊपर से उतारा जाता है अतः अन्न को रथन्तर कहते हैं।

'रथान् अतारिष्म इति रथन्तरस्व रथन्तरत्वम्' ता. ब्रा. अशनया ह वै रथा अन्नमुबै रथन्तरम। अन्नेनाशनयां ध्नन्ति।

अशनया रथ है और अन्न रथन्तर है क्योंकि अन्न देकर अशनया का हनन किया जाता है अर्थात् अन्न देने पर ये अशनया रूपी रथ मनुष्य पर से उत्तर जाते हैं। इसलिए ये अन्न रथों को उतारने के कारण रथन्तर है। और कामना विहीन अङ्गों के प्राण को भी रथन्तर कहते हैं क्योंकि उस अवस्था में प्राणों में अशनया नहीं। रहती रथन्तर की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी की जाती है। वह है रसन्तमम् अर्थात् अशनया को उतारने के लिए अत्यधिक रस देना जिससे कि वे प्राण अत्यधिक अन्न रस से उकता जाए मन्त्रों और अशनया ही पैदा न हो। यह सावित्र यज्ञ देवों का रक्षक है जीवात्मा के सच्चे सखा भगवान् को प्राप्त कराने वाला है, आन्तरिक स्थानों तदन्तर्गत ऐश्वर्यों को जिताने वाला तथा स्वर्ग को प्राप्त कराने वाला है। इस प्रकार यजुर्वेद के इन आठ मन्त्रों की व्याख्या हमने ऊपर प्रदर्शित की। इनसे सावित्र होम किया जाता है जोकि योग साधना की विशिष्ट प्रक्रिया है।

—:०:—

तृतीय अध्याय

शतपथ ब्राह्मण में सविता

[आध्यात्मिक विवेचना]

सविता की प्रेरणा—श. प. १।१।२।१७

सविता की प्रेरणा होने पर ही कोई व्यक्ति हाथों में हवि ग्रहण करता है ! चाहे आन्तरिक यज्ञ हो, या वाह्य यज्ञ हो, हविर्द्रव्य भौतिक हो, या आत्म हवि हो, वहाँ सर्वप्रथम सविता की प्रेरणा होनी चाहिये यह शास्त्रों का अटलव निर्विवाद सिद्धान्त है । वाह्य कर्मकाण्ड में भी शरीर सम्बन्धी स्थूल हाथों को गौण ही माना गया है । कहा भी है "**सत्यं देवा अनृतं मनुष्यास्तत् सत्येनैवैतद् गृह्णाति**" अर्थात् देव सत्य हैं, और मनुष्य अनृत हैं, यज्ञ समय मनुष्य देव बनकर हवि को सत्य से ग्रहण करता है । अतः हवि स्थूल हाथों से नहीं ग्रहण कर रहे प्रत्युत सत्य से ग्रहण कर रहे हैं यह भावना करनी होती है ।

सविता की छिद्ररहित छलनी (पवित्रम्) श. प. १।१।३।२।३,६ ।

सविता भगवान् सूर्यमण्डल के माध्यम से सर्वजगत् का कार्य निर्वाह करते हैं । इस जगत में दुर्गन्धित वस्तु को सुगन्धित करना, अपवित्रता को पवित्र करना, मलमूत्र आदि को शुद्धता में परिणत करना सविता भगवान् का एक प्रमुख कार्य है । यह सब शुद्धि करण व मार्जन आदि कार्य सविता की प्रेरणा होने पर ही होते हैं । जिन साधनों से जगत में पवित्रीकरण का कार्य हो रहा है उन्हें वेद में अच्छिद्र पवित्र' करके कहा गया है । पवित्र अर्थात् पवित्र करने वाली छलनी ऐसी है, जिसमें कोई छिद्र नहीं, बीच में व्मवधान नहीं । ऐसी छलनी इस जगत में एक तो सूर्य की रश्मियां है, और दूसरे वायु हैं ।

मानव शरीर में ये प्राण और उदान है, अथवा प्राण उदान और ब्यान ये तीनों पवित्र (छलनी) माने गये हैं । कहा भी है, "**अयं वै पवित्रं योऽयं पवते सोऽयमनेक इवैव पवते सोऽयं पुरुषे ऽन्तः प्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च ताविमौ प्राणोदानौ ।**" श. प. १।१।३।२ ।

यह वायु पवित्र है औरों को पवित्र करने वाली है । पुरुष में प्रविष्ट होकर यह प्राण और उदान इन दो रूपों में विभक्त हो जाती है । कई इसके तीसरे ब्यान रूप का भी इसमें परिगणन करते हैं । कहा भी है' '**अथो अपि त्रीणि स्युः । ब्यानो हि तृतीयो** ···श. प. १।१।३।३ । दूसरी पवित्र सूर्य की रश्मियाँ मानीं गई हैं । यथा" **तत् सवितृ प्रसूत एवैतदुत्पुना त्यच्छिद्रेण पवित्रेणेति यो वा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रमेतेनैतदाह सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते वाउत् पवितारो यत् सूर्यस्य रश्मयः**

श. प, १।१।३।६ अर्थात् सविता से प्रेरित होकर ही अच्छिद्र पवित्र (सूर्य रश्मियाँ) द्वारा हवि संयुक्त व मिश्रित जलों को पवित्र करता है।

इस प्रकार वायु तथा सूर्य की रश्मियां ये दोनों 'अच्छिद्र पवित्र' छेद रहित पवित्रता करने वाले साधन हैं।

आकाश में ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वायु तथा सूर्य रश्मियाँ न हों कोई ऐसा स्वल्प छिद्र भी नहीं है जो इनसे रहित हो।

सविता भगवान् इन्हें सदा प्रेरित करता है, जिससे ये संसार को पवित्र करते रहते हैं। सविता ने इनका ये व्रत निर्धारित कर रक्खा है। प्रश्न यह है, कि इन प्राण वायु में छिद्र कब हो सकता है, इसका उत्तर यह है, कि जब इन प्राण उदान तथा व्यान आदि में से किसी में क्षीणता आ जाती है। विकृति पैदा हो जाती है, या और कोई बाधा उपस्थित हो जाती है। तब इन्हें संच्छिद्र समझना चाहिए। सविता के अच्छिद्र पाणी (हाथ) का भी यही भाव है। इसमें प्रेरणा की निरन्तरता का भी समावेश समझना चाहिये। इस प्रकार प्राण, उदान, तथा ब्यान वायु और सूर्य की रश्मियां ये सविता भगवान् के पवित्र करने वाले अच्छिद्र हाथ हैं। इनसें "प्रोक्षणी आप;" को पवित्र किया जाता है। "प्रोक्षणी आप:" शरीरान्तर्गत शक्ति केन्द्रों में पहुँचने वाले रस हैं। ये रस इन केन्द्रों में सिञ्चित होते रहते हैं। ये ही आन्तरिक सोम है। कहा भी है "आत्सोम इन्द्रियो रस; ऋ. ९।४७।३

इन 'प्रोक्षणी आप:' को सूर्य रश्मियों के सदुप्रयोग से तथा प्राणायाम आदि द्वारा प्राण उदान आदि को सक्रिय कर शुद्ध करते रहना चाहिये। यह सब सविता भगवान् की प्रेरणा पर निर्भर है। जिन व्यक्तियों में सविता देव की किसी भी प्रकार की प्रेरणा नहीं है, वे क्यों इन उपायों का अवलम्बन करेंगे। वह तो कोई विरला ही अत्यन्त भाग्यशाली पुरुष होता है जिसको सविता भगवान् की निरन्तर प्रेरणा मिलती रहती है. प्रश्न यह है, कि 'प्रोक्षण' क्यों किया जाता है? इसके लिये कहा कि **"एको बै प्रौक्षणस्य बन्धु र्मेध्यमेवैतत् करोति"** अर्थात् प्रोक्षण का एक ही बन्धु है, अर्थात् प्रयोजन है और वह है मेध्य करना, पवित्र करना। इससे यह स्पष्ट है, कि प्रोक्षण में परिमार्जन, शुद्धि करण अभीष्ट है।

हिरण्यपाणि सविता—श. प. १।१।४।२३

सविता को हिरण्यपाणि भी कहा जाता है अर्थात् सविता के हाथ सोने के है। स्थूल रूप में सूर्य की किरणे सविता के हाथ है और ये रश्मियाँ सुव र्जीणआभा वाली है। बाह्य कर्म काण्ड में प्रतीकात्मक तौर पर यह प्रक्रिया अपनायी जाती है कि अंगुलियों में सोने की अंगूठी पहिन उन्हें इस प्रकार सटा कर रक्खा जाता है जिससे कि उनके मध्य में कोई छिद्र न रहे तदनन्तर छिद्र रहित हथेली में तण्डुल डाल कर यह मन्त्र बोला जाता है **"देवो वः सविता प्रति गृह्णातु हिरण्यपाणि रच्छिद्रेण पाणिना"** यजु. १।१६। यह इसलिये किया जाता है कि पात्री में डालते समय

तण्डूल पृथिवी पर न गिरें। सूर्यादि देव सम्बन्धी इसी प्राकृतिक तथ्य को तैन्तिरीय ब्राह्मण में शूर्प (छाज) के माध्यम से इस प्रकार कहा है

अन्तरिक्षादिव वा एते प्रस्कन्दन्ति ये शूर्पात्,"

अर्थात् छाज से जो तण्डुल पात्री में डाले जाते हैं वे मानों अन्तरिक्ष से आ रहे है ऐसा समझना चाहिये। इसका रहस्य यह है कि सविता की प्रेरणा पर ऊर्ध्व में द्युलोक से नानविध उत्पत्तियों के शक्ति पुञ्ज व बीज पृथिवी की ओर आ रहे हैं वे समुचित पात्र में ही पहुँचें, इधर-उधर न जा पड़ें यही भाव सविता के अच्छिद्र हाथ द्वारा दर्शाया गया है। पिण्ड से यह चेतना गायत्री जप आदि के समय इधर-उधर न जाकर देवकेन्द्रों में ही केन्द्रित रहे यह ध्यान रखना होता है।

तण्डुलादि हवि का पेषण। श. प. १।२।१।१६

आगे उस तण्डुल रूप हवि का पेषण (पीसना) किया जाता है, किसलिये? इन्द्रियादि देवों तथा प्राण उदान और व्यान की रक्षा व वृद्धि के लिये। शरीर यज्ञ में तण्डुल आदि अन्न का दांतों द्वारा पेषण होता है, और वे रस, रक्त आदि रूपों में परिणित होते हुये इन्द्रियादि देवों के लिये हवि बनते हैं, और प्राणों की वृद्धि होती रहती है। ब्राह्मणकार कहते हैं कि इस हवि को सविता के अच्छिद्र हाथों द्वारा पकड़ा जाता है। इसलिये कि प्राण उदान और व्यान की वृद्धि हो तथा दीर्घायुष्य प्राप्त हो। कहा भी है। "**सयदाह प्राणाय त्वोदानाय त्वेति तत् प्राणोदानौ दधाति। व्यानायत्वेति तद् व्यान दधाति। दीर्धामनुप्रसितिमायुषे धाम्।**

यजु. १।२०, श. प. १।२।१।२०।

सविता का बन्धन दीर्घकाल तक चलने वाला होना चाहिये। यदि सविता की पकड़ ढ़ीली हो जाये तो मनुष्य अपने व्रत में नियमित नहीं रहता, जो व्यक्ति अपने तद्योग्य व्रत में लम्बे समय तक बँधा रहता है—(प्र+सिति=षिञ् बन्धने) वही दीर्घायु प्राप्त करता है—और अपने उद्देश्य में सफल होता है। उपनिषद् में आता है, कि भोजन के समय प्रथम पाँच ग्रास प्राण, अपान आदि के लिये यज्ञ-हवि मानकर खाने चाहियें। वह अन्ना हुति अन्य प्राणों को भी उद्देश्य करके दी जा सकती है उससे उस विशिष्ट शक्ति की वृद्धि होगी। यथा—'**चक्षुषे त्वेति तच्चक्षुर्दधात्येतानि वै जीवतो भवन्त्येवमु हैतद्जीवमेव देवानां हविर्भवत्यमृतममृतानाम्**। श.प. १।२।१।२१।

अर्थात् चक्षु को उद्देश्य करके जो अन्नाहुति हम इस शरीर-यज्ञ में डालते हैं, वह चक्षु को ही बढ़ाने वाली होती है। यह सजीव आहुति होती है, जो अन्न हम खाते हैं वह सजीव अर्थात् प्राण शक्ति सम्पन्न होना चाहिये। स्थूल शरीर के नष्ट होने पर भी ऐन्द्रियिक सूक्ष्म शरीर रहता है वह अमर है। तत्सम्बद्ध सूक्ष्म अन्न अमर हवि है। यह सबसविता की पकड़ पर निर्भर करता है।

"**हिरण्यं हितरमणं भवति**।" हितकारी बातों में रमण करने वाला हाथ सविता का होता है, इसलिये सविता देव के हाथों में अपने को पूर्णरूप में सौप देना चाहिये। यदि कष्ट भी आते हैं, तो वे भी हमारे भले के लिये हैं, ऐसा समझना चाहिये।

पुरोडाश के लिये पिट्ठी पीसना—

पुरोडाश बनाने के लिये पात्री में पिट्ठी पीसते हैं। पिट्ठी पीसने से पूर्व उसमें दो पवित्र डाल देते हैं। बाह्य कर्मकाण्ड में तो यह सामान्य प्रक्रिया है पर यह प्रक्रिया आन्तरिक किस तत्व व क्रिया का प्रतिनिधित्व करती है उस पर विचार करना अभीष्ट है।

आन्तर क्षेत्र में पुरोडाश मस्तिष्क (भेजा) है। पुरोडाश के आठ कपाल वनाये जाते हैं क्योंकि मस्तिष्क के आठ कपाल होते है, कहा भी है "**यान्येवास्य शीर्ष्ण; कपालानि तान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि**। श. प. १।२।१।१।

अर्थात् जितने सिर के कपाल हैं उतने ही पुरोडाश के कपाल बनाये जाते हैं, और जो पिट्ठी है वह मस्तिष्क है अर्थात् मस्तिष्क के भीतर का तत्व है। इस दृष्टि से निम्न वाक्य समझना चाहिये।

"**पवित्रवति संवपति पात्र्यां पवित्रे अवधाय "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो बहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि**। यजु. १।२१ श. प. १।२।२।१

शरीर क्षेत्र में उपर्युक्त कण्डिका का रहस्य यह कि पुरोडाश अर्थात् मस्तिष्क (भेजा) के निर्माण के लिये स्थूल अन्नाहुति से लेकर सूक्ष्मान्न तक सब पवित्र होना चाहिये। शरीर में भी क्षेत्र भेद से पात्री भिन्न-भिन्न होंगी पर अन्तिम पात्री खोपड़ी है जिसमें कि पिट्ठी गूंथी तथा स्थापित की जायगी। पात्री में सर्वप्रथम दो पवित्र, अर्थात् प्राण और उदान का स्थापन किया जाता है। मस्तिष्क में प्राण और उदान का सञ्चार कैसे हो, यह परम्परा प्राप्त साधन अब विलुप्त हो चुका है। प्राणायाम की ही विशिष्ट विधि सम्भव हो सकती है। सर्वप्रथम सम्यक औषधी वनस्पति भक्षण द्वारा रस रक्त आदि क्रम से ओज रूप में परिणत हो सोमात्मक मस्तिष्क-द्रव का निर्माण होता है। इस सोम को प्राणायाम द्वारा, पवमान बना ध्यान और मिर्मथन के अभ्यास द्वारा इसे शुद्ध पवित्र तथा ओजस्वी किया जाता है। इस प्रकार स्थूल ओषधि आदि के गूंथने से लेकर सूक्ष्मान्न के गुंथन तथा मस्तिष्क में यथास्थान स्थापन तक यह प्रक्रिया चलती है।

सविता के प्रसंग में हमने यहाँ इतना ही कहना है कि यह सब प्रक्रिया बिना सविता भगवान की प्रेरणा के नहीं होती है। पिष्टी के संवपन व संस्थापन में अश्वियों के बाहु तथा पूषा के हाथ भी क्षेत्र भेद से भिन्न-भिन्न होंगे। स्थूल अन्न के संवपन व गुंथन में भी अपनी बाहुओं व हाथों का उपयोग करते हुये भी यही भाव बनाये रक्खे, कि ये मेरी बाहुएं व मेरे हाथ नहीं है अश्वियों की बाहुयें तथा पूषा के हाथ है। यह इसलिये कि 'अहम्' की स्वल्प सी मात्रा भी मन में न उत्पन्न होने पावे। अहंकार ही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है।

हवि व पुरोडाश का परिपाक—

इस संसार में जितना भी परिपाक हो रहा है उस सबका अन्तिम कारण सविता है यह सविता सूर्य मण्डल द्वारा ओषधी वनस्पतियों तथा प्राणि जगत का

निरन्तर परिपाक कर रहा है। मनुष्य शरीर में यह पुरोडाश मस्तिष्क है। इसको परिपक्व करना तथा दिव्य रूप देना सविता भगवान का एक कार्य है। अतः हमें सदा गायत्री मन्त्र द्वारा सविता भगवान् से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि वह हमारी बुद्धियों को दिव्यता तथा परिपक्वता की ओर प्रेरित करें। कहा भी है 'तं (पुरोडाशं) श्रपयति। देवस्त्वा सविता श्रपयत्विति। न वा एतस्य मनुष्यः श्रपयिता देवो ह्येष तदेनं देव एव सविता श्रपयति श. प. १।२।२।१४।

बाह्य कर्मकान्ड में पुरोडाश का परिपाक मनुष्य करते हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं वस्तुतः पुरोडाश का परिपाक मनुष्य नहीं करता है, सविता भगवान् करता है, तो फिर प्रश्न यह है, कि वह पुरोडाश कौन सा है।

इस सम्बन्ध में संक्षेप में इतना ही कहना है कि—

भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पुरोडाश भिन्न-भिन्न होगा पर मानव शरीर में वह मस्तिष्क है। कहा भी है "शिरोहवा एतद् यज्ञस्य क्रियते यत् पुरोडाशः" ११/२/५ यज्ञ (शरीर-यज्ञ) का शिर पुरोडाश है।

यज्ञ के लिए प्रेरणा तथा उसकी पूर्ति सविता देवता की कृपा पर ही निर्भर है। कहा है **"देवो वः सविता प्रार्तयतु इति सविता वै देवानां प्रसविता सवितृ प्रसूता वज्ञं सम्भणनिति यजू १/१ श० प्र० १/७/१/४।"**

अर्थात् सविता देवों को प्रेरित करने वाला है असुरोंको नहीं अतः सब दिव्य कर्म सविता की प्रेरणा पर निर्भर है। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म को कहते है 'यज्ञो वे श्रेष्ठतमं कर्म श० प० १७/१/५।

इससे यह स्पष्ट है कि आसुरी कर्म सविता के नहीं है। याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि सावित्री (गायत्री) के जप से सब कामनाओं की पूर्ति तथा समृद्धि होती है। **यथा, अथ सावित्री। सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एते सवितृ प्रसूता एव सर्वेकामाः समृद्ध्यन्ते तत् सवितु र्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रवोदयात् श० प० २/३/४/३८।**

परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के लिये सब कामनायें छोड़कर गायत्री का जप करे। मन्त्र कहता है कि वरदात्री[१] वेदमाता गायत्री का मैंने स्तवन किया है। अतः ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए आयु, प्राण प्रजा, पशु कीर्ति द्रविण तथा ब्रह्मवर्चस ये सब भगवान पर अर्पित कर देने चाहिये।" गायत्री जाप द्वारा इनकी मांग नहीं करनी चाहिये। इसमें से किसी की भी मांग करना बहुत ही निकृष्ट ध्येय है।

देवस्या त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्या माददे।

---

१. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्म वर्चसं मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। १९/७१/१

यह उपर्युक्त वाक्य अनेकों मन्त्रों में आता है। इसका रहस्य यदि हम समझ लें तो अन्य बातों का स्पष्टीकरण सुगम हो जाता है। मनुष्य हाथ से जो कार्य करता है, उसके लिए सर्वप्रथम प्रेरणा मस्तिष्क से होती है, वह प्रेरणा बाहुओं के माध्यम से हाथों को पहुँचती है और हाथ उस वस्तु को पकड़ते है या अन्य कार्य करते है। वेद कहता है कि हमें यह भावना करनी चाहिये कि यह मस्तिष्क मेरा नहीं सविता का है, बाहुयें अश्वियों की है और हाथ पूषा के हैं। इस भावना से जो भी कार्य किया जायेगा, एक तो वह कार्य सुचारु रूप से होगा, दूसरे उस कार्य का लेप मनुष्य में नहीं होगा। 'न कर्म लिप्यते नरे' की स्थिति हो जायेगी। क्योंकि उस कार्य के करने में अहंकार का योग नहीं होता। कार्य में अनासक्ति व अलिप्तता का यह सुन्दर रूप है। इस सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण का यह वाक्य हमारा दिग्दर्शन कराता है—

'तं (स्फ्यं) आदत्ते। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनों र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्या माददे अध्वर कृतं देवेभ्य इति सविता वै देवानां प्रसविता तत्सवितृ प्रसूत एवैनमेत दादत्तेऽश्विनो र्बाहुभ्यामित्यश्विनावध्वर्यू तत्तयोरेव बाहुभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामिति पूषा भागदुधस्तत्तस्यैव हस्ताभ्यामादत्ते न स्वाभ्यां वज्रो वा एष न तस्य मनुष्योऽर्हो तमेताभिरेवैताभिरादत्ते।' श० प० १/२/४/४।

अर्थात् स्फ्य को हाथ में लेता है। और देवस्य त्वा सवितुः की प्रेरणा होने पर ही वज्र थामता है, इसमें अश्वियों की बाहुयें है अपनी (मनुष्यों की) नहीं है और हाथ पूषा के हैं अपने नहीं है। क्योंकि यह स्फ्य=वज्र को मनुष्य धारण नहीं कर सकता। देवता ही धारण कर सकते हैं अतः अपने मस्तिष्क की प्रेरणा होने पर, अपनी बाहुओं तथा हाथों का प्रयोग करते हुये भावना यही करनी होती है कि प्रेरणा सविता की, बाहुयें अश्वियों के तथा हाथ पूषा के हैं।

सविता पुरोडाश के १२ कपाल या ८ कपाल

सविता का पुरोडाश १२ कपालों या ८ कपालों का बनाया जाता है। बाह्य कर्म काण्ड में पुरोडाश एक रोटी है जिसके ८ या १२ टुकड़े किये जाते हैं। आता है—अथ सावित्रः। द्वादश कपालो वा दृष्टा कपालों वा पुरोडाशो भवति सविता वै देवानां प्रसविता प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनयिता तस्मात् सावित्रो भवति श० प० २/५/१/१०।

अर्थात् सविता देव का पुरोडाश १२ अथवा ८ कपालों वाला होता है। सविता देवों को प्रेरित करने वाला होता है। इस पुरोडाश के मध्य में प्रजापति को स्थापित किया जाता है। प्रजापति प्रजनन करने वाला है। हम पूर्व में दर्शा चुके है कि शरीर में पुरोडाश मस्तिष्क है सामान्य बोलचाल की भाषा में जिसे सिर या मस्तिष्क कहा जाता है आयुर्वेद विज्ञान की दृष्टि से उसे मस्तुलुंग पिण्ड (Brain) कहते हैं। इसके निम्न विभाग हैं।

१. मस्तिष्क (Cerebrum)।
२. धम्मिलक (Cerebellum)।

३. मस्तुलुङ्ग मध्य (Mid brain)।
४. उष्णीषक (Pons)।
५. सुषुम्णाशीर्षक (Medulla oblongatta)।

इस प्रकार यह मस्तिष्क कई विभागों में विभक्त किया गया है। हमें सविता की दृष्टि से इस मस्तिष्क पर विचार करना है, सविता प्रेरक शक्ति है। मस्तिष्क में जो प्रेरक अवयव है जिनमें आज्ञा वह नाड़ियाँ (Motor nerves) आती हैं, सविता से सम्बन्ध रखती है। ये संख्या में १२ है सिर अर्थात् मस्तुलुङ्ग पिण्ड से नाडियों के १२ युग्म निकलते है और भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न अंगों को जाते है। इन्हें शीर्षण्य नाड़ियाँ भी कहा जाता है। इन १२ शीर्षण्य नाड़ियों के कारण ही सविता सम्बन्धी पुरोडाश के १२ कपाल बनाये जाते हैं। इन १२ कपालों के मध्य में प्रजनन कर्त्ता प्रजापति को स्थापित किया जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सविता की प्रेरणा प्रजनन के लिये होनी चाहिये। यह प्रजनन सामान्य भौतिक भी हो सकता है और दिव्य प्रजनन भी। मस्तिष्क में दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्तियों का प्रजनन हो यही कामना तथा भावना करनी चाहिये। गायत्री जाप में भी धी प्रेरणा द्वारा दिव्य ज्ञान व दिव्य शक्तियों का प्रजनन ही वस्तुत अभीष्ट है। अथवा इन १२ शीर्षण्य नाड़ियों से अन्य अंगों को प्रजनन के लिये जो आदेश जाते है वे सविता भगवान् द्वारा पहुँचे आसुरी शक्तियों द्वारा नहीं यही भाव यहां अभीष्ट है। इसलिए सविता को उद्देश्य करके मस्तिष्क (पुरोडाश) के १२ कपाल बनायें जाते है इसी प्रकार आचार्यों ने अन्य दृष्टि से पुरोडाश के ८ कपालों वाला पुरोडाश बनाने का विधान किया है।

पवित्र कारक सविता—

मनुष्यों को पवित्र करने वाले अग्नि, वायु, जल आदि तत्व बताये है पर जिस व्यक्ति को सविता पवित्र बनाता है वह 'सुपूत' कहलाता है। उसका स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्मतम तक पवित्र हो जाता है। कहा भी है "देवो माँ सविता पुनात्विति तद्वै सुपूतं यं देवः सविता पुनात्" श० प० ३/१/३/२२।

अर्थात् जिसको सविता देव पवित्र करता है वह 'सुपूत' होता है।

दिग्भ्रान्त देव पशु यज्ञ और सविता—

इन्द्रियाँ मस्तिष्क स्थित अपने केन्द्र से बाहर विषयों की ओर जाती हैं और विषयों का अधूरा, धुंधला तथा स्वल्प सा ज्ञान मस्तिष्क में पहुँचाती हैं और बहुत बार नहीं भी पहुँचाती। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है और इनके देवता भी पाँच है। इन इन्द्रिय देवों की माता अदिति है। ये इन्द्रियाँ अदिति को आधार बनाकर पंक्ति यज्ञ रच रहे है। पर इन देवों को यह ज्ञान नहीं कि हमारी उत्पत्ति कहाँ से है और यह यज्ञ कैसे चल रहा है? इस प्रकार इस ऐन्द्रियिक यज्ञ के अज्ञान के कारण वे मोह में पड़े हुए है। यह उपर्युक्त विषय श० प० ३/२/३ में अलंकार गर्भित कथानक के तौर पर इस प्रकार आया है।

देवताओं ने अपनी माता अदिति में यज्ञ रचा, पर उन्होंने अदिति को इस यज्ञ से बाहर रक्खा। तब अदिति ने उन्हें मूढता में डाल दिया, जिससे वे यज्ञ के स्वरूप को न जान सके। तब देवों ने उससे कहा कि हम तुझ में ही तो यज्ञ को ताने हुये हैं पर तूने हमें मोह में डाल दिया है। अदिति ने उनसे कहा कि यह ठीक है कि तुम मुझमें ही यज्ञ रच रहे हो पर मुझे ही तुमने इस यज्ञ से बहिष्कृत कर दिया है, अत: मेरा भाग निश्चित करो तभी तुम इस यज्ञ के रहस्य को जान सकोगे। देवों ने 'तथास्तु' कह यह स्वीकार किया कि प्रायणीय और उदयनीय ये दो तेरे (अदिति) होंगे। अत्र प्रश्न यह है कि प्रायणीय और उदयनीय क्या है? मस्तिष्क स्थित अदिति भाग से इन्द्रियों का बाहिर की ओर जाना प्रायणीय है और बाहिर से मस्तिष्क स्थित इन्द्रिय केन्द्रों में पहुँचकर उनका अवसान होना उदयनीय है। कहा भी है "प्राणो वै प्रायणीयः" ऐ०ब्रा० १।७। तति वँ यज्ञस्य प्रायणीयम्। कौ०ब्रा० ७।६। "प्राणोदानावेव यत् प्रायणीयोदयनीये" कौ०ब्रा० ७।५। प्रायणीय प्राण है, जो कि शरीर रूपी यज्ञ में फैलता है। उदयनीय उदान है जो कि ऊर्ध्व को जाता है। यहाँ इस प्रकरण में उदान से पाँच ज्ञानेन्द्रियों को बाहिर से ऊर्ध्व में मस्तिष्क की ओर जाने का भाव है। इस प्रकार अदिति, प्रायणीय, उदयनीय तथा इन्द्रिय केन्द्रों (Brain centres) का अर्थात् इस ऐन्द्रियिक पंक्ति यज्ञ का मनुष्य को ज्ञान हो जाना ही इस प्रायणीयेष्टि का प्रयोजन है।

ब्रह्माण्ड के अन्दर यह अदिति सूक्ष्म जगत् है जिसमें किसी प्रकार का खण्ड (अ + दिति—दो अवखण्डने) टुकड़ा, भाग नहीं है। यह सूक्ष्म जगत् में ही सम्भव है। इसी भाँति पिण्ड में यह सूक्ष्म शरीर है, जिसमें किसी प्रकार की खण्ड सीमा नहीं है। ये इन्द्रियाँ मस्तिष्कस्थ उस अदिति भाग से निकल बाह्य विषयों की ओर जाती हैं और विषय ज्ञान को लेकर मस्तिष्क में आ पहुँचती हैं। यह एक साधना है। इसमें अग्नि, सोम, पथ्वा स्वस्ति तथा सविता आदि देवता सहायक होते हैं। पथ्वा स्वस्ति आन्तरिक वाक् ("वाक् वै पथ्या स्वस्तिः" कौ० ७।६, श० प० ३।२।३।८) का है जो कि ऐन्द्रियिक केन्द्रों (Brain centres) से चलकर 'इन्द्रिय-गोलकों तक पहुँचती है। इस यज्ञ में अग्नि तत्व, सोम=(ऐन्द्रियिक रस आदि) सहायक होते हैं। सविता इन इन्द्रियों को विषय-ग्रहण के लिये प्रेरित करता है। विषय ग्रहण की अवस्था में ये इन्द्रियाँ पशु कहलाती हैं। वहाँ आता है "अथैभ्यः सविता प्रारोचत। तमयजन् पशवो वै सविता पशवो यज्ञस्तद् यज्ञम पश्यँस्तमतन्वताथ यस्यै देवतायै हविर्निरुप्तमासीत् तामयजन्।" श० प० ३।२।३।११

आदित्यं चरूं प्रायणीयें निर्वपति। देवा हवा अस्याँ (अदित्यां) यज्ञं तन्वाना इमां यज्ञादन्तरीयुः सा हैषामियं यज्ञं मोहयाञ्चकार कथन्नु मयि यज्ञं तन्वाना मां यज्ञादन्तरीयुरिति ते ह यज्ञं न प्रजज्ञुः।······ तथेति देवा अब्रुवन तवैव प्रायणीय स्तवैवोदयनीय इति ······ ततो यज्ञमपश्यँस्तमतन्वत। श० प० ३।२।३।१-६

ऐन्द्रियिक देवों के प्रति सविता प्ररोचमान हुआ अर्थात् प्रेरणाप्रद रूप में उनके सामने प्रकट हुआ। इन देवों ने सविता से यजन अर्थात् मेल किया और प्रेरणा पाकर अपने-अपने कार्य में व्यापृत हुये। इस प्रकार जिस देवता के लिये हवि का निरूपण करना होता वही सविता से मेल कर प्रेरणा प्राप्त करता। यहाँ सविता को पशु माना है और यह ऐन्द्रियिक यज्ञ भी पशु माना गया है। प्रश्न पैदा होता है कि किसी को पशु संज्ञा कब मिलती है ? इसका उत्तर है "पश्यतीति पशुः" अर्थात् जब कोई देखता है तब वह पशु कहलाता है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ जब दर्शन आदि कार्य में व्यापृत होती हैं तब ये पशु कहलाती हैं। यहाँ 'दर्शन' सब इन्द्रियों के व्यवहार का सामान्य नाम है। सविता का प्ररोचन भी देवों का दर्शन है इसलिये सविता को यहाँ पशु कहा गया है। यह ऐन्द्रियिक यज्ञ भी दर्शन कार्य का एक रूप है अतः यह यज्ञ भी पशु है।

अब प्रश्न यह है कि सविता की प्रेरणा पाकर ये प्राण अदिति नामक अखण्डात्मक सूक्ष्म शरीर से निःसृत हो शरीर में फैलते हैं। यह फैलना ही प्रायणीयेष्टि कहलाता है। इन इन्द्रियों को समेट कर 'उदान' द्वारा अपने केन्द्र में पहुँचाना 'उदयनीय' इष्टि कहा जाता है। ये इन्द्रियाँ कहाँ से निकलती हैं और लौटकर कहाँ जा पहुँचती हैं और जिसमें समाती हैं उस आधारभूत अदिति को जानना ही इस प्रकरण का प्रयोजन है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में बाह्य यान्त्रिक उपकरणों द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय की आन्तरिक गतिविधि व उनकी दिशा का ज्ञान भले ही हो जाये। पर बिना उपकरणों की सहायता से इन्द्रिय देवों को अपनी दिशा का ज्ञान केवल यौगिक साधनों से ही सम्भव है। अतः कहा है "दिशोमुग्धाश्चासन् पञ्च" अर्थात् ये पाँचों ऐन्द्रियिक देव अपनी-अपनी दिशाओं के ज्ञान में मुग्ध अर्थात् मोह में पड़े हुये थे। पश्चिम दिशा का ज्ञान कैसे हुआ ? यह हम यहाँ दर्शाते हैं "प्रतीचीमेव दिशं सविता प्राजानन्नेष वै सविता य एष तपति तस्मादेष प्रत्यङ्ङेति प्रतीचीं ह्येतेन दिशं प्राजानन् प्रतीची ह्येतस्य दिक्" श० प० ३।२।३।१८ अर्थात् सविता द्वारा पश्चिम दिशा का ज्ञान हुआ। क्योंकि यह सविता पूर्व दिशा में उदय होकर पश्चिम दिशा को जाता है। अतः सविता द्वारा पश्चिम दिशा का ज्ञान होना स्वाभाविक है। वस्तुतः यह बाह्य दिशा ज्ञान का प्रकरण नहीं है क्योंकि सविता सूर्य द्वारा पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं का ज्ञान स्वतः हो जाता है, फिर पश्चिम दिशा का ज्ञान ही क्यों बताया ? यह आन्तरिक दिशा ज्ञान का बोधक है। पश्चिम-प्रतीची प्रत्यगात्मा की दिशा है। क्योंकि ऐन्द्रियिक देवों के पीछे सविता स्थित हो—सबको प्रेरणा देता है।

जीवन में मधु—श० प० ३।७।१।११

प्रत्येक व्यक्ति जीवन में मधु चाहता है अर्थात् समग्र जीवन मधुरता से परिपूर्ण रहे यही सबकी मनोकामना रहती है। जीवन में मधुरता का प्रदाता शास्त्रों में सविता को बताया है। कहा भी है, "देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु···" यजु० ६।२

अर्थात् सविता यजमान को मधु से संसिक्त करे। कर्म काण्ड की भाषा में यजमान को यहाँ 'यूप' माना है "यजमानो वा एष निदानेन यद् यूपः" अर्थात् अन्ततोगत्वा यह यजमान ही यूप है। यूप में पशु बाँधे जाते हैं। इस यजमान पुरुष के अन्दर भी सब पशु बंधे हुये हैं। जो कि बाह्य संसार से मधु का संचय करके पुरुष को प्रदान करते रहते हैं। जिस प्रकार लकड़ी का यूप वनस्पतियों का तेज माना गया है। इसी प्रकार नस नाड़ी रूप वनस्पतियों में योगाभ्यास द्वारा जो तेज उत्पन्न किया जाता है वह पुरुष में समाविष्ट हो जाता है। यह तेज ही यूप है। प्रश्न है कि मधु क्या है "सर्वं वा इदम् मधु यदिदं किञ्च तदेनमनेन सर्वेण संस्पर्शयति।" अर्थात् यह सब जगत् मधु रूप है। इस तेज रूप यूप का इस समग्र जगत् रूपी मधु से संस्पर्श कराता है। यह ब्रह्म भी मधु है कहा भी है "ब्रह्ममेतु माम् मधुमेतुमाम् ब्रह्मभेव मधुमेतु माम्।" तै० आ०। इस प्रकार जगत् मधु और ब्रह्म रूपी मधु से यह सविता ही यजमान को संसिक्त करता है। मधु का संस्पर्श इस सविता भगवान की कृपा से होता है।

सविता तथा यूपैकादशिनी—प्रजापति ने प्रजाओं का सर्जन किया तो उसने अपने को रिक्त अर्थात् खाली अनुभव किया। प्रजाओं ने भी उसे रिक्त समझकर अर्थात् हमें 'श्री' तथा अन्नादि की उपलब्धि यहाँ असम्भव है यह समझकर प्रजापति से वे पराङ्मुख हो गई। तब प्रजापति ने सोचा कि किस उपाय से ये प्रजाएँ श्री तथा अन्नादि की उपलब्धि के लिये मेरे पास आवें। इसके लिये उसने यूपैकादशिनी (पश्वेकादशिनी) इष्टि को उपयुक्त समझा। इस इष्टि में ग्यारह पशुओं का क्रम से आलम्भन किया जाता है। वे ग्यारह पशु निम्न हैं—

१. आग्नेयम्, २. सारस्वतम्, ३. सौम्यम्, ४. पौष्णम्,
५. बार्हस्पत्यम्, ६. वैश्वदेवम्, ७. ऐन्द्रम्, ८. मारुतम्,
९. ऐन्द्राग्नम्, १०. सावित्रम्, ११. वारुणम्।

ये ग्यारह पशु क्रम से लेने होते हैं। कहा भी है—"आग्नेयमेव प्रथमम् नयन्त्यथेतरान् यथापूर्वम्" श० प० ३।९।१।२४

इस क्रम में सर्वप्रथम अग्नि है तथा दसवें स्थान पर सविता सम्बन्धी पशु है ये सब आन्तरिक पशु हैं। श्री तथा अन्नादि की उपलब्धि के लिये अग्नि आदि पशु शक्तियों को क्रमशः वृद्धिगत करना पड़ता है। इन सबका विवेचन यहाँ उपयुक्त नहीं है केवल सविता का प्रसंग दर्शाते हैं। वहाँ आता है—अथ सावित्रम्। सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्या एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृद्धयन्ते। श० प० ३।९।१।२० अर्थात् सविता देवों को प्रेरित करने वाला है अतः सविता से प्रेरित हो सब देव मनुष्य की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करते हैं। इस प्रकार सब कामनाएँ समृद्ध होती हैं।

सावित्र-ग्रह—श० प० ४।४।१

सावित्र-ग्रह सोम याग का एक प्रकरण है। सावित्र-ग्रह में सब देव शक्तियों

को प्रेरणा देने वाली सवितृ शक्ति का मन प्राण आदि में आविर्भाव तथा उसका ग्रहण किया जाता है। इसके लिये प्राण, व्यान और उदान इन तीन प्राण वायुओं का सहारा लिया जाता है। इन प्राण वायुओं की भी एक विशिष्ट शक्ति व एक विशिष्ट रूप को ही लेना होता है। यथा—

प्राणो ह्वा अस्योपांशु र्व्यान उपांशु सवन उदान एवान्तर्यामः

श० प० ४।१।१।१

अर्थात् प्राण उपांशु है, व्यान उपांशु का सवन करने वाला है तथा उदान अन्तर्याम है! इन प्राण वायुओं के उपांशु आदि रूपों का क्या रहस्य है? यह एक विचारणीय विषय है। प्राण का प्रमुख स्थान मुख व चेहरे में है। व्यान की सत्ता हृदय में विशेष है तथा उदान कण्ठ व ग्रीवा में रहता है। प्राण को उपांशु का रूप देने के लिये व्यान को सक्रिय करना पड़ता है क्योंकि व्यान उपांशु भाव का सवन करने वाला है। व्यान को सक्रिय करने के लिये सर्वप्रथम मन में सवितृशक्ति को जागृत करना होगा। अतः कहा है "मनोहवा अस्य सविता" श० प० ४।४।१।१ अर्थात् मन इसका सविता बनता है। यदि किसी के मन में ही प्रेरणा उद्बुद्ध नहीं होती तो वहाँ कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। मन में सवितृशक्ति के जागृत होने पर वह प्रेरणा हृदय में स्थित व्यान वायु को प्राप्त होती है। मन में अटूट व दृढ़ संकल्प का जागृत होना व्यान वायु का कार्य है। व्यान के सक्रिय होने पर शनैः-शनैः उस व्यक्ति के मुख व चेहरे में एक आभा मण्डल प्रकट होने लगता है। मुखस्थ प्राण में जो परिवर्तन होते हैं उसे उपांशु कहा है। उपांशु भाव निश्चल, नीरव, कोलाहल रहित तथा निर्विचार स्थिति का द्योतक है। जब तक व्यान वायु सक्रिय नहीं होता तब तक मन में संकल्प, विकल्प दोनों उद्बुद्ध होते रहते हैं और प्राण उपांशु नहीं बनते। व्यान वायु को सक्रिय करने का एक उपाय यह हो सकता है कि कुम्भक प्राण द्वारा मन को हृदय में एकाग्र किया जाये इससे व्यान सक्रिय हो जायेगा। तत्पश्चात् मन को हृदय प्रदेश से ऊर्ध्व में मुख के अग्र भाग में एकाग्र किया जाये तथा ग्रीवा तक मन को सीमित रक्खा जाये। इस प्रकार अभ्यास के पश्चात् मुख और ग्रीवा इन दोनों प्रदेशों के प्राणों के मध्य में सविता का ग्रहण होगा। कहा भी है—"प्राणो ह्वा अस्य सविता तमेवास्मिन्नेतत् पुरस्तात् प्राणं दधाति यदुपांशुं गृह्णाति तमेवास्मिन्नेतत् पश्चात् प्राणं दधाति यत् सावित्रं गृह्णाति ताविमा उभयतः प्राणौ हि तौ पश्चायमुपरिष्ठाद् पश्चाधस्तात्।" श. प. ४।४।१।७

जब प्राण सविता बनता है अर्थात् प्राण में प्रेरणा शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है तब वह उपांशु रूप में होता है और मुख के अग्रभाग में उसकी सत्ता होती है। मुख में आभा मण्डल प्रकट होता है। इसी प्रकार सिर में पश्चात् भाग में प्राण धारण से अथवा गर्दन में धारण करने से ऊपर तथा नीचे दोनों प्राणों के मध्य में यह सविता बंध जाता है। इस सवितृ-ग्रह से मनुष्य की सारी चेतना सिर में केन्द्रित हो जाती है और सविता की निरन्तर प्रेरणा होते रहने से आन्तरिक शक्तियाँ उद्बुद्ध होती हैं।

एक स्थान पर उपर्युक्त तथ्य को इस प्रकार पुष्ट किया है। तंवा उपांशुपात्रेण..... अन्तर्याम पात्रेण वा समानं ह्येतद् यदुपांश्वन्तर्यामौ प्राणोदानौ हि" श. प ४।४।१।४

सविता को उपांशुपात्र से ग्रहण करता है। मन सविता है और प्राण उपांशु है। इस मन रूपी सविता को उपांशु पात्र (प्राणायतन=मुख) से ग्रहण करने या अन्तर्याम पात्र (उदानायतन =ग्रीवा) से इसमें कोई भेद नहीं है। क्योंकि दोनों समान हैं। दोनों में से किसी एक से यह मन गृहीत हो जाता है, बंध जाता है। ये दो प्राण और उदान हैं। अब हम यहाँ संक्षेप में यह भी दर्शा देते हैं कि प्राण को उपांशु और उदान को अन्तर्याम क्यों कहा गया है।

उपांशु :—

अंशु के समीपस्थ जो प्राण है वह उपांशु कहलाता है। अंशु सोम का वह सूक्ष्म तत्व है जो कि जीवन के लिये कल्याणकारी (अननायशं भवति=अंशु निरु. २।५) होता है। चेतना का उद्बोधक यह अंशु ही होता है। इसकी प्रमुख सत्ता मस्तिष्क में है। अतएव मुखस्थ प्राण को उपांशु माना गया है। उपांशु का सामान्य अर्थ है चुप रहना अर्थात् निश्चल, नीरव, कोलाहल रहित तथा शब्द व विचार से रहित स्थिति।स्मृति में आता है।

जिह्वौष्ठौ चालयेत् किञ्चिद् देवता गत मानसः।
निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशु स जपः स्मृतः ॥

उपांशु की यह स्थिति पैदा होती है समग्र चेतना को मुख में केन्द्रित करने पर। इसीलिये कहा कि "यज्ञमुखं वा उपांशु" श. प. ५।२।४।१ अर्थात् शरीर रूपी यज्ञ का मुख ही उपांशु भाव को प्राप्त होता है। वस्तुतः मुख में विद्यमान प्राण ही उपांशु बनता है। कहा भी है। "प्राणोह वा अस्योपांशुः" श. प. ४।१।१।१। प्राण की इस उपांशु अवस्था को दूसरे शब्दों में अनिरुक्त (अनिरुक्तं वा उपांशुः। श. प. १।३।५।१०) अवस्था भी कहा गया है अर्थात् जिसमें किसी भी प्रकार का वाक् व्यवहार नहीं है और न विचारों का उद्बोधन है। तै. सं. ६।४।५ में आता है "ब्रह्मवादिनो वदन्ति पवित्रवन्तोऽन्ये ग्रहा गृह्यन्ते किं पवित्र' उपांशुरिति वाक् पवित्र इति" अर्थात् ब्रह्मवादियों का कथन है कि पवित्र वाले ग्रहों का ग्रहण किया जाता है पर उपांशु का क्या पवित्र है? उत्तर दिया, वाक् पवित्र अर्थात् इस उपांशु ग्रह में वाक् पवित्र लेनी होती है। अधिक बोलने से असत्य भाषण हो जाता है। इस-

---

प्राण—यो वायुर्वक्त्र संचारी स प्राणोनाम देहधृक्। सु. नि. १।१३
वक्त्र संचारित्वं चास्योपलक्षणम् मूर्धोरः कण्ठ नासिका अपि प्राणस्य स्थानम्। डह्लन।

उदान—उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषितगीतादि विशेषोऽभि प्रवर्तते ॥ सू. नि. १।१४
उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एवच।
वाक् प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जो बलवर्णादि कर्मच ॥ च. चि. २८।७

लिये ऋषि मुनि वाक् व्यवहार अतिन्यून करते थे। असत्य भाषण से वाक् अपवित्र हो जाती है अत: वाक् की पवित्रता के लिये उपांशु (मौन) रहना आवश्यक है।

अन्तर्याम :—

श. प. ४।१।२ में उदान को अन्तर्याम कहा है। तै. सं. ६।४।६, मै. सं. ४.५।५ काठ. २७।१ में अपान को अन्तर्याम माना है। इन दोनों में विरोध नहीं है पर क्षेत्र भेद व क्षेत्र विस्तार से विरोध सा प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण यहां सावित्र ग्रह की सीमा मस्तिष्क तक ही मानता है अतः उसने प्राण और उदान का ग्रहण कर उदान को अन्तर्याम माना है अथवा आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रतिपादित उदान का क्षेत्र नाभि तक है आगे नाभि से नीचे अपान का क्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है। एक ने उदान की समाप्ति सूचक सीमा का ग्रहण किया दूसरे ने अपान के प्रारम्भ की सीमा का ग्रहण किया। दोनों कथनो द्वारा एक ही स्थान का ग्रहण होता है।

तैत्तिरीय संहिता में आता है कि देवताओं ने यज्ञ में जो किया वही असुरों ने भी किया। देवों ने सोचा कि यज्ञ की सम्यक् स्थिति कहाँ हो सकती है। उन्होंने उपांशु को यज्ञ की संस्थिति के लिये उपयुक्त समझा और वहाँ यज्ञ को स्थापित किया। असुरों ने जब यह देखा तो वे वज्र उठाकर देवों को मारने दौड़े। देव भयभीत हो इन्द्र के पास दौड़ गये इन्द्र ने उन्हें अन्तर्याम द्वारा अपने अन्दर धारण कर लिया यही अन्तर्याम का अन्तर्यामत्व है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अपने अन्दर धारणव अपने अन्दर समाविष्ट कर लेना अन्तर्याम कहलाता है। इन्द्र ने इन्द्रिय देवों को अपने अन्दर समाविष्ट कर लिया तब बुरे विचार आदि आसुरी पाप उनको मार न सके।

श. प. ४।१।२।२ में आता है कि ":योऽस्यायमुदानो ऽन्तरात्मन् यतस्तदस्यैपो ऽन्तरात्मन् यतो यद्वेनेनेमाः प्रजा यतास्तस्मादन्त र्यामो नाम"।

अर्थात् यह उदान अन्तरात्मा में अथवा शरीर में ही यत नियन्त्रित व बद्ध रहता है इसी उदान द्वारा यह समग्र प्रजा नियन्त्रित है। इसलिये उदान को अन्तर्याम कहते है। अन्तर्याम पद अन्तर + या प्रापणे धातु से निष्पन्न होता है। मनुष्य जितना अधिक अन्तरात्मा में स्थित रहता है स्व में स्थित (स्व + स्थ) रहता है उतना ही व्याधि आदि शत्रुओं से बचा रहता है।

तानिन्द्रो ऽन्तर्यामेणान्तरधत्त तदन्तर्यामस्यान्तर्यामत्वम्।
यदन्तर्यामो गृह्यते भ्रातृव्यानेव तद् यजमानो ऽन्तर्धत्ते। तै. सं: ६।४।६

इन्द्र ने देवताओं को अन्तर्याम प्रक्रिया द्वारा अपने अन्दर धारण कर लिया। इसलिये जो यजमान अन्तर्याम का अभ्यास करता है वह व्याधि आदि शत्रुओं को अपने से अन्तर्धान करता है।

अन्तर्धत्ते क्रिया व अन्तर्याम पद में दो भाव निहित है किन्हीं को अपने अन्दर रखना और किन्हीं को (विजातीयको) अन्दर से बाहर कर देना। यह तथ्य निम्न वाक्य से स्पष्ट है "अन्तस्ते दधामि द्यावापृथिवी अन्तरूर्वन्तरिक्षमित्याहैभिरेव लोकै

यजमानो भ्रातृव्यानन्तर्धत्ते" द्यावा पृथिवी को मैं तेरे अन्दर स्थापित करता हूँ और विस्तृत अन्तरिक्ष को भी मैं तेरे अन्दर रखता हूँ। इस प्रकार यह यजमान इन लोकों से शत्रुओं को नीचे करता है।

अन्तर्याम से अपान अर्थ लेने पर मलमूत्र तथा विजातीय तत्वों को अपान द्वारा बाहर किया ही जाता है। श. प. ४।४।१।४ में याज्ञवल्क्य भी अन्तर्याम से अपान का ग्रहण करता है यथा—"प्राणापानौवा एतौ यदुपांश्वन्तर्यामौ"। जिस मनुष्य की अपान वायु सुचारु रूप से कार्य करती है। मलभूत्र आदि बिजातीय तत्व भली-भाँति बाहिर हो जाते हैं उस व्यक्ति का मन प्रसाद गुव वाला हो जाता है। समता, ध्यान आदि स्वतः हो जाते हैं।

आग्रयण—ग्रह

आग्रयण आत्मा को कहते हैं। आत्मा जब ग्रह बनती है तब मन सविता होता है और चञ्चलता, अस्थिरता आदि त्यागकर आत्मा में जा स्थित होता है। इसी प्रकार प्राण सविता हो तो वह प्राण बासना कामना आदि को समाप्त कर आत्मा में जा पहुँचता है। यथा—"आग्रयणाद् गृह्णाति। मनो हवा अस्य सविता ऽऽत्माऽऽग्रयण आत्मन्येवैतन्मनो दधाति प्राणोहवा अस्य सविता ऽऽत्माऽऽग्रमण आत्मन्येवैतत् प्राणं दधाति। श. प. ४।४।१।५

जिस प्रकार मन और प्राण सवितृ रूप होकर अर्थात् प्रेरक बनकर आत्मा में स्थित होते हैं तब यजु. ८।६,७ इन दो मन्त्रों में प्रतिपादित वाञ्छनीय, अभीष्ट तथा द्रिव्य अन्नादि की उपलब्धि होती है। जब मन और प्राण दोनों शरीर से बाहिर न जाकर अन्दर ही स्थित रहते हैं उसी अवस्था में भौतिक अन्न का परिपाक भी सुचारु रूप से होता है मनुष्य स्वस्थ (स्वः + स्थ) रहता है। यजु.—८।७ में ,उपयाम गृहीतोऽसि' में उपयाम पृथिवी का वाचक है। पिण्ड में पृथिवी उदर है। उदर में सविता की प्रेरणा ठीक-२ हो तो अपान वायु ठीक रहती है। कहा भी हैं 'उपयाम गृहीतोऽ सीत्याहापानस्य धृत्यै श. प. ४।४।१।६ अर्थात् अपान के धारण के लिये ही उपयाम गृहीतोऽसि' वाक्य है। मै. सं. ४।६।५ में आता है "त्रयोहीमे प्राणाः प्राणो ऽपानो व्यानो ऽथो त्रयो वा इमे लोका इमानेव लोकानाप्नोत्यसौ वा उपांशुरन्तरिक्षमन्तर्याम इय (पृथिवी) मुपयामो यदुपयामो गृहीता गृह्यन्तेऽनया वा एतत् गृह्यन्ते" तीन प्राण है, तीन लोक हैः एक-एक प्राण एक एक लोक में प्रभावी है। उपयाम पृथिवी है। पिण्ड में उदर है यहां अपान प्रभावशाली है। अतः पृथिवी स्थानीय उदर में प्रभावी अपान ही इन सब लोकों व प्राणों को धारण करने वाला है। अपान के धारण से सब प्राणादि धारण किये जाते हैं ऐसा हमें समझना चाहिए। मन्त्र में "अयाधिया वामभाजः स्याम" में 'धी' पद प्रज्ञा व कर्म का वाचक है। यहाँ मन व प्राण रूप सविता का आत्मा में धारण करना स्थिर करना रूपी कर्म अभीष्ट है। अर्थात् मन बाहिर की ओर विषयों में न जाकर अन्तरात्मा की ओर जावे ऐसा

प्रेरणा होनी चाहिए। इसी प्रकार प्राण में भी अन्तरात्मा की ओर गति हो तो समझो मन और प्राण सविता का रूप धारण कर चुके हैं।

असन्न मन तथा असन्न प्राण में सविता—

मन तथा प्राण दोनों असन्न हैं क्योंकि ये दोनों किसी एक स्थान पर स्थित नहीं रहते। मन सदा इधर उधर विषयों के प्रति उछाल भरता रहता है। इसी प्रकार प्राण भी शरीर में सर्वत्र विचरता रहता है। मन के असन्न होते हुए भी उसे एकाग्रता आदि के लिए प्रेरित किया जा सकता है। इसका उपाय यह है कि मन को शरीरस्थ किसी भी आन्तरिक अवयव व स्थान से संयुक्त न कर सतत प्रेरणा द्वारा उसे बांध दिया जाये। इसी तथ्य को निम्न शब्दों में कहा "देवाय सवित्रेऽनुब्रूहि" सविता देव के प्रति अनुवचन बोलो तथा "देवाय सवित्रे प्रेष्य" सविता देव के प्रति मन को भेजो अर्थात् मन में सविता सम्बन्धी प्रेरणा होती रहे। प्रश्न यह है कि जब मन रुकता नहीं तो मन को एकाग्र कैसे किया जा सकता है? इसका यहाँ उपाय 'वषट्कार' बताया है अर्थात् सर्वप्रथम जोर जबर्दस्ती घेर-घार कर एकाग्र किया जावे और इसके लिये सतत प्रेरणा होती रहे यह 'वषट्कृते जुहोति' की प्रक्रिया है।

वाजपेय याग औरसविता—

सकल कर्मों के आरम्भ में सविता देव की अनुज्ञा व उसका आदेश प्राप्त करना आवश्यक है। उसी की स्वीकृति व प्रेरणा पर कार्य में सफलता निर्भर होती है। ज्ञान विज्ञान का अधिपति बृहस्पति भी वाजपेय याग के विजय लाभ के लिए अनुज्ञा लेने सविता के पास पहुँचता है और उसकी स्वीकृति मिलने पर वह विजयी होता है। बृहस्पति द्वारा विजय प्राप्ति का परिणाम यह होता है कि प्रजापति स्वयं सर्वजगत रूप हो जाता है। इस प्रकार सर्व कर्मों की सिद्धि व सफलता तथा देवों को प्रेरित करना सविता देव के अधीन है। एक मन्त्र है—

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञ पतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपू केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचंनः स्वदतु स्वाहा।

मन्त्र का अर्थ अविकल रूप में हमने अन्यत्र दिया है। यहाँ इतना ही कहना है कि यज्ञ और यज्ञपति दोनों को प्रेरित करना तथा सफलता तक पहुँचाना सविता देव का कार्य है। यहाँ वाचस्पति को प्रजापति कहा है और वाज को अन्न। वाचस्पति पद से यह ध्वनित होता है कि वाज द्वारा गृहीत अन्न विज्ञान सम्बन्धी ऐन्द्रियिक अन्न है। इन्द्रियाँ विषयों से अन्न ग्रहण करती है और अन्दर विद्यमान वाचस्पति को प्रदान करती है। कहा भी है—

"प्रजापति वै वाचस्पतिरन्नं वाजः प्रजापतिर्न इदम द्यान्नं स्वदत्वित्ये-वैतदाह।" श० प० ५।१।२।१६

वाज पद से भौतिक तथा ऐन्द्रियिक सूक्ष्मान्न दोनों का ग्रहण हो सकता है पर शर्त यह है कि यह अग्नवाज अर्थात वेग उत्पन्न करने वाला होना चाहिये।

पृथिवी में अन्नादि धारण शक्ति सविता द्वारा—

वाजस्व नु प्रसवे मातरं महीनदितिं नाम वचसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत्। यजु ९। ५

वाज अर्थात् अन्न उत्पत्ति में महान् अदिति माता को वाक् द्वारा अनुकूल बनाते हैं। जिस अदिति माता में यह समग्र भुवन समाविष्ट है। उसमें यह सविता देव धर्म = अनादि धारण शक्ति को पैदा करे।

इस मन्त्र को स्पष्ट रूप में समझने के लिये दो तीन बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो अदिति क्या है यह विचारणीय है। प्रायः विद्वान अदिति का अर्थ यहाँ पृथिवी करते हैं जो कि उपयुक्त नहीं है। अदिति (अदीना = अखण्डित) द्युलोक पृथिवी तथा समग्र भुवन को समाविष्ट करने वाली प्रकृति है। यहाँ अदिति से द्युलोक तथा पृथिवी लोक संबंधी परिमित भाग ही ग्रहण करना है। क्यों कि दोनों के समन्वय से ही अन्न पैदा होता है। दूसरा शब्द है "वचसा" अर्थात् वाक् द्वारा दोनों को अनुकूल करते हैं। यहाँ वाक् से रथन्तर नामक पार्थिव वाक् का ग्रहण करना चाहिये अथवा द्युलोक तथा पृथिविलोक दोनों की वाक् ग्रहण की जा सकती है। द्युलोक की वाक् बृहत् है और पृथिवी की वाक् रथन्तर है। रथन्तर नामक पार्थिव वाक् जब द्युलोक सम्बन्धी बृहत् वाक् से मेल करती है तभी ऊर्ध्व से बाज (सोम) अन्न पृथिवी पर आता है और नाना औषधियों व वनस्पतियों के रूप में उत्पन्न होता है। इसी अदिति सम्बन्धी वाक् में समग्र भुवन समाविष्ट है। पृथिवी में समग्र प्राणी तथा अन्नादि के धारण की जो शक्ति है (धर्म) वह सब सविता देव की कृपा का फल है।

सत्यसवा सविता—

जिस व्यक्ति पर सविता देव की कृपा हो जाती है उसे जिस कर्म के करने के लिये अथवा जिस उपलब्धि के लिए सविता की अनुज्ञा मिल जाती है वह कर्म तथा वह उपलब्धि अवश्य ही होती है। संसार में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं जो कि सविता की आज्ञा व अनुज्ञा को लांघ सके। इसीलिये उसे "सत्यसवः" सत्य प्रसवसः विशेषणों से सम्बोधित किया है। एक मन्त्र है—

देवस्याहं सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकं रुहेयमिति श. प. ५। १। ५। २ अर्थात् सत्य सवन करने वाले उस सविता देव की प्रेरणा पर मैं बृहस्पति के उत्तम नाक स्वर्ग में आरोहण कर जाऊँ। इसी प्रकार बृहस्पति की उज्जिति = ऊर्ध्व जय में भी सविता की प्रेरणा काम करती है। श. प. ५। १। ५। १६

राजसूय याग में क्षत्ता में सवितृ शक्ति— श. प. ५। ३। १। ७

राजसूय याग में ७ वें दिन यह सावित्री इष्टि करनी होती है। वहाँ क्षत्ता (प्रतिहार = द्वाराध्यक्ष) के घर जाकर सविता सम्बन्धी द्वादश कपाल अथवा अष्टाक पाल का पुरोडाश बनाया जाता है। वहाँ क्षत्ता को सविता माना जाता है अर्थात् उसमें सवितृशक्ति का आरोप किया जाता है। जिस प्रकार सविता सब देवों को प्रेरित करता है उसी प्रकार क्षत्ता भी हाथ में बेंत लेकर सबको प्रेरित करता रहता है। मार्ग से हटाता है, यथोचित मार्ग का अनुसरण कराता है। यह क्षत्ता राजा का

एक रत्न है इसका कभी उलंघन न करें यह निर्देश दिया गया है। यहाँ पुरोडाश प्राशुक व्रीहि का बनाया जाता है। प्राशुक व्रीहि का पुरोडाश बनाने का फल यह बताया कि "क्षिप्रे मा प्रसुवानिति" अर्थात् सत्य का सवन करने वाला सविता कार्य के शीघ्र निर्वाह के लिये मुझे प्रेरित करता रहे। राज कार्य में लालफीताशाही का दुश्चक्र न चले। राजा राजकार्य का शीघ्र निर्वाह करने वाला हो और प्रजाजन भी राजाज्ञा का तत्काल पालन करने वाले हों। राजसूय यज्ञ में अध्वर्यु राजा के दाहिने बाहु को पकड़कर मन्त्र का जप करता है "सविता त्वा सवानां सुवताम्" अर्थात् सविता भगवान सब प्रकार के सवों प्रेरणाओं, उत्पत्तियाँ आदि में मुझे समर्थ बनावे। मनुष्य का दक्षिण बाहु तथा दक्षिण पार्श्व वाम पार्श्व की अपेक्षा अधिक बलवान होता और सब कार्य दक्षिण बाहु द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, इसी कारण अध्वर्यु— "अथैनं दक्षिणे बाहावभि पद्य जपति" राजा के दक्षिण बाहु को पकड़कर मन्त्र जपता है। राजा का अभिषेक भी सविता देव की आज्ञा अनुज्ञा होने पर ही सम्पन्न होता है।

मस्तिष्क शक्तियों को प्रकाशित करने वाला सविता—

यजु ११। ६३, श. प. ६। ५। ४। ११

मस्तिष्क स्थ इन्द्रिय केन्द्रों को वैदिक परिभाषा में 'उखा' कहते हैं। क्योंकि उत्खनन के द्वारा इनमें इन्द्रियों को स्थापित किया गया है। मातृगर्भ में कलल के अन्दर इन्द्रिय केन्द्रों का उत्खनन व निर्माण सविता भगवान के द्वारा होता है। पर जब योगाभ्यास द्वारा इनमें दिव्य शक्तियों का उत्खनन करना होता है तब भी सविता की प्रेरणा ही सहायक होती है। मन्त्र है—

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशआवृणु। यजु ११। ६३

हे उखे! तुझे उत्तम हाथों, उत्तम अंगुली तथा उत्तम बाहुओं वाला यह सविता देव अपनी शक्ति द्वारा प्रकाशित करे तू अपने स्थान (पृथिव्यां) में अव्यथित होती हुई दिशाओं को चहुँ ओर से भर दे।

इसका तात्पर्य यह है कि सविता की कृपा से चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रिय शक्ति इतनी व्यापक हो जाती है कि समग्र दिशाओं से दूर २ से विषयों को ग्रहण करके लाती है।

सविता की सख्यता कौन वरता है—श. प. ६।६।१।२१

जो व्यक्ति विश्वदेवों के नेता सविता देव की सख्यता वरता है वह द्युम्न और पुष्टि को प्राप्त करता है। उस सविता देव की सख्यता कैसे प्राप्त होती है इस सम्बन्ध में कहा कि "एषवा अस्य सख्यं वृणीतेय एतत् कर्म करोति" अर्थात् जो सविता को पूर्ण समर्पण कर उसकी प्रेरणा पर कार्य करता है वह उसकी सख्यता प्राप्त कर लेता है। और उस सख्यता प्राप्त व्यक्ति को वह सविता उसी कर्म में प्रयुक्त

१. पूर्वं छिन्नाः सन्तः पुनराशु प्ररोहन्ति इति पुन राशुका इत्यर्थे प्राशुका श्चच्छान्दसः। रलयोरभेदः

करता है जिस कर्म को वह स्वयं करता है कहा भी है "सविता वा एतदग्रे कर्माकरोत् तमे वैतद् तस्मै कर्मणे प्रयुङक्ते" अर्थात् सविता देव जो कर्म करता है उसी कर्म को करने के लिये वह प्रेरणा देता है। अतः जिस कर्म करने की वह प्रेरणा दे वही कर्म हम करें तो उसकी सरव्यता प्राप्त हो सकती है।

छींकों पर लटके लोक लोकान्तऐ को प्रकाशित करने वाला सविता—

इस पार्थिव लोक में अनन्त रूप है। ये रूप रात्रि के घने अन्धकार में विलीन हो जाते हैं। प्रातः काल होने पर यह सविता (सूर्य) इन्हें प्रकाशित करता है। ये लोक लोकान्तर मानों छींकों पर लटके हुए हैं। शास्त्रों में दिशाओं को छींके कहा गया है। इन छींको को वैदिक भाषा में शिक्य कहा गया है। दिशाएँ शिक्य इसलिये है कि इनके कारण ये लोक लोकान्तर टिके हुए हैं। कहा भी है, दिशाः शिक्यम् दिग्भिर् हीमे लोकाः शक्नुवन्ति स्थातुम् यच्छक्नुवन्ति तस्माद् शिक्यम्।"

श. प. ६।७।१।१६

'अध्यात्म क्षेत्र में अत्मा का शिक्य प्राण है। कहा भी है "प्राणैर्ह्यय मात्मा शक्नोति स्थातुम्।' श. प. ६।७।१।२० अर्थात् प्राणों के आधार पर ही यह अत्मा शरीर में स्थित है। मन्त्र में कहा गया है-विश्वारूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः। यजु. १२।३। यह क्रान्त दर्शी सूर्य समग्ररूपों को प्रकाशित करने वाला है। यह सविता नाक लोक अर्थात् स्वर्ग-लोक को भी प्रकाशित करता है। विनाकमख्यत् सविता वरेण्यः। इति स्वर्गो वै लोको नाकः श. प. ६।७।२।४ मन्त्र का सम्पूर्ण अर्थ अन्यत्र दिया गया है।

सूर्य के माध्यम से सविता का प्रकाश— यजु. १७।५०

सूर्य रश्मिर् हरि केशाः यजु. १७।५८ श. प. ६।२।३।११

सूर्य की रश्मियाँ हीइस सविता की रश्मियाँ है—"सूर्यस्य रश्मयः एवं रश्मयोयस्य"। इस सविता देव किये रश्मियां ही केश स्थानीय है इन द्वारा समग्र प्राणि जगत का वह हरण करता हैं। औषधि-वनस्पतियों में से रस का आकर्षण करता है और पुनः प्रदान कर देता है। सारे जगत में परिपोषण आकर्षण आहरण व संदर्शन आदि कार्य इस सूर्य के ही माध्यम से होता है। मानव शरीर में यह अग्नि सविता देव के सकल कार्यों का निर्वाह करती है। सायणाचार्य ने लिखा है। "सूर्य रश्मिः— स एव प्रणीयमानाग्निलक्षणः। सूर्यस्यैव रश्मिमियुर्क्तः हरितवर्णकेशः तेजो रूपः सविता अनवच्छिन्नम् पुरस्तादेतदुदयच्छति। प्रतीक रूप में वाह्य कर्म काण्ड की अग्नि का भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। "तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान" उस सविता की प्रेरणा से ही मनुष्य में पूषा अर्थात् पोषण होता है। पूषा का प्रकटन क्योंकि प्राणादि पशुओ द्वारा होता है और प्राणपशु का परिपोषण बाह्य पशुओं द्वारा होता है। अतः पूषा और पशु तथा प्राण में अभेदोपचार कर दिया गया है। पशवो वै पूषा प्राणा पशवो ?

'संपश्यन्' विश्वा भूवनानि गोपा' मनुष्य में जब सवितृ शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है तब वह भी समग्र भुवनों को प्रत्यक्ष रूप में देख लेता है।

ब्राह्मण राजा के अधीन नहीं होते थे—

यजु. १८।५१। श. प. ६।४।३।१६

'सविता त्वा सवानां सुवताम्' यजु. १८।५१ यह सविता राजा का सवन करता है, अर्थात् प्रजाओं पर राज्य करने के लिये उसे प्रेरित करता है और समर्थ बनाता है। प्रजाओं से कर (टैक्स) वसूल करना तथा राज्य के सुचारु रूप से संचालन के लिये उन्हें नियुक्त करता है परन्तु शास्त्र कहते हैं कि यह मनुष्य राजा ब्राह्मणों का नहीं होता था। इसी दृष्टि से कहा है "एषवोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाँ राजा" अर्थात् यह मनुष्य राजा तुम प्रजाओं का है हम ब्राह्मणों का राजा तो सोम है। आगे आता है'

"ब्राह्मणानेवापोद्धरति······अनाद्यान् करोति" अर्थात् सामान्य प्रजाओं से ब्राह्मणों को पृथक् करता है उन्हें अनाद्य, अभक्ष्य मानता है। उनका वह भक्षण नहीं कर सकता अर्थात् उनसे टेक्स आदि नहीं ले सकता।

प्रजापति सविता के अधीन—

श. प. १०।२।२।४ में आता है कि—"सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्। पूर्वो। जातः सउ अस्यानु धर्मेति प्रजापति वै सुपर्णो गरुत्मानेष सवितैतस्य प्रजापतिरनु धर्ममित्येतत्"

प्रजापपि सुपर्ण है, उत्तम उडान करता है, किस क्षेत्र में ? प्रजाओं के निर्माणादि कार्य में। यह प्रजापति इस सविता देव के धर्म व नियम के अनुसार सबसे पूर्व उत्पन्न हो समग्र संसार का निर्माण करता है। सभी देव इस सविता के अधीन रहते हुए उसकी प्रेरणापर कार्य करते हैं।

सविता द्वारा वसु विभाग— यजु. ३०।४, श. प. १०।२।६।५

यह सविता प्रजाओं को उनके अपने अपने कर्मानुसार आन्तरिक व बाह्य ऐश्वर्य, स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य आदि मात्रा में अधिक व न्यून रूप में विभक्त करके दिया करता है। यह औषधि बनस्पति आदियों में रस आदि प्रदान करने वाला है। जिन्हें अधिक देता है वे चिरंजीवी होते हैं। जिन्हें न्यून देता है वे अल्पायु होते हैं। यह सब आन्तरिक ऐश्वर्य पर अधिक निर्भर करता है। कहा भी है "भूय इव ह त्वेवाभ्यः प्रयच्छति कनीय इवैकाभ्यस्तद्याभ्यो भूयः प्रयच्छति ताः ज्योक्तमां जीवन्ति याभ्यः कनीयः कनीयस्ताः। विभक्तारं वसोः—यजु. ३०।४ तदेतत् सर्वमायु दीर्घमनंत तद् यदिदमाहुर्दीर्घन्त आयुस्तु सर्वमायुरिहीत्येष. श. प. १०।२।६।६

'सर्वमायुः पूर्णायुः शतायुः' ये सब एकार्थक है। इनमें कोई विरोध नहीं है। दीर्घमनन्तं का भी यही भाव है। मनुष्य की भगवान ने १०० वर्ष आयु नियत की है इससे पूर्व या मध्य में ही आयु का अन्त न हो यही अनन्त का भाव है।

मित्रविन्देष्टि में सविता श. प. ११।४।३

मित्र विन्देष्टि में अग्नि, सोम, मित्र, वरुण व सविता आदि देवों की श्रीका दिग्दर्शन कराया गया है। इससे इन देवताओं में क्या विशिष्ट शक्ति या गुण है यह स्पष्ट हो जाता है। दिग्दर्शन मात्र यहाँ के लिए यह तालिका में दर्शाते है।

देवता	—	श्री	—	पद	=	पति
१. अग्नि	—	अन्नाद्य	—	अन्नाद	=	अन्नपतिः
२. सोम	—	राज्य	—	राजा	=	राजपतिः
३. वरुण	—	साम्राज्य	—	सम्राट	=	सम्राड्पतिः
३. मित्र	—	क्षत्र	—	क्षत्र	=	क्षत्रपतिः
५. इन्द्र	—	बल	—	बल	=	बलपतिः
६. बृहस्पति	—	ब्रह्मवर्चस्	—	ब्रह्म	=	ब्रह्मपतिः
७. सविता	—	राष्ट्र	—	राष्ट्र	=	राष्ट्रपतिः
८. पूषा	—	भग	—	भग	=	भगपति
९. सरस्वती	—	पुष्टि	—	पुष्टि	=	पुष्टिपतिः
१०. त्वष्टा	—	रूप	—	रूपकृत्	=	रूपपतिः

संक्षेप में कथानक का सार यह है कि संसार का निर्माण करते हुए प्रजापति ने सब देवताओं को उत्पन्न किया। वहाँ श्री को भी पैदा किया। देवताओं ने कहा– हम इसका हनन कर आपस में बाँट लेते हैं। प्रजापति बोला, 'नहीं 'श्री' स्त्री है स्त्री का हनन नहीं किया करते, इसके जीवित रहते हुए ही इसके हिस्से आपस में बाँट लो। सबने ऐसा ही किया। श्री ने प्रजापति से कहा कि मेरे भाग मुझे मिलने चाहिए तब प्रजापति ने कहा कि 'यज्ञ द्वारा याचना कर,। तब यज्ञ द्वारा आहुति प्राप्त कर देवताओं ने अपना अपना श्री भाग उसे लौटा दिया। इस कथानक का रहस्य शरीर क्षेत्र में स्पष्ट होता है। हमारे शरीर में सब देवता विराजमान है। शरीर के माध्यम से उन्हें अपनी अपनी श्री प्राप्त हुई थी। यह श्री शरीर में कैसे प्रकट हो यही यज्ञ व होत्रा हुति का रहस्य है। अर्थात् अग्नि आदि देवों को आहुति दो जिससे उनकी वृद्धि हो तो शरीर में भी वह शक्ति उत्पन्न हो। प्रसंङ्गानुसार सविता की श्री राष्ट्र है वह राष्ट्रपति है। राष्ट्र क्या है यही एक विचारणीय विषय रह जाता है। सोम का राज्य वरुण का साम्राज्य सविता का राष्ट्र इनमें परस्पर क्या भेद है यह एक गम्भीर विचारणीय विषय है। विद्वान विचार करें।

ज्योतिष्टोम में सविता श. प १२।६।१।६

ज्योतिष्टोम यज्ञ के सेवन (सात: वनषण संभक्तौ) करने पर यदि कोई बीच में व्याघात आ जाए तो सवित्रे स्वाहा यह बोलना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि ज्योति व प्रकाश के आने के मार्ग में जो बाधा व शत्रु आयेंगे वे नष्ट हो जायेंगे। ज्योतिष्टोम यज्ञ फिर चालू हो जायेगा।

सौत्रामणी यज्ञ में सविता–श. प. १२।६।१

सौत्रामणी यज्ञ ब्राह्मण यज्ञ कहलाता है। यथा "तस्मादेष ब्राह्मण यज्ञ एव यत् सौत्रामणी। श. प. १२।६।१।१ इस यज्ञ द्वारा मनुष्य के प्रत्येक अंग में देवताओं का वास होता है। उसके लोम केश आदि विविध पशुओं के लोको व केशोंसे साम्य रखते हैं। वहाँ पुरुष की आयु को तीन भागों में विभक्त किया है। यथा-त्रेधा

विहींतं वा इदम् पुरुषस्य वयो······स्पृणोति पूर्ववयसमैन्द्रेण मध्यम वयसं सावित्रेणोत्तम वयसम् वारुणेन. "श. प. १२।६।१।२ अर्थात् मनुष्य की पूर्वायु बचपन में इन्द्र सम्बन्धी कार्यों व शक्तियों से युक्त होनी चाहिए। इन्द्र बल का अधिपति है अतः बल प्राप्ति के कार्यों में लगना चाहिए। मध्यम आयु में सविता अर्थात् कार्य के प्रति प्रेरणा व उत्पत्ति आदि में लगाना चाहिए। सदा कार्य में संलग्न रहे तदनुकुल प्रेरणा होती रहे और नईसे नई वस्तुओं का निर्माण करता रहे। उत्तम आयु अर्थात् वृद्धावस्था में वारुण साधनों का सहारा लेवे अर्थात्-शरीर विनाशक बाधक शत्रुओं को रोके। श. प. १२।६।१।१६.

"प्राण एव सविता। व्यानो वरुणः शिश्नमिन्द्रो यद्वै प्राणेनान्नमत्ति तद् व्यानेन व्यनिति शिश्नेन वा अन्नस्य रसं रेतः सिञ्चति।" जब शिश्न इन्द्र बनता है अर्थात् उसमें बल आता है तब प्राण सविता का काम करता है और व्यान वरुण का काम करता है। शिश्न में जब कामोत्तेजना होती है तब प्राण उसे प्रेरित करता है व्यान अन्य सब बाधाओं आदि को रोकता है अथवा शरीर में सर्वत्र फैले हुए वीर्य को घेर कर लाता हैं और अन्त में शिश्न स्त्री गर्भ में उस वीर्य का सिञ्चन करता है। श. प. ११।६।१।७

जब रेतस का योनि में सिञ्चन हो जाता है तब उस रेतस + रज दोनों को वरुण घेर लेता हे अब यहाँ रेतस् इन्द्र बनता है और सविता प्रसव प्रजनन कराता है।

अश्वमेघ में सविता—

ब्रह्माण्ड, पिण्ड तथा राष्ट्र आदि अश्वमेध के क्षेत्र हैं। अश्वमेध में अश्व प्राण शक्ति है यह अश्वशक्ति सावित्री इष्टियों में रहती है। शरीर के क्षेत्र में यदि हम अश्व नामक प्राण शक्ति को ढूँढना चाहें तो हमें सविता की शरण में जाना होगा। सविता की प्रेरणा से ही प्राण वृद्धिं गत होते हैं। इस उपर्युक्त तथ्य को निम्न शब्दों में कहा गया है। "सावित्र्यो भवन्ति। इयं वै सविता योवा अस्यां निलयते योऽन्यत्रैत्यस्यां वाव तमनु विन्दन्ति न वा इमां कश्चन तिर्यङ् नोर्ध्वोऽत्येतुमर्हति यत् सावित्र्यो भवन्ति अश्वस्यैवानुवित्यै। श. प. १३।१।४।२

मानव शरीर में सविता सम्बन्धी प्रेरणा देने वाले जो आन्तरिक अवयव है वहीं सावित्री इष्टि होती है। श. प. १३।४।२।६ के अश्वमेध प्रकरण में सावित्री इष्टि में १२ कपालों का पुरोडाश बनाने का विधान हुआ है। बाह्य सौर मण्डल में में ये द्वादशादित्य के प्रतीक है। शरीर में १२ ऐन्द्रियिक केन्द्र हैं जो कि समग्र शारीरिक क्रियाओं को प्रेरित करने वाले हैं। इन्हीं १२ में अश्व अर्थात् प्राण सम्बन्धी सब प्रकार का बल, क्रिया आदि समाविष्ट है। इनसे बाहर कुछ नहीं है। इसलिये अन्तोगत्वा किसी भी कार्य की पूर्ति तत्सम्बन्धी सामर्थ्य आदि प्राप्त करने के लिये सविता के पास ही पहुंचना पड़ता है। इस सावित्री इष्टि से जो १२ कपालों का पुरोडाश है वह १२ आदित्यों १२ एन्द्रियक केन्द्रों तथा १२ राष्ट्र के विभागों के प्रतिनिधि है। शरीर में इस यज्ञ को पूर्ण करने के लिये १५ सामिधेनी

ली जाती है। ये १५ सामिधेनी ५ ज्ञानेन्दियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + ५ प्राण हैं। अर्थात इनके समिद्ध व प्रदीप्त होने पर यज्ञ भी समिद्ध व प्रदीप्त होता है।

इनमें सर्वप्रथम वृत्र का हनन करने वाले दो आज्य भागों का ग्रहण किया जाता है वे दो आज्य भाग दो मन्त्र (ऋ. ५।८२।६, ऋ. ७।४५।१) है। आज्य घृत को कहते हैं। इन दो मन्त्रों में प्रतिपादित विषय व साधन आदि-वत्र का हनन करने वाले यज्ञ में आज्य का काम देते हैं। इनके द्वारा शरीर रूपी राष्ट्र के विघातक शत्रुओं का हनन किया जाता है। इन मन्त्रों द्वारा हवि उपांशु रूप में दी जाती है। अर्थात् मन्दध्वनि व शान्तभाव से हवि दी जाती है। इन्हें याज्यानुवाक्या भी कहते हैं। याज्या मन्त्र का तात्पर्य यह है कि–देवता (मन्त्र प्रति पादित विषय) का संस्मरण, उसका ध्यान निर्देश तथा उसके साथ यजन (मेल) होना याज्या है। फिर तदनुसार कर्म का पूरा करना निर्माण आदि अनुवचन अनुवाक्या है। अब इस दृष्टि से इन दोनों मन्त्रों का अर्थ दिखाते हैं। मन्त्र है—

य इमा विश्वा जातान्या श्रावयति श्लोकेन। प्रच सुवाति सविता।
ऋ ५।८२।६

जो सविता देव श्लोक=उद्घोष द्वारा उन समस्त प्रसिद्ध कार्यों योजनाओं व आदेशों को समस्त प्रजाजनों को सुनाता है और फिर उन्हें करने के लिये प्रेरित करता है और इसमें जो विघातक वृत्र है उनका हनन करता है।

दूसरा मन्त्र है—

आ देवो यातु सविता सुरत्नोन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः।
हस्ते दधानो नर्या पुरूणि निवेशयञ्च प्रसुबं च भूम॥ ऋ. ७।४५।१

यह शोभन रत्नों वाला, अन्तरिक्ष को अपने तेज से भर देने वाला रश्मि रूपी अश्वों द्वारा वहन किया गया रात्रि में प्राणियों को घरों में प्रवेश कराता हुआ तथा प्रातः कार्य के लिये प्रेरित करता हुआ यह सविता देव आता है।

सूर्य के प्रति इस मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है सविता को राष्ट्राध्यक्ष मानने पर मन्त्र का भाव यह होगा कि राष्ट्राध्यक्ष के हाथ में उत्तम-उत्तम रत्न हो जो कि कर्मचारियों को बांटे जायें जिससे उन्हें कार्य करने में प्रोत्साहन मिले। पर साथ में उसका तेज भी इतना प्रखर हो कि अन्तरिक्ष=खाली स्थान) जहाँ अधिकारी न हों वहाँ भी उसके तेज के प्रभाव से कार्यरत रहें। सायं काल सब अपने-अपने घरों में उपस्थित रहें। स्वैरी वन इधर-उधर न विचरे तथा प्रातः काल होते ही फिर कार्य में जुट जायें।

प्रथम इष्टि में तो सविता प्रसविता है, प्रेरक है तथा द्वितीय इष्टि में सविता आसविता है अर्थात् अपनी ओर को प्रेरित करता है। इसमें "विश्वानि देव सवित" तथा "स घा नों देवः सविता सहावा········५।८२।५ ऋग्वेद ७।४५।३ आते हैं।

तृतीय इष्टि में सविता सत्य प्रसविता बनता है। एष ह वयि सत्यः प्रसवो

य: सवितु: सत्येन में प्रसवे ते मम यज्ञम् प्रसवादिति । श. प, १३।४।२।१२ सविता सत्य का प्रसव करने वाला है अतः इस सविता देव की कृपा से मेरा यज्ञ भी सत्य का सवन करने वाला हो यह प्रार्थना की गई है—इसके निम्न मन्त्र हैं ।

आविश्वदेवं सत्पतिं: ऋ. ५।८२

न प्रमिये सवितुर्दैऽव्यस्य० ऋ.

उपर्युक्त सावित्री इष्टियों में प्रयाज प्राणों का जब विस्तार किया जाता है तब कर्मकाण्ड के आधार पर वीणावादी ब्राह्मण दक्षिण दिशा में बैठ उत्तराभिमुख हो वीणा द्वारा गान करता है । और स्वयं निर्मित तीन गाथाओं (कविताओं) का गान करता है । जिनकी टेक है, 'अयजत अददात्' अर्थात्' यह यजन किया और यह दिया गया । ये ही दो कार्य सविता के भी हैं वह भी सृष्टि यज्ञ रच रहा है, दो का यजन व मेल करता है देता भी है "सवित्रे सत्य प्रसवाय" में वीर्य का सम्बन्ध है–क्योंकि वीर्य से ही प्रसव होता है कहा भी है' रयिमन्तौ आज्मभागौ' अर्थात् यहाँ आज्य भाग रयिवाले हैं। रयि क्या है ? "वीर्य वै रयि वीर्यस्याप्त्यै वीर्यस्यावरुद्धयै श. प. ७३।४।२ अर्थात् वीर्य ही हवि है वीर्य की प्राप्ति तथा उसके पतन के अवरोध के लिये यह आज्य भाग होता है । यहाँ भी आज्य से वीर्य रक्षा के उपाय, दृढ़ संकल्प आदि का ग्रहण करना उपयुक्त है । ये नित्य संयाज्य के होते हैं अर्थात् वीर्य रक्षण यज्ञ में दृढ़ संकल्प की नित्य आहुति होती रहनी चाहिये । यदि इस वीर्य रक्षण में सतत जागरुक नहीं रहा जायेगा तो कुविचार आदि अवसर पाकर वीर्य का अधः पतन करा देंगे । इस वीर्य रक्षण में भी सविता की सतत प्रेरणा ही परम सहायक है । **पुण्य शाली (सुकृते) पुरुषों के लोक में पहुंचाने वाला सविता—**

नवाउ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवां इदेषि पथिभिः सुगेभिः । यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययु स्तत्र त्वा देवः सविता दधातु । यजु २३।१६ श. प. १३।२।७।१६ यह सञ्ज्ञप्यमान अश्व शक्ति सम्पन्न शिष्य न मृत्यु को प्राप्त होता है और न हिंसित किया जा सकता है प्रत्युत सुगम मार्गों से चलकर देवों को प्राप्त होता है । जहाँ पुण्य शाली सुकर्मा व्यक्ति विराजमान होते हैं और अपने कर्मो के बल से वे जहाँ पहुँचे है, हे शिष्य ! वह सविता देव तुझे भी पहुँचावे ।

"देवयानानेवैनम्पथो दर्शयति··· ··सवितै वैनं स्वर्गे लोके दधाति" अर्थात् यह सविता देवयान मार्ग दर्शाता है । और मृत्यु के अनन्तर इसे सुकृत पुरुषों के लोक में स्वर्ग में पहुँचा देता है ।

स्थान व शरीर प्रदाता—

पितृमेध (श. प. १३।८।२।५, ३।३) प्रकरण में सविता के ये कार्य दर्शाये हैं कि मृत शरीर को श्मशान में स्थान प्रदान करना, तथा जन्म समय माता की गोद तथा तत्कर्मोचित शरीर का देना सविता का काम है । कहा भी है—सविता ते शरीरेभ्य: पृथिव्याँ लोकमिच्छतु । इतिसवितैवास्यैतत् शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छति । यह उपर्युक्त कथन मृत शरीर के लिये है ऐसा आचार्य कहते हैं । और निम्न कथन

जन्म समय के लिये है "सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आवपत्विति सवितैवास्यै तच्छरीराणि अस्यै पृथिव्यै मातुरुपस्थ आवपति।" अर्थात पृथिवी पर माता की गोद में वपन करता है।

सविता की कृपा से सब कुछ मधु ही मधु—

देवस्त्वा सविता मध्वानक्त्विति सविता वै देवानां प्रसविता सर्वं वा इदं मधु यदिदं किं च तदेनमनेन सर्वेण समनक्ति। तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति तस्मादाह देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु।

श. प. १४।१।३।१३

यह सब संसार मधुमय है। सविता ने इसे मधुमय बनाया है। उसकी कृपा से मेरे लिये यह सब मधुमय बन जाये। यह प्रार्थना सबको करनी चाहिये। वेद का यह संदेश जीवन में माधुर्य तथा उत्साह भरने वाला संदेश है। मिथ्या, दोषपूर्ण तथा हेय नहीं है। इसका विनियोग प्रवर्ग्य में भी किया जाता है।

—:o:—

चतुर्थ अध्याय

अथर्व वेद में सविता

सविता वायु

अथर्व ४ काण्ड २५ सूक्त सविता तथा वायु इन दोनों के सहचार व सम्पर्क से होने वाले कार्यों व प्रभावों का दिग्दर्शन कराता है। सविता से प्रेरणा पा वायु का कभी प्रचण्ड, भयंकर व विनाशकारी उग्ररूप दृष्टि गोचर होता है तो कभी मन्द, मन्द्र पवन व प्राणवन्त रूप स्पर्श में आता है। मानव शरीर में यह वायु स्थूल व सूक्ष्म व सूक्ष्म तम रूप में सक्रिय रहती है। मनुष्य की समग्र गतिविधि व जीवन का यही आश्रय है। विषमता में जहाँ नाना विध भयंकर व्याधियों की जननी बनती है। वहाँ सविता के सहचार में मनुष्यों के लिये कल्याण कारिणी, बल प्रदायिनी व योग की उच्च भूमिकाओं में पहुंचाने वाली होती है। इस सूक्त से भक्त अपनी रक्षा के निमित्त इन दोनों से प्रार्थना करता है। यहां प्रार्थना भागवत शक्तियों के माध्यम से भगवान से ही है जड़ से नहीं है ऐसा हमें समझना चाहिये।

इन दोनों का स्तवन संक्षेप में इस प्रकार है—

वायोः सवितु र्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद विशथो
यौ च रक्षथः। यौ विश्वस्य परिभू बभूवथु स्तौ नो मुञ्चतमंहसः।

अथर्व ४/२५/१

हम वायु तथा सविता इन दोनों के विज्ञान स्वरूपों को जानते हैं। तथा उनसे याचना करते हैं। सात्म अवस्था में ये दोनों विशिष्ट अंग में प्रवेश करते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। जो विश्व को चहुं ओर से घेरे हुए हैं वे हमें पापादि से मुक्त करें।

सविता और वायु का पूर्ण रूप से उपयोग लेने के लिये इन दोनों के विज्ञान सम्मत स्वरूपों कों जानना अत्यन्त आवश्यक है। जब मनुष्य आत्मस्थित हो इन दोनों का उपयोग करता है। तब इन से शक्ति प्राप्त होती है। और सब प्रकार के शत्रुओं से रक्षा होती है। उदाहरण के रूप में ऐसा समझा जा सकता है कि जब मनुष्य बल प्राप्ति के लिये दण्ड बैठक करता है उस समय सविता उसे प्रेरित करता है। यदि सविता की प्रेरणा न हो तो वह दण्ड बैठक करेगा ही नहीं: अतः सर्वप्रथम सविता की प्रेरणा आवश्यक है। प्रेरणा के पश्चात् उसे तद्विशिष्ट अंग पर ध्यान केन्द्रित करना होता है इससे समग्रप्राण वहाँ अंग को गति आदि-देने के लिये उपस्थित हो जाता है। तद्विशिष्ट अंग में ध्यान द्वारा केन्द्रित होना सात्म अवस्था है। इसको मन्त्र मे आत्मन्वद् विशथः कहा है। यदि मनुष्य तद् अंग में सात्म रूप में स्थित न होगा तो दण्ड बैठक लगाने पर बल प्राप्ति न होकर बल हानि होगी। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बाह्य ब्रह्माण्ड में ये दोनों विश्व को अभि-

व्याप्त किये हुए हैं। इस प्रकार सूक्ष्म रूप में हमारे समग्र शरीर में भी ये अभिव्याप्त हैं। इसलिये मन में हमें विश्व व्याप्ति की भावना रखनी चाहिये।

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्त रिक्षे।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥

अथर्व ४/२५/२

इस पृथ्वी पर जितने भी वरिमा है श्रेष्ठ तत्त्व हैं। वे सब इन दोनों के द्वारा संख्यात हैं परिगणित हैं। एक-एक रजरेणु जो अन्तरिक्ष में प्रसृत है वह इन दोनों द्वारा विमोहित है जकड़ा हुआ है। इनकी (प्राय = प्र + इण गतौ) प्रकृष्ट गति को कोई भी आक्रान्त नहीं कर सकता। (युप = वि मोहने)।

इस अन्तरिक्ष में नानाविध शक्तियों, विज्ञानों आदि से सम्बद्ध त्रिगुणात्मक रजः कण हैं। ये सात्विक राजसिक तथा तामसिक रूपों में फैले हुए है। मनुष्यों में जैसी-जैसी कामना व वासना आदि होती है वैसे-वैसे कण उसमें प्रविष्ट होते जाते है। और उसी रूप में बाहिर भी निकलते है अन्य संगी साथियों को प्रभावित करते हैं। अतः शास्त्रों में सत्संगति पर बहुत बल दिया गया है। हमारे अन्दर श्रेष्ठ रजः कण प्रविष्ठ हों और श्रेष्ठ ही बाहिर निकलें इसका एक उपाय मूर्धा और हृदय की सन्धि है। मूर्धा और हृदय की सन्धि से सविता और वायु की भी सन्धि हो जाती है। इस सन्धि के पश्चात् जिस अंग को सक्रिय करना हो वहाँ ध्यान को केन्द्रित करने से उस अंग में तत् सम्बद्ध शक्ति का उद्‌गम होने लगता है।

तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥

अथर्व ४/२५/३

हे चित्र भानो! अद्‌भुत दीप्ति सविता देव! ये सब मनुष्य तेरे व्रत में रहते हैं। तेरे व्रत के अनुकूल विचरते हैं तेरे उदित होने पर ही इनमें विशिष्ट गति दृष्टि गोचर होती है। हे सविता देव! तथा वायो! तुम दोनों इस समग्र भुवन की रक्षा करते हो तुम दोनों मेरी भी पापादि शत्रुओं से रक्षा करो।

यहाँ सविता देव को चित्रभानों शब्द से सम्बोधित किया है। यह सविता योगी पुरुषों को भिन्न-भिन्न रंगों में दृष्टि गोचर होता है।

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम्।
सं ह्यूर्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥

अथर्व ४/ २५/४

हे वायो! तथा सविता देव! तुम दोनों मेरे अन्दर से दुष्कृत को दूर करो और राक्षस भाव तथा मेरी हिंसा करने वाली आसुरी शक्ति को परे करो मुझमें ऊर्ज तथा बल का संसर्ग करो। तुम दोनों मुझ से पाप छुड़ाओं।

(शिमिदा — शिम् हिंसायां + दा दाने)

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ।।

अथर्व ४/२५/५

हे सविता देव तथा वायु ! तुम दोनों रयि अर्थात् ऐश्वर्य की पुष्टि तथा शरीर में दक्षता पैदा करो। वह दक्षता जो उत्तम सुख देने वाली हो और मेरे शरीर में सतत रूप में निरोगता का आधान करो। और मुझे पाप से छुडाओ। ऐश्वर्य की पुष्टि मनुष्य में उत्साह उमंग आदि पैदा करती है। निर्धनता में चिन्ता दुःख सन्ताप आदि आ घेरते है। शारीरिक अंगों में कार्य कुशलता भी ये ही पैदा करते हैं। जीवन पर्यन्त नीरोग रहने के लिए इनका सम्पर्क सहचार किस प्रकार हो यह जानने की आवश्यकता है।

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः ।
अवर्ग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ।।

अथर्व ४/२५/६

हे सविता तथा वायु तुम दोनों मेरी रक्षा के लिये मुझे सुमति प्रदान करो और मुझे महान् तेजस्वी आनन्द से आनन्दित करो। अपने उच्चस्थान (प्रवत) से नीचे हमारी ओर (वामस्य) वाञ्छनीय अभीष्ट को प्रवाहित करो। शेष पूर्ववत् महस्वन्तं = तेजस्विनम् ।

श्री मद् भगवद् गीता में भी कहा है।—

तेषाँ सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

१०/१०

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः

४/२५/७

हमारी जो श्रेष्ठ अभिलाषायें हैं वे इन दोनों दिव्य देवों के धाम में स्थिर रूप में रहें। मैं सविता देव तथा वायु की अपने अन्तस तल की गहराई से स्तुति करता हूँ। ये दोनों मुझे पाप से छुडावे।

सविता-सूर्या

अथर्व वेद के १४ वें काण्ड में विवाह प्रकरण है ऐसा विद्वानों का मत है। इसमें दो सूक्त हैं। इन सूक्तों का सूर्या नाम भी प्रचलित है। प्रायः विद्वान् इन सूक्तों का बाह्य भौतिक क्षेत्र में विज्ञान परक अर्थ न कर वर बधु के विवाह परक अर्थ करते हैं। पर हमारे विचार में इन सूक्तों का भौतिक क्षेत्र में भी अर्थ होना चाहिये। इस तथ्य का संकेत सूक्त के ९,१०,११ मन्त्रों से मिल जाता है। 'सूर्या' सविता की कन्या है। सविता सूर्य है। और सूर्या सुषुम्णारश्मि है। यह सुषुम्णारश्मि सूर्य से चलकर चन्द्रमा (सोम) के पास पहुँचती है और उसकी पत्नी बनती है।

मन्त्र में आता है। "सोम१ ने वधू की कामना की तो दोनों अश्वी वधू का चुनाव करने गये, उधर सूर्या भी पति चाहती थी, तो उसके पिता सविता ने मन के द्वारा अपनी कन्या सोम को दी।"

"जिस२ समय सूर्या ने पति गृह की ओर प्रस्थान किया तब मन शकट था, द्युलोक उसकी छत थी और दो शुक्र=(ऋक्, साम) उसके बैल थे।"

"ऋक्३ और साम नाम से अभिहित अर्थात् प्रसिद्ध इन बैलों ने दो सामों का रूप धारण किया। ये दो श्रोत्र दो चक्र बने, इस अवस्था में यह द्युलोक चला चल वाला मार्ग बना—

उपर्युक्त मन्त्रों में सविता सूर्या और सोम आदि का भौतिक रूप स्पष्ट झलकता है। और आगे भी अनेक मन्त्रों में दर्शाया गया है इसके रहस्य का पूर्ण स्पष्टीकरण व विस्तार कोई वैज्ञानिक पुरुष जिसकी गति वैदिक साहित्य में भी हो वह कर सकता है। इतना स्पष्ट है कि सविता अर्थात् सूर्य की सुषुम्णारश्मि जोकि यहाँ सूर्या नाम से सम्बोधित हुई है—को सोम (चन्द्रमा) की वधू बनाने का तात्पर्य है। सूर्य से सुषुम्णारश्मि चलकर चन्द्रमा से जब वह सम्पर्क करती है, तब उसमें प्रजनन शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जोकि चन्द्र किरण बन पृथिवी पर आ प्राणियों औषधि वनस्पतियों के प्रजनन में कारण बनती है। इसी दृष्टि से चन्द्रमा को औषधियों का अधिपत्ति माना जाता है। यहाँ सूर्य को सविता नाम से स्मरण करने का भाव यह है कि वह सुषुम्णारश्मि को चन्द्रमा की ओर प्रेरित व प्रेषित करता है। मानव समाज में भी कन्या के माता पिता तथा अन्य सम्बन्धी जनों के मन में जब वर के चुनाव में सहमति हो जाती है और उस वर को अपनी कन्या देने का निश्चय कर लेते हैं तब यह समुत्पन्न ऐक्य मन सविता भगवान की कृपा से होता है। इसी दृष्टि से कहा कि 'सविता मनसा ददात्'। बाह्य क्षेत्र सौर मण्डल में मनस् तत्व भौतिक तत्व है। जिसके माध्यम से यह सूर्य रश्मि चन्द्रमा तक पहुँचती है। सविता की प्रेरणा पर सूर्य का वहतु (भर्त्ता) सूर्या की अगवानी करता है। मन्त्र है 'सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवा सृजत्' अथर्व १४–१–१३ अर्थात् सूर्या का वहतु भर्त्ता सूर्या को लेने पहुँचता है। सविता सूर्या के भर्त्ता को प्रेरित करता है कि कन्या को ले जाओ और इस प्रकार कन्या को उसके साथ विसर्जित करता है।

टिप्पणी—वहतु वहति प्राप्नोति स्त्रियं इति वहतु भर्त्ता तं। स्वामी दयानन्द यजु १९–९७।

टिप्पणी—१. सोमो वधू युरभवदश्विनास्तामुभावरा।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्॥
२. मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदायत् सूर्या पतिम्॥
३. ऋक् सामा भ्यामभिहितौ गावौ ते सामना वैताम्।
श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥

सविता ने कन्या को वरुण पाश में बांधा—

"प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वावध्नात् सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सह संभलायै। अथर्व १४-१-१९ = हे पत्नी सुख दाता सविता देव ने तुझे वरुण पाश में बांधा हुआ था। उस पाश से मैं तुझे छुड़ाता हूँ। ऋत की योनि तथा सुकृत के लोक में संभर्त्ता पति के साथ तेरा कल्याण हो।

जब तक कन्या नव युवती नहीं होती है तब तक उसके लिए कुछ प्राकृतिक कुछ पारिवारिक प्रतिबन्ध होते हैं। कुछ समाज व कुछ परिवार की मर्यादाओं से सम्बन्ध रखते हैं।

यह सब सविता भगवान के नियमों के आधीन होता है। यौवनोपलब्धि तक रजो दर्शन न होना तथा अन्य अंगों का विकास न होना वरुण पाश है। कुल मर्यादा व समाज की दृष्टि से उच्छृंखल रूप में स्वच्छन्द न विचरना सविता के नियमों से प्रेरित है ऐसा समझना चाहिये। प्रेरणा आसुरी भी हो सक्ती है पर सुशेवः अर्थात् कल्याणकारी सुखदाता सविता की प्रेरणा आसुरी प्रेरणा नहीं हो सक्ती क्योंकि सविता देवता है। गृहस्थ आश्रम को वेद में सुकृत 'सुकर्मों का लोक कहा गया है, वानप्रस्थ आदि अन्य आश्रमों में भी कर्म करने होते हैं पर वहाँ कार्य प्रधान न होकर विद्या, मोक्ष, व योगाभ्यास का प्राधान्य होता है। गृहस्थ आश्रम ऋत की योनि अर्थात् गतिमय सत्य की स्थली है। यहाँ गति के साथ सत्य का समन्वय होना चाहिये और दूसरे गृहस्थ में आकर मनुष्य कुसंग वासना आदि जनित दोषों से बचा रहता है, इससे शनैः शनैः ऋत का मार्ग प्रशस्त होता जाता है।

दीर्घायुष्य की प्रार्थना सविता से—

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे। तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु। अथर्व १४-१-४७ पृथ्वी तुल्य तुझ देवी के उपस्थ में प्रजा संतति की उत्पत्ति के लिये मैं सुखदायक ध्रुव तथा पत्थर सदृश दृढ़ वीर्य को धारण करता हूँ तू उसको संभाल और तदनुकूल आनन्दित हो तथा उत्तम वर्चस्व से युक्त हो। सविता भगवान तेरी आयु को दीर्घ बनावें।

यहाँ वीर्य की उपमा अश्मा अर्थात् पत्थर से दी है वह दृढ़ ब्रह्मचर्य से संभव है। पतले तथा हीन बल वीर्य से पहले तो गर्भ स्थिति होती ही नहीं यदि हो भी जाती है तो वह ध्रुव न होकर गर्भ स्राव आदि रूप में बाहर हो जाता हैं और यदि बच्चा हो भी जाय तो वह सदा व्याधिग्रस्त अल्पायु तथा हीन बल होता है। यहाँ पत्नी को देवी तथा पृथ्वी कहा है अर्थात् वह दिव्य गुणों वाली हो और पृथ्वी के समान सहनशील आदि गुणों से युक्त हो।

इसी भाँति अथर्व १४-२-३९ में भी मनुष्य को सन्तति उत्पत्ति के लिए ही संभोग करने का आदेश हुआ है। और साथ में सविता से दीर्घायुष्य प्राप्ति

टिप्पणी—सह संभलायैः संभलेन सह-सह संभलातस्यैपरम्ये।'

का वर्णन हुआ है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि मन्त्रों में संभोग, संतति उत्पत्ति तथा दीर्घायुष्य की प्राप्ति का एक साथ निर्देश करना इस रहस्य को स्पष्ट कर रहा है कि संतति उत्पत्ति के अतिरिक्त संभोग करने से या अति मैथुन से आयु घटती है। इसी भाँति अथर्व १४–२–७५ में भी सविता से दीर्घायुष्य की प्रार्थना की गई है।

पाणिग्रहण—सविता भग आदि देवता ही कन्या का पाणिग्रहण करते हैं मनुष्य नहीं यह मन्त्रों से प्रतीत होता है। पाणिग्रहण के अवसर पर वर को अपना अहं भाव परित्याग कर यह भावना करनी होती है कि वधू का पाणिग्रहण सविता भग आदि देवता करते हैं मैं नहीं। मन्त्र है—भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्त मग्रहीत् अथर्व १४–१–५१ मन्त्र—देवस्ते सविता हस्तंगृह्णातु अथर्व १४–१–४९ उपरोक्त मन्त्रों द्वारा यह स्पष्ट है कि विवाह सूक्त में भग सविता आदि देवता कन्या का पाणिग्रहण करते हैं ये मनुष्य नहीं है देवता व दिव्य शक्तियाँ हैं जोकि वर में आरोपित हैं।

पत्नी पति के लिए सविता देवता से सुख माँगती है। कहा है मन्त्र—पर्याणद्धं विश्व रूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु अथर्व १४–१–१२ जगत का यह विश्व रूप जोकि चहुं ओर से एक नियम में बंधा है सविता मेरे पति के लिए उसे सुखकारी बनावे। यहाँ 'पतिभ्यः' यह बहुवचन का प्रयोग आदरार्थ है। अथवा अन्य सम्बन्धियों को भी अपने अन्दर समाविष्ट किए हुए है।

सूर्या सावित्री—सूर्या को एक मन्त्र में सावित्री भी कहा है। यथा—आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् अथर्व १४–२–३० यह सूर्या सावित्री महान् सौभाग्य के लिए उच्चासन पर आरूढ़ हुई है।

यहाँ सूर्या को सावित्री कहने का तात्पर्य यह है कि पति सविता है प्रेरक है। उसी की प्रेरणा से पत्नी सावित्री रूप से शय्या पर आरूढ़ हो रही है काम वासना आदि की प्रेरणा पर नहीं। यह विवेक ब्रह्मचर्य काल में निष्ठापूर्वक तथा दृढ़ संकल्प से पालन किए हुए ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न होता है।

यहाँ प्रसंग से एक प्रश्न पैदा होता है कि सूर्या सविता की कन्या है या पत्नी है क्योंकि वेद में दोनों प्रकार के मन्त्र मिलते है। यथा—"सूर्याम् यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्" अथर्व १४–१–९ यहाँ सूर्या सविता की कन्या है। 'सविता ते हस्त मग्रहीत्' आदि मन्त्रों में सूर्या सविता की पत्नी बन रही है। इस समस्या का समाधान यह है कि यह समग्र सृष्टि सविता भगवान से उत्पन्न होती है, सविता सूर्य मण्डल के माध्यम से पुम् रूप और स्त्री रूप इन दो रूपों में परिणत होता है; अतः सविता पुरुष भी है और सावित्री रूप में स्त्री भी है। सविता से पृथक् होने के कारण कन्या है और पुरुष रूप सविता से पाणिग्रहण किये जाने से पत्नी है। प्राकृतिक शक्तियों में प्रायः ऐसा ही होता है। "पिता यत् स्वाम् दुहितर मधिष्कन्" ऋग्वेद १०–६१–७ इत्यादि मन्त्र भौतिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखते हैं।

कन्याओं का शुद्धीकरण

अथर्व १४-२-५६-६०-६१, ६२ मन्त्रों में यह दर्शाया गया है कि यदि पिता के घर में कन्यायें दुष्टों द्वारा भ्रष्ट कर दी गई हों या अन्य किसी कारण से पाप हो गया हो, उसके कारण घर में शोक व रोदन करती हों तो यज्ञाग्नि में सविता सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा आहुती देने से अथवा अग्नि और सविता देवता के मन्त्रों से यज्ञ करने से वे शुद्ध हो जातो हैं। वाल्मीकि रामायण में आता है कि सीता माता की शुद्धि अग्नि द्वारा की गई थी।

तत् सम्बन्धी मन्त्रों का भाव यह है 'अगर ये (केशिन:जना:) स्त्रियाँ रोदन व विलाप से घर को पाप व नरक में डालती हुई नर्त्तन कर रही हैं तो उस पाप व कष्ट से यह अग्नि और सविता भगवान इन्हें छुड़ावे 'अगर ये तेरी दुहिता केश खोलकर घर में हाहाकार कर रही है और इस प्रकार सबको कष्ट में डाला हुआ है तो अग्नि और सविता ये दोनों उसे पाप व कष्ट से मुक्त करे, तेरी संतान में पशुओं में यद्वा घरों में स्त्रियो में पापियों द्वारा पाप व कष्ट दिया गया हो तो यह अग्नि और सविता उसे दूर करे।

अथर्व वेद में सविता का स्वरूप—

अथर्व १-२६-२ में सविता को (भग:) ऐश्वर्य शाली सौभाग्य रूप (चित्र राध:) अद्भुत सिद्धियों वाला कहा है। 'देव: सविता विश्ववार:' अथर्थ ५-२७-३ अर्थात् वह सविता देव विश्व को आवृत किए हुए है। 'तद् अस्मभ्यं सविता सत्य धर्मा' अथर्व ७-२५-१ अर्थात् वह सविता हमारे लिये सत्य धर्म वाला है। जो कुछ भी हमें वह प्रदान करता है या धारण कराता है वह सत्य ही होता है। निम्न मन्त्र भी इसी तथ्य की पुष्टि कर रहा है। 'निवेशन: संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्य धर्मा इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्' अथर्व १०-८-४२ जो सब में प्रविष्ट है अथवा जिसमें सब प्रवेश करते हैं अर्थात् सबका आश्रय वसुओं का संगम रूप वह सत्य धर्मा सविता दिव्य रूप है। धनों की प्राप्ति के निमित्त युद्ध में इन्द्र के समान स्थिर रहता है। उपर्युक्त मन्त्र से यह ध्वनित होता है कि भगवान का प्रत्येक रूप अपनी विशिष्ट शक्ति व गुण धर्म वाला होता है। युद्ध स्थली में तथा अन्य बल के कार्यों में इन्द्र सर्वोत्कृष्ट है। अत: सविता को युद्ध स्थली में इन्द्र से उपमा दी गई है।

सविता की उत्पत्ति—

भगवान अज है अर्थात् अजन्मा है। पर प्रकृति में स्थित हो जब वह सृष्टि का निर्माण करता है तब अग्नि, इन्द्र सविता आदि देव रूपों में आविर्भूत होता है और भिन्न-भिन्न शक्तियों द्वारा भौतिक तत्वों में संक्रान्त होता है यही उसका उत्पन्न होना है। इनकी यह उत्पत्ति औपचारिक है। इसी दृष्टि से निम्न मन्त्र में सविता की उत्पत्ति को गौण रूप में लेना चाहिये।

मन्त्र-हिरण्य वर्णा: शुचय: पावका यासु जात: सविता यास्वग्नि:। या अग्निं गर्भं दधिपे सुवर्णा स्ता न आप: शं स्योना भवन्तु अथर्व १-३३-१ ये आपस्

तत्व हिरण्य वर्ण वाले हैं शुद्ध हैं और पवित्र करने वाले हैं। ऐसे इन जलो में सविता की उत्पत्ति हुई है और अग्नि की भी उत्पत्ति इनसे हुई है। जिन स्वर्णीय जलों ने अग्नि को अपने गर्भ में धारण किया वे आपस् तत्व हमें कल्याण तथा सुख प्रदान करने वाले हों।

ये आपस्तत्व स्टष्टि के प्रारम्भ में सूक्ष्म रूप वाले होते हैं। सूक्ष्म रूप वाले हिरण्य वर्ण अत्यन्त शुद्ध तथा चमकदार होते हैं। इनसे अग्नि, इन्द्र, वरुण व सविता आदि देवों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि सविता इन्हीं हिरण्यमय आपस्तत्वों से उत्पन्न हुआ है। अतः सविता को हिरण्यपाणी, हिरण्य श्रृंग, हिरण्याक्ष आदि नामों से सम्बोधित किया गया है।

आपस्तत्व की मनुष्य पर वृष्टि—

जिस व्यक्ति पर सविता की कृपादृष्टि हो जाती है उस पर इन हिरण्यमय दिव्य आपस्तत्वों की वृष्टि होने लगती है। मन्त्र है—

अभित्वा वर्चसाऽसिचन्नापोदिव्याः पयस्वतीः ।

यथासो मित्र वर्धन स्तथा त्वा सविता करत् । अर्थव ४-८-६

सविता तुझ पर ऐसी कृपा करे या तुझे ऐसा बनावे कि जिससे ये पयस्वती दिव्यजल तुझ पर चहुँ ओर से वर्चस् का सिंचन करे। और तू मित्रों की वृद्धि करने वाला हो।

सामान्य स्थूल जलों में वर्चस् अर्थात् तेजस्विता का वह रूप, गुण व शक्ति नहीं होती जो आदि स्टष्टि के सूक्ष्म दिव्यजलों में होती हैं। दिव्यजलों के सिंचन से उत्पन्न वर्चस् तेज से मनुष्य के मुख आदि शारीरिक अंगों में एक आभामण्डल उद्बुद्ध हो जाता है।

"मह्यं देवः सविता व्यचो धात्। अथर्व ६-६१-१ अर्थात् सविता देव मुझमें ज्ञान, शक्ति व यश आदि का ऐसा विस्तार उत्पन्न करे जिससे मैं व्यापक बन जाऊँ।

सविता पशुओं को नियन्त्रित करता है—

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायु येंषाँ सहचारं जुजोष। त्वष्टा देवो रूपधेयानि बेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नियच्छतु। अथर्व २-२६-१ उपर्युक्त मन्त्र का बाह्य पंशु जगत् में अर्थ स्पष्ट है। आध्यात्मिक क्षेत्रों में इसका अर्थ निम्न प्रकार है। जो पशु-प्राण व इन्द्रियां आदि आन्तरिक शक्तियाँ जो परे अर्थात् बाह्य विषयों में चली गई हैं और जिनका सहचार यह प्राण वायु कर रही है वे इन्द्रिय पशु यहाँ अन्दर की ओर आवें अर्थात् अन्तर्मुखी होवें। भिन्न-२ रूप देने वाला यह त्वष्टा देवता इनके रूपों को जानता है। इन सब इन्द्रिय पशुओं को यह सविता देव गोशाला में अपने-२ स्थानों में नियन्त्रित करे। वेदों में प्राण तथा इन्द्रियों को अनेकों स्थलों में पशु कहा गया है। ये इन्द्रियाँ आदि पशु जब बाह्य विषयों में जाती हैं तब इनका सहयोगी प्राण वायु बनता है। यदि प्राणायाम आदि साधनों द्वारा प्राण वायु को रोक लेवें तो इन्द्रिया भी रुक जाती है और बाह्य बिषयों में नहीं जाती।

अतः अन्तर्मुखी अवस्था में इनका दिव्य रूप क्या हो यह त्वष्टा देव भली प्रकार जानता है। सामान्य मनुष्य गौ अश्व आदि बाह्य पशुओं के स्वरूप को तो अच्छी प्रकार जानता है पर आन्तरिक पशुओं का ज्ञान किसी को नहीं होता। अतः आन्तरिक पशुओं का ज्ञान प्राणायाम में प्रवृत्ति होना इन्द्रियों की अन्तर्मुखी अवस्था तथा तत्सम्बन्धी संकल्प बल ये सब सविता की कृपा से होता है अतः एक प्रकार से सब इन्द्रिय पशुओं का नियन्ता शक्ति प्रदाता सविता ही है।

मुण्डन संस्कार का वास्तविक रहस्य— आजकल मुण्डन संस्कार में निम्न मंत्रों का विनियोग किया जाता है जोकि इस प्रकार है मन्त्र—

आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
अदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः।
अथर्व ६-६८-१

उपर्युक्त मंत्र का बाह्य विनियोग एक ड्रामा मात्र है इसका महत्व केवल मनोवैज्ञानिक है। वस्तुतः इसका रहस्य आन्तरिक विनियोग में है। इस तथ्य को हम मत्र के निम्न अर्थ से समझ सकते हैं। मंत्र का अर्थ इस प्रकार है— मस्तिष्क में स्थित यह सविता देव मस्तिष्क में प्राण आदियों के कर्त्तन, छेदन आदि के लिए साधनों के सहित आया है। हे प्राण वायो ! तू रस-रक्त आदि आन्तरिक उष्ण जलों को लेकर आ। समान चेतना वाले हे आदित्य, रुद्र और बसु प्राणों तुम मस्तिष्क का क्लेदन करो और प्रकृष्ट रूप में चिताने वाले होकर मस्तिष्क में सोमरस रूपी राजा का वपन करो। मस्तिष्क व शरीर के अंगोपांगों में सजातीय तत्व को स्थापित करना और विजातीय तत्वों को बाहर करना आदि कार्यों के प्रति सविता सदा प्रेरणा देता रहता है। शरीर में रस-रक्त आदि का निरन्तर धावन प्राण वायु का कार्य है। यह प्राण वायु आदित्य, रुद्र और वसु इन त्रिविध रूपों में ब्रह्मचर्य पालन से उद्बुद्ध होते हैं। ये प्राण प्रचेतस बनकर मस्तिष्क में सोम रस का वपन परिमार्जन आदि करते रहते हैं जिससे नानाविध विद्या क्षेत्र उद्घाटित होते हैं और यह सोमरस मनुष्य में ज्ञान व चेतना का हेतु बनता है। अगला मन्त्र—

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्। अथर्व ६-६८-३

वरुण के कार्य को जानने वाले सविता ने जिस क्षुरे की सहायता से सोम राजा का वपन किया अर्थात् मस्तिष्क से विजातीय तत्व को बाहर कर सोम को स्थापित किया, उससे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण इस बालक का मुण्डन करे जिससे यह प्राण तथा इन्द्रिय सम्बन्धी शक्तियों से युक्त होकर वीर्यशाली बन जाये। इस प्रकार मुण्डन संस्कार का वास्तविक रहस्य क्या है यह हमें ज्ञात हो जाता है।

फालमणि और सविता—
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तं बिभ्रत् सवितामणिं तेनेदमजयत् स्वः।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि।
अथर्व १०-६-१३

जिस शीघ्र गति के लिए बृहस्पति ने जिस फालमणि को बांधा था उसको धारण कर सविता ने स्वर्लोक पर विजय प्राप्त की। वह मणि सविता व्यक्ति के लिये अधिक से अधिक आगे-२ सूनृत वाक् का दोहन करती है। हे मणि धारक मनुष्य! तू इस मणि द्वारा पाप आदि आसुरी वृत्तियों व अन्य शत्रुओं को मार।

बृहस्पति फालमणि बाँधता है। इसी प्रकार सविता फालमणि बांधे तो उससे वह स्वर्लोक को जीतता है। यह फालमणि क्या है? इस सम्बन्ध में हमने "बृहस्पति देवता" ग्रन्थ में विस्तार से दर्शाया है। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि यह एक आन्तरिक तेज है जो शक्तियों के अन्तः क्षेत्रों को खोदता है यह खुदाई बृहस्पति करता है अर्थात् ब्रह्म सम्बन्धी प्रणवादि साधनों द्वारा आन्तरिक क्षेत्रों में प्रहार किया जाता है। इससे उनमें जो तेज उत्पन्न होता है उसका रूप हिरण्यमय होता है। ये हिरण्यमयी माला मस्तिष्क से हृदय तक प्रसृत होने के कारण हिरण्यस्रक् (स्रज्) कहलाती है और यह हिरण्मयी माला 'घृतश्चुतम् घी अर्थात् तेज को अपने अन्दर से निकालती है। इस हिरण्यमयी माला को धारण करके सविता स्वर्लोक को जीतता है। सविता भगवान ने तो सब कुछ जीता ही हुआ है पर जो व्यक्ति सविता देवता का उपासक होकर अपने अन्दर सावित्री शक्ति को उद्बुद्ध कर लेता है ऐसा व्यक्ति निरन्तर आगे ही आगे बढ़ता जाता है और उसकी वाणी सूनृता बन जाती है।

औदुम्बर मणि-सविता—

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिम् गोष्ठे मे सविताकरत्। अथर्व १९-३१-१

पुष्टि की कामना वाले मेरे लिए पुष्टि पैदा करने वाली औदुम्बरमणि द्वारा यह सविता देव मेरी गौशाला में सब पशुओं की वृद्धि करे। औदुम्बरमणि भी एक विशेष मणि है यह उदुम्बर (गूलर) से निर्मित होती है। शरीर में उदुम्बर उर्ज् अर्थात् बल को कहते हैं। उदुम्बर का एक नाम यज्ञाङ्ग भी है। यह गूलर क्षत्रिय को यज्ञ शेष के रूप में दिया जाता है। बाह्य ब्रह्माण्ड में जिस-जिस वस्तु में जो-जो शक्ति, गुण व धर्म होता है उसके सेवन से मनुष्य में भी वे पैदा हो जाते हैं। वस्तुतः उदुम्बर का गूलर अर्थ संस्कृत में रूढ़ हो गया है, वैदिक साहित्य में उदुम्बर वह अन्न कहलाता है जिसके सेवन से मनुष्य में ऊर्ज् अर्थात् बल पैदा हो जाता है।

टिप्पणी— ऊर्क् अन्नं च रसं च निरु ९-४१
उर्ग् वा आपो रसः। कौ० १२-१ आपो वा ऊर्जोऽद्भ्यो ह्यूर्जयति
श. प. ६-४-१-१०
ऊर्ग् वा उदुम्बरः तै. ब्रा. १-१-३-१०
ऊर्ग्वा अन्नाद्यमुदम्बरः ऐ. ब्रा. ५-२४

निम्न प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि जिन अन्नों में अथवा जलों में ऊर्ज् की मात्रा अधिक होती है वे ऊर्क् कहलाते हैं। उनका ही दूसरा नाम उदुम्बर है इस ऊर्क को पैदा कर अपने अन्दर ग्रहण करना औदुम्बर मणि धारण करना है।

अस्तृत मणि सविता—

यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा ।
सजातानामसद् वशी तथा त्वा सविता करदस्तृत स्त्वाभिरक्षतु ।।

अथर्व १६-४६-७

सविता तुझे ऐसा बनावे कि जिससे तू अपने प्रतिद्वन्द्वी से उत्कृष्ट हो जाये। तू स्वयं अजातशत्रु हो तथा शत्रुओं का हनन करने वाला हो, सजातीय व्यक्तियों को वश में करने वाला हो। अस्तृत मणि (अदम्य व अटूट वीर भाव) तेरी रक्षा करे। विचारणीय यह है कि अस्तृत मणि किसे कहते हैं? अस्तृत शब्द न+स्तृञ् आच्छादने धातु से बनता है अर्थात् जिसको कोई आच्छादित न कर सके, दबा न सके अदम्य व अटूट व्यक्ति अस्तृत मणि को धारण करने वाला होता है। जिस व्यक्ति में अदम्य भाव कूट-कूट कर भरा होता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता और वह स्वयं अपने शत्रुओं का हनन करने वाला होता है और वह अपने सजातियों अथवा समान गुण धर्मा व्यक्तियों को अपने वश में रखता है। वह सब सविता भगवान से प्रदत्त शक्ति व गुण के कारण होता है।

मरणोपरान्त जीवात्मा की गति—

वैदिक पुरुष सविता भगवान से प्रार्थना करता है "**जरदष्टिं सविता मे कृणोतु।**"

अथर्व १८-३-१२

अर्थात् सविता मुझे पूर्ण वृद्धावस्था तक पहुँचावे। मरणोपरांत प्राणियों को किस-किस स्थान व योनियों में पहुँचाना है इसकी व्यवस्था भी सविता करता है।

यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु अथर्व १८-२-५५

मरणोपरान्त श्रेष्ठ कर्म करने वाले पुण्यशाली लोग जहाँ पहुँचते हैं और सक्रिय रहते हैं वहाँ तुझे यह सविता देव पहुँचा दे। इसी सम्बन्ध में एक और मन्त्र है जो इस प्रकार है—

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे ।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ।। अथर्व १८-४-३१

हे जीवात्मन् (मरणोपरांत) यह सविता देव तुझे पहनने के लिये वस्त्र देता है (सूक्ष्म वस्त्र) उस (तार्प्य) तृप्तिकारक सूक्ष्म वस्त्र को पहनकर तू (यमस्य राज्ये) यम के राज्य में अर्थात् अन्तरिक्षस्थ वायु लोक में (चर) विचरण कर।

महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा यमलोक अर्थात् वायु लोक में जाता है। यह वायु लोक ही यमलोक है इसमें जीवात्मा को धारण करने व पहनने के लिये एक सूक्ष्म सा आच्छादक व निवासयोग्य आवरण सविता प्रदान करता है।

सविता सावित्री

वैसे तो गति मात्र ही किसी प्रेरणा का फल है। सूक्ष्मतम अणु रेणु से लेकर स्थूलकाय तक में जो प्रेरक शक्ति कार्यरत है वह सब सविता भगवान का प्रेरक रूप है। जो तत्व सविता के इस प्रेरक रूप को स्वीकार कर प्रेरणा देने का कार्य करता है, वह सविता की कोटि में आ जाता है और जो प्रेरणा लेकर तदनुसार उत्पत्ति करता है वह सावित्री कहलाता है। यह सामान्य नियम है। सविता सावित्री का यह युग्म मिथुन-भाव को द्योतित करता है। इस दृष्टि से संसार का समग्र रूप जाया-पती व जम्पती रूप सविता सावित्री कहे जा सकते हैं। इस सविता सम्बन्धी जाया-पती रूप में सावित्री की ओर से माँग हुआ करती है और सविता से तदनुसार रेतस आया करता है। हमें सदा यह ध्यान में रखना चाहिये कि एक आख्यात में अनेक क्रियायें समाविष्ट होती हैं। इस दृष्टि से चुद, नुद् तथा तुद् आदि धातुये सविता देवता की हैं। षु प्रसवैश्वर्ययोः (अदादि) षू प्रेरणे (तुदादि) षुञ् अभिषवे (स्वादि०) षूङ् प्राणि गर्भ विमोचने (अदादि० आ०) षूङ् प्राणि प्रसवे (दिवादि० आ०) आदि धातुओं से सविता पद की निष्पत्ति होती है, क्योंकि एक आख्यात में अनेक क्रियाओं का समावेश होता है अतः हम यह कह सकते हैं कि षू + चुद् + षुञ् + षूङ् ये चारों ही धातुयें मिलकर एक क्रिया की पूर्णता को बताती है। प्रसव की पूर्णता बोल-चाल की भाषा में अनुमति, प्रेरणा, प्रहार, निचोड़ना तथा प्राणी की उत्पत्ति में होती है। इसमें प्रसव का समग्र रूप आ जाता है। सविता सावित्री में सविता पुरुष है सावित्री स्त्री रूप है। कार्य की सम्पन्नता के लिये केवल आज्ञा अनुमति व प्रेरणा में भी प्रसव के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ सविता के प्रसव से उत्पत्ति अपेक्षित है वहीं सविता सावित्री मिथुन भाव हैं। पर जहाँ केवल प्रेरकत्व है, आदेश निर्देश हैं, वहाँ सविता सावित्री यह मिथुन भाव आवश्यक नहीं। बृहस्पति ने वाजपेययाग के आजि-धावन प्रसंग में सविता से स्वीकृति व अनुमति माँगी थी। यहाँ सविता सावित्री का मिथुन भाव अपेक्षित नहीं है। इसी भाँति आचार्य शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि प्रसंगों में भी सविता का प्रेरकत्व ही है। पर जहाँ आचार्य-शिष्य में अपनी शक्ति का आधान करता है वहाँ सविता सावित्री का मिथुन अन्वेषणीय है।

जैमिनीयोपनिषद् (४, २७) तथा गोपथ ब्राह्मण (१, १, ३३) में सविता तथा सावित्री द्वन्द्वों का परिगणन किया गया है। गोपथ ब्राह्मण में द्वादश युग्म (द्वन्द्व) गिनाये गये हैं। उन्हें हम यहाँ तालिका में दर्शाते हैं—

सविता	सावित्री
(१) मनः	वाक्
(२) अग्निः	पृथिवी

(३) वायुः	अन्तरिक्षम्
(४) आदित्यः	द्यौः
(५) चन्द्रमा	नक्षत्राणि
(६) अहन्	रात्रिः
(७) उष्णम्	शीतम्
(८) अभ्रम्	वर्षम्
(९) विद्युत्	स्तनयित्नुः
(१०) प्राणः	अन्नम्
(११) वेदाः	छन्दांसि
(१२) यज्ञः	दक्षिणा

सविता सावित्री के ये १२ युग्म गोपथ ब्राह्मण के आधार पर हैं। इसी भाँति इस समग्र संसार में और भी युग्म हो सकते हैं। पर हमें यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक प्रेरक और प्रेर्य सविता और सावित्री की कोटि में नहीं आ सकता दुष्ट निमित्त, दुष्ट साधन, दुष्ट उद्देश्य आदि में प्रेरक प्रेर्य भाव होते हुए भी वे सविता सावित्री संज्ञाओं से अभिहित नहीं हो सकते, क्योंकि सविता सावित्री देवों के प्रेरक व उनके जनक हैं (सविता वै देवानाम् प्रसविता) वे आसुरी शक्तियों के नहीं।

मन और वाक् का मिथुन अविनाभूत है जहाँ मन है वहाँ वाक् है और जहाँ वाक् है वहाँ मन है। वाक् मन का व्यक्त रूप ही तो है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' जिस प्रकार पुरुष स्त्री में शिशु रूप में उत्पन्न होता है उसी प्रकार मन वाक् का चोला पहनकर व्यक्त रूप धारण करता है। अग्नि व पृथिवी भी अविनाभूत है। यह दोनों नित्य मिथुन भाव में रहते हैं।

इसी कारण यह पृथिवी नित्य प्रसविनी रहती है। पृथिवी पर समग्र प्राणी, अन्न आदि अग्नि की प्रेरक शक्ति के कारण अपनी उत्पत्ति व स्थिति को धारण किए हुए हैं। वायु अपनी गति शक्ति द्वारा अन्तरिक्षस्थ रजः कणों का विमान= विविधमान निर्माण करता रहता है। तत्पश्चात् सन्तति परम्परा में अभ्र रूप में बना पर्जन्य पुनः वर्षा रूप में परिणत होता है। आदित्य अपनी किरणों के माध्यम से द्युलोक में देवों को रूप प्रदान कर उनका परिपोषण करता रहता है। वे देव द्युलोक "दिविदेवा दिविश्रितः" में निवास करते हैं। चन्द्रमा सविता है और नक्षत्र सावित्री है। चन्द्रमा औषधि वनस्पतियों का अधिपति है। पृथ्वी पर से जब औषधि वनस्पतियों आदि का समूलोच्छेद हो जायेगा तो यह पृथ्वी नक्षत्र नहीं रहेगी। नक्षत्र का नक्षत्रत्व इसी में है कि जिसका कभी क्षय न हो। (न क्षीयते सः=नक्षत्रः ऋ। ६। ६७। ६ स्वामी दयानन्द)

इसी प्रकार इन सभी ताराओं के अपने-अपने चन्द्रमा हैं जो उन्हें रस प्रदान करते हैं। अहन् सविता है रात्रि सावित्री है। अहन् में ज्योति है कर्म है, रात्रि में

कर्म का उपराम है। और रात्रि में रमण है (रमणात् रात्रिः)। ये दोनों अविनाभूत है इसके मिथुन से ही यह संसार उत्पत्ति आदि में सक्षम होता है। उष्ण और शीत ये दो भी अविनाभूत है तथा एक दूसरे के सापेक्ष हैं। इनमें सविता व सावित्री भाव कैसे है यह विचारणीय विषय है। विद्युत और स्तनयित्नु (गर्जन) दोनों का मिथुन भाव वर्षा में हेतु बनता है। प्राण सविता है तो अन्न सावित्री है, प्राण अन्न में समाविष्ट होकर शारीरिक रसों की उत्पत्ति व शरीर धारण में सक्षम होता है। यदि अन्न में प्राण तत्व न हो तो वे बेकार है। वेद सविता है तो छन्द सावित्री है छन्दों के आवरण में वेदार्थ सन्निहित हे। यज्ञ सविता है तो दक्षिणा सावित्री है। यज्ञ से उत्पन्न अदृष्ट व सस्कार दक्षिणा में पहुंच कर पूर्णता को प्राप्त होते हैं और फल प्रदान करते हैं। इसी कारण शास्त्रों के यह वचन है। "नादक्षिणस्य यज्ञोऽस्ति" 'दक्षिणा वै यज्ञानाम् पुरोगवी' ऐ. ब्रा. ६।३५

अर्थात् बिना दक्षिणा के यज्ञ सफल नहीं होता। यज्ञ का फल तभी सम्भव है जब दक्षिणा आगे-आगे चले। यदि दक्षिणा नहीं दी जाती है तो यज्ञ का कोई फल नहीं।

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण में पठित सविता सावित्री सम्बन्धी कुछ युग्मों का विवेचन किया। इस सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त और भी विवेचन सम्भव है विद्वान् विचार करें।

गोपथ ब्राह्मण १।१।३५ से मौद्गल्य का मैत्रेय को गायत्री के सम्बन्ध में विस्तृत रूप में जो उपदेश हैं संक्षेप में वह इस प्रकार है। मैत्रेय मौद्गल्य से पूछता है कि 'भोः सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयः किंस्विदाहुः"

हे भगवन्! 'सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य' इस पद का कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ऋषि लोग क्या अर्थ व रहस्य बताते हैं और 'धियः किमाहुः' धी को क्या बताते हैं, यह मुझे बताओ 'यदि ताः प्रविश्य प्रचोदयात् सविता याभिरेतीति' अर्थात् सविता इनमें प्रवेश करके इन धी अर्थात् धारणात्मिका वृत्तियों तथा कर्मों को प्रेरित करता है और जिनके द्वारा वह हमें प्राप्त होता है। इस प्रकार गायत्री के सम्बन्ध में मैत्रेय ने मौद्गल्य से प्रश्न पूछा था।

मौद्गल्य का उत्तर—

वेदाः छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः कर्माणिधियः तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता याभिरेतीति। गो. ब्रा. १।१।३२

वेद, छन्द तथा क्रान्तदर्शी ऋषि लोग सविता देव के भर्ग (तेज) को अन्न कहते हैं। और धी पद से कर्म का ग्रहण करते हैं। अर्थात् सविता देव का तेज ऋषिओं का अन्न है। इस तेज रूप अन्न का भक्षण करना आसान काम नहीं है। इस तेज को अपने अन्दर धारण करना और उसे पचाना कठिन तथा तपः साध्य है। वह सविता देव हमारे अन्दर तेज रूप में प्रविष्ट हो कर प्रत्येक क्रिया द्वारा प्रकट होते हैं।

ब्रह्म सम्बन्धी श्री को वही व्यक्ति अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर सकता है जो कि व्रत धारण कर तप तथा सत्य में प्रतिष्ठित हो दृढ़ निष्ठावान बन जाता है। सविता भगवान् ने सावित्री द्वारा ब्राह्मण का सर्जन किया अतः ब्रह्मत्व व ब्राह्मणत्व की उपलब्धि के लिये सावित्री जप अत्यन्त आवश्यक है। सावित्री के तीन पाद हैं। प्रत्येक पाद के जप से क्या-क्या उपलब्धि व निर्माण होता है। यह हम गोपथ ब्राह्मण की दृष्टि से संक्षेप में दर्शाते हैं।

प्रथम पाद—१

सावित्री का प्रथम पाद 'तत् सवितुर्वरेण्यं' है। यह पृथ्वी से सम्बन्ध रखता है, मानव शरीर में स्थूल शरीर तथा उसका अधोभाग पृथ्वी स्थानीय है। इस पृथ्वी का ऋचा से सन्धान अर्थात् मेल होता है। ऋक् स्तवन (ऋचस्तुतौ) को कहते हैं। स्तवन वर्णनात्मक ज्ञान है। स्तवन से अग्नि पैदा होती है। अग्नि का तेज से सन्धान होता है। इससे अग्नि खूब प्रदीप्त होती है। अग्नि का तेज उद्बुद्ध होने पर श्री की उत्पत्ति होती है। ऐसा श्रीयुक्त अर्थात् शोभा सम्पन्न व्यक्ति जब सन्तानोत्पत्ति के लिये स्त्री से मिथुन भाव को प्राप्त होता है तो प्रजा (सन्तति) की उत्पत्ति होती है। सन्तान के पालन-पोषण के लिये कर्म करने पड़ते हैं। बिना तप के कर्म की पूर्णता सम्भव नही है, तप से यदि सत्य का सन्धान हो जाये तो व्यक्ति में ब्राह्मणत्व जाग्रत व उद्बुद्ध हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मवर्चस्वी बन वह ब्राह्मण-श्रेणी में परिगणित होता है। ब्राह्मण बन व्रत करता है इससे उसका ब्राह्मणत्व तीक्ष्णता (संशित) को प्राप्त करता है। इस प्रकार ब्राह्मणत्व का चक्कर चल पड़ता है। पिता से पुत्र में, पुत्र से पौत्र में आगे ही आगे ब्राह्मणत्व संक्रान्त होता चला जाता है। यह कभी विच्छिन्न नही होता।

२य पाद—सावित्री का द्वितीय पाद है 'भर्गो देवस्य धीमहि' यह अन्तरिक्ष शरीर में हृदय तत्स्थित मन व इन्द्रियाँ आदि हैं। इस अन्तरिक्ष का यजुः से मेल होता है। यह मेल द्यावा पृथ्वी का मेल है। शरीर में हृदय और मन रूपी अन्तरिक्ष समग्र सन्धानों निर्माणों तथा कर्मों का कर्त्ता व नियामक है। यजुः (अन्तरिक्ष= शरीरस्थ हृदय-मन) का वायु अर्थात प्राण वायु से सन्धान होता है। वायु से अभ्र, अभ्र (मेघ) से वर्षा, वर्षा से वनस्पतियां औषधियाँ, उनसे पशु, पशुओं से कर्म

टिप्पणी—१. ब्रह्म श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत, तत् तपस्व यदि तद् व्रते ध्रियेत तत् सत्ये प्रत्यतिष्ठत्। स सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्यदधात् तत् सवितुर्वरेण्यमिति सावित्र्याः प्रथमः पादः पृथिव्यर्चं समदधाद् ऋचाऽग्नि-मग्निनाश्रियं श्रिया स्त्रियं स्त्रिया मिथुनं मिथुनेन प्रजां प्रजया कर्म कर्मणा तपः तपसा सत्यं सत्येन ब्रह्म ब्रह्मणा ब्राह्मणं ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितोभवत्य शून्यो भवत्यविच्छिन्नो भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवनं भवति य; एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतत् सावित्र्याः प्रथमं पादं व्याचष्टे।

इत्यादि क्रम से यह सन्धान होता चला जाता है। अन्त में ब्राह्मणत्व सशित अर्थात् तीक्ष्णीभूत होता है। यह सब क्रम पूर्ववत् समझना चाहिये।

३य पाद—सावित्री का तृतीय पाद है 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इसमें द्यु लोक से साम का सन्धान होता है। साम से आदित्य, आदित्य से रश्मियों का, रश्मियों से वर्षा, वर्षा से वनस्पति औषधियाँ आदि क्रम पूर्ववत् समझना चाहिये। मानव शरीर में यह तृतीय पाद मस्तिष्क है। साम प्राण है और रश्मियाँ इन्द्रियाँ तथा नस नाडियाँ हैं।

इस प्रकार सावित्री के तीनों पादों के रहस्यों को जान कर तदनुसार जप आदि करने वाला विद्वान् ब्रह्म को प्राप्त करता है, उसको अपने अन्दर धारण करता है। उसका परामर्श व स्पर्श करता है। ब्रह्मोपलब्धि के अनन्तर वह आकाश में सर्वत्र अभिव्याप्त हो जाता है। उसका समग्र रहस्य उसे ज्ञात हो जाता है। आकाश से वायु, वायु से ज्योति, ज्योति से आपस्तत्व, आपः से भूमि, भूमि से अन्न, अन्न से प्राण. प्राण से मन, मन से वाक्, वाक् से चारों वेद, वेदों से यज्ञ ये सब क्रम से पूर्ण रहस्यों के सहित मनुष्य को उपलब्ध व ज्ञात हो जाते हैं। ये बारह महाभूत हैं। ये सब सावित्री जाप करने वाले में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इनमें यज्ञ सबसे श्रेष्ठ हैं।

गो. ब्रा. १।१।३७

विद्वान् लोग सावित्री के उपर्युक्त रहस्य को मानते और जानते हैं। संक्षेप में सार यह है 'यह यज्ञ (सृष्टि यज्ञ आदि) वेदों में प्रतिष्ठित है, वेद वाणी में प्रतिष्टित हैं, वाक् मन में, मन प्राण में. प्राण अन्न में, अन्न भूमि में, भूमि जल में, जल ज्योति में, ज्योति वायु में, वायु आकाश में, आकाश ब्रह्म में, और ब्रह्म ब्राह्मण में प्रतिष्ठित है। जो इस क्रमिक प्रतिष्ठा-रहस्य को जानता है वह ब्रह्मवित् बन जाता है। वह पुण्य कीर्ति को प्राप्त करता है सुरभि गन्धों को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् पाप रहित होकर अनन्त दिव्य श्री को प्राप्त होता है। "य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानाम् मातरम् सावित्री सम्पदमुपनिषदमुपास्त इति।" गो. ब्रा. १।१।३८

गायत्री मन्त्र पर सामान्य विचार

समग्र वैदिक बाङ्मय तथा तत्सम्बद्ध साहित्य में जितनी महिमा गायत्री मन्त्र की बताई गई है उतनी अन्य किसी मन्त्र की नहीं। इसी गायत्री को सावित्री भी

२य पाद—भर्गोदेवस्य धीमहि इति सावित्र्याः द्वितीयः पादः। अन्तरिक्षेण यजुः समदधात्, यजुषा वायुं, वायुना अभ्रं, अभ्रेण वर्षं, वर्षेण ओषधिवनस्पतीन् ओषधिवनस्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपः पूर्ववत्।

३य पाद—धियो यो नः प्रचोदयादिति सावित्र्यास्तृतीयः पादो दिवा साम समदधात् साम्नाऽऽदित्यमादित्येन रश्मीन रश्मिभिः वर्षं वर्षेणौषधिवनस्पतीन्०—पूर्ववत्।

कहते हैं क्योंकि इसका देवता सविता है। सविता देवता का यह मन्त्र गायत्री छन्द से छन्दित है। इसीलिए इसका नाम गायत्री पड़ा। परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि गायत्री छन्द में तो और भी अनेकों मन्त्र हैं फिर इसे ही गायत्री नाम से क्यों सम्बोधित किया ? यह एक विचारणीय विषय है। गायत्री छन्द का क्या महत्व है ? गायत्री और सावित्री में क्या भेद है ? इनका क्या स्वरूप है और परस्पर इनका क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि अनेकों प्रश्न है जो कि विचारणीय हैं। गायत्री महिमा को प्रदर्शित करने वाले सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के सार को भी यदि हम यहां प्रस्तुत करें तो यही एक अति विशाल ग्रंथ का रूप धारण कर लेगा। अतः सविता देवता के स्वरूप निरूपण के प्रसंग में गायत्री सम्बन्धी कुछ अति संक्षिप्त विचार ही यहां प्रस्तुत करते है। प्रणव तथा महाव्याहृतियों के साथ गायत्री मन्त्र निम्न प्रकार है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

(ओ३म्) भगवान् का सर्वोत्कृष्ट नाम (भूःभुवः स्वः) पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक, उदर, हृदय तथा मस्तिष्क अथवा सत्-चित्-आनन्द इत्यादि (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक सविता देव के (तत्) उस प्रसिद्ध (वरेण्यं) वरणीय (भर्गो) तेज का हम (धीमहि) ध्यान करते हैं। (यः) जो सविता (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों व कर्मों को (प्रचोदयात्) प्रेरित करे व करता है।

यद्यपि वेदों में अनेक विध उपासनाओं व कर्म कलापों का वर्णन है पर जितना अधिक महत्व गायत्री मन्त्र को दिया गया है उतना अधिक किसी मन्त्र का नहीं है। गायत्री सब सुखों की प्राप्ति का हेतु तथा मोक्ष की जननी मानी गई है। इसका निर्हेतुक स्तवन वेद में सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

एक मन्त्र है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिम् द्रविणम्, ब्रह्मवर्चसम् मह्यम् दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

अथर्व १९।७१।१

स्तवन कर्त्ता की उक्ति—वरदात्री वेदमाता गायत्री का मैंने स्तवन किया है जो प्रेरित किए जाते हुए द्विजों को पवित्र करने वाली है।

सविता का उत्तर—हे स्तोताओ ! आयु प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण तथा ब्रह्मवर्चस् तेज मुझे सौंपकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करो। काम्यस्तुति तत्तत् कामनाओं की पूर्ति कराने वाली है। पर मोक्ष की प्राप्ति में निष्काम स्तुति ही सहायक है यह उपर्युक्त मन्त्र से स्पष्ट है। गायत्री छन्द का सप्रमाण विशद विवेचन हमने विष्णु देवता पुस्तक में भी किया है। यह गायत्री ऊर्ध्व में अर्थात् द्युलोक में सावित्री है तो पृथ्वी लोक में गायत्री है। ऋग्वेद में यह गायत्री है तो सामवेद में यह सावित्री है। क्योंकि ऋग्वेद पृथ्वी लोक का है तो सामवेद द्युलोक का है। परमव्योम से उत्पन्न होती हुई ऋचाएं (ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्) ऋ. १।१६४।३९।

सावित्री की सम्पत् मानी गई है। यथा "वेदानाम् मातरम् सावित्री सम्पदमुपनिषदमुपास्ते" गो० ब्रा० १।१।३८

गाते हुए के मुख से उत्पन्न हो यह गायत्री मानव शरीर में प्राण रूप में आविर्भूत हो जाती है। मानव में इसका स्थिति स्थान व प्रभाव क्षेत्र नाभि से लेकर जानु तक का प्रदेश माना गया है। यह प्रदेश पार्थिव प्रदेश कहाता है। पृथ्वी का देवता व स्वामी अग्नि है। अतः गायत्री भी आग्नेय मानी गई है। पृथ्वी स्थानीय उदर शिश्न आदि अङ्गों को शुद्ध पवित्र तथा वासना रहित करती हुई समिद्ध व प्रदीप्त हो यह गायत्री ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करती है। शरीर के हृदय तथा मस्तिष्क में स्थित दुर्भावनाओं दुर्विचारों तथा अन्य प्रकार के विजातीय आसुरी तत्वों को नष्ट कर तत्रस्थित छन्दों (त्रिष्टुप्, जगती आदि नामों से व्यवहृत प्राणों) को समिद्ध व प्रदीप्त करती है। इसी दृष्टि से शास्त्र में कहा है कि 'गायत्री न क्षमां रमेत' अर्थात् गायत्री पृथ्वी में रमण नहीं करती वह ऊर्ध्व को जाती हुई क्या करती है इसका शतपथ १।३।४।६। में कहा है कि "सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांसि समिन्धे' अर्थात् समिद्ध व प्रदीप्त हुई यह गायत्री ऊर्ध्व को जाती हुई अन्य छन्दों को भी समिद्ध व प्रदीप्त कर देती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि गायत्री खूब प्रदीप्त होनी चाहिए। आधुनिक भाषा में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि भगवान् व देवता के प्रति अटूट व तीव्र भक्ति ही सफलता प्रदान कर सकती है। ऊर्ध्व की ओर प्रयाण करते हुए यह गायत्री श्येन के सदृश तीव्र गति से जाती है और वीर्य को ऊर्ध्व की ओर ले चलती है। शास्त्रों में वीर्य को विष्णु कहा है प्रारम्भ में यह वामनरूप है। गायत्री के प्रभाव से ज्यों-ज्यों यह ऊर्ध्व की ओर गति करता है त्यों-त्यों वह व्यापक (विष्णु विष्लृ व्याप्तौ)। अर्थात् शक्ति व ज्ञान में व्यापक बनता जाता है। ऊर्ध्वरेतम् पुरुष का ज्ञान व शक्ति शरीर व आतमा आदि का बल व सामर्थ्य व्यापक होता जाता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि विष्णु का विष्णुत्व सत्व गुण के कारण है। अतः विष्णु की व्यापकता व विशालता सत्वोद्भूत ज्ञान प्रकाश व शक्तियों की ही ग्रहण करनी होती है। रजो गुण समुद्भूत वासनाओं कामनाओ व तृष्णाओं आदि की विशालता का यहाँ ग्रहण नहीं करना है। अतः जो भी व्यापक है विशाल है वह विष्णु है यह ठीक नहीं। तृष्णा वासना आदि-अति विशाल व व्यापक रूप की हो जाती है पर वे विष्णु की कोटि में नहीं आती क्योंकि विष्णु तो सत्व गुण का पुञ्ज है।

छन्दोग्योपनिषत् अ. ३. ख. १२ में आता है कि—

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च"

अर्थात् इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी भूत जात है वह सब गायत्री है। गायत्री वाणी रूप है अतः ये सब भूत वाणी ही है। इसका तात्पर्य यह है कि जब परमव्योम

में गायत्री का गान प्रारम्भ होता है तब सब स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसको विशदरूप में इस प्रकार समझा जा सकता है कि—भगवान् जब सृष्टि का निर्माण करता है तो वह पहिले तपता है' सतपोऽतप्यत"। तप अग्नि है। अग्नि का सम्पर्क होते ही प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है त्रिगुण गतिमय होते हैं गति से एक स्वर लहरी (Rithmical Sound) गूंज उठती है। यही स्वर लहरी गायत्री है। भिन्न-भिन्न स्वर संघात से स्थावर व जंगम प्राणि जगत् के नानाविध रूप व उनकी क्रियायें समुद्भूत होती है। यह गायत्री गान करती है और सब प्राणी जगत् की रक्षा करती है।

आगे कहा कि—"सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्। तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति।

छां. उ. ३।१२।६

यह गायत्री चतुष्पदा और षड्विधा है। अर्थात् गायत्री के चार पैर हैं और वह ६ प्रकार की है। गायत्री के तीन पैरों में समग्र भूत जात आ जाते हैं और चौथा पैर द्युलोक में अमृत रूप है।

गायत्री के इन ६ रूपों की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है। गायत्री का प्रथम रूप पृथिवी में है पृथिवी में जब ओषधिवनस्पतिओं व फल फूलों की भरमार होती है खेत खूब लहलहा रहे होते हैं तो समझो कि पृथिवी गा रही है, यह पृथिवी की गायत्री है। और पृथिवी में गायत्री की उत्पत्ति भी की जा सकती है वह इस प्रकार कि भक्ति भाव भरित संगीत से उत्पन्न हो यह गायत्री भू प्रदेश पर प्रभाव डालती है। कहा भी है-(गायतो मुखादु त्पतत्। देवत ब्राह्मण) कि गाते हुये के मुख से उत्पन्न हो यह गायत्री चहुँ ओर के वातावरण को प्रभावित करती है। वहाँ के भू प्रदेश पर इस गायत्री का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है। वैसे तो सामान्य संगीत का भी प्रभाव मनुष्यें, प्राणियों ओषधिवनस्पतियों तथा तत्रस्थ भू प्रदेश पर पड़ता ही है यदि छन्दों वद्ध शाब्दी गायत्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का गान किया जाये तो चमत्कारिक प्रभाव पड़ता है। गायत्रीगान से गायत्र साम = प्राण = वातावरण उत्पन्न हो पृथिवी तथा अन्य स्थावर जंगम प्राणिओं को अपने प्रभाव में ले लेता है। इस प्रकार पृथिवी तथा भूत में दो रूप गायत्री के हो गये। तीसरे गायत्री-गान करने वाले व्यक्ति के अपने शरीर में परिवर्तन होने लगता है। उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग गान करने लगते हैं। देह की गात्र संज्ञा गायत्री के कारण ही है। "गायन्तीवाङ्गानि। अर्थात् गात्र वह है जिसके सब अंग गान करते हों। व्याधिग्रस्त क्षीण, तथा दुर्बल व्यक्ति के अंग गान नहीं करते प्रत्युत ऐंदन करते हैं। इस प्रकार गायत्री का तीसरा रूप शारीरिक है। गायत्री का चतुर्थ रूप हृदय में है।

हृदय में पहुँच यह गायत्री आत्मा व परमब्रह्म का उद्बोधन करने वाली हो जाती है। हृदयस्थ प्राण वासनाओं व अन्य संस्कारों का परित्याग कर गायत्री गान से भर जाते हैं। ऐसी अवस्था में पहुँचकर भगवान् का भजन सन्ध्योपासना तथा भक्ति की पराकाष्ठा हो जाती है।

हृदय में स्थित गायत्री के अन्दर इतनी शक्ति होती है कि प्राणों से सब प्रकार की वासनाओं तथा आसुरी शक्ति का साम्राज्य समाप्त हो जाता है। जिस व्यक्ति में से वासनाएँ, कामनाएँ व दुर्भावनाएँ समाप्त हो गई है तो यह समझो कि उसके प्राणों में गायत्री सक्रिय है। यह उसका पांचवा रूप है। इस गायत्री का छटा रूप वाक् में हैं। वाक् में जब गायत्री सक्रिय होती है तब उसकी वाणी से तेज ओज का प्रकाश होता है। वह जो कहता है वह सत्य होता है।

इस त्रिलोकी में तथा इस त्रिलोकी से भी ऊर्ध्व में जितना परमपुरुष अभिव्याप्त है गायत्री अपने चतुष्पदों से उसे व्याप लेती है। गायत्री के तीन पद तो यह त्रिलोकी के पद हैं चौथा पद वृहदारण्यकोपनिषद् ५।१४।७ के आधार पर निम्न प्रकार है।"—

सैषा गायत्र्यै तस्मिँस्तुरीये दर्शते पदे परो रजसि प्रतिष्ठिता। तद् वै तत् सत्ये प्रतिष्ठितम्" गायत्री का चौथा पद इस त्रिलोकी से ऊर्ध्व में जहाँ कि सत्य की सत्ता है प्रतिष्ठित है। आगे कहा कि

ओ३म् गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसेऽसावदो मा प्रापदिति

हे गायत्री ! तुम एक पद, दो पद, तीन पद और चार पद वाली होती हुई भी पादरहित हो मन वाणी आदि द्वारा तुम अगोचर हो। तुम्हारे दर्शनीय तुरीय पद के लिये नमस्कार है। तुम रजो गुण के परे हो। वह शुद्ध ज्योति रूप तुम्हारा तुरीय पद मुझे प्राप्त हो।

गायत्री-जप—

सनातन जगत् में गायत्री 'पुरश्चरण अर्थात् गायत्री शापोद्धार, गायत्र्युपस्थान, गायत्री कवच, गायत्री आवाहन मन्त्र आदि (दिव्यरूपे महादेवि, गायत्र्यस्येकपदी बृ. उ. ५।१४।७, आगच्छ वरदेदेवि०) का विधान है। पर बिना पुरश्चरण के भी यह गायत्री जप सिद्धिप्रद है। महाव्याहृतियों से पूर्व मध्य में (वरेणिओम्) तथा अन्त में प्रणव=(ओ३म) जोड़कर जप करना चाहिये। गायत्री जप के माहात्म्य को मनु महाराज ने निम्न श्लोकों में इस प्रकार दर्शाया है।

ओंकार पूर्विका स्तिस्रो महा व्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्॥
योऽधीतेऽहन्यहण्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः ख मूर्तिमान्॥ यजु. २।८१,८२

ओ३म् भूः भुवः, स्वः पूर्वक त्रिपदा गायत्री ब्रह्म का मुख मानी गयी है। जो व्यक्ति प्रतिदिन निरालस्य हो सावित्री का तीन वर्ष तक निरन्तर जप करता है वह ब्रह्म को प्राप्त होता है और वायु रूप हो कामचारी होता है।

आगे कहा—

विधि यज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभि र्गुणैः।

उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥ मनु. २।२५

वैध यज्ञों से गायत्री का यह जप यज्ञ दश गुणा अधिक है। और यह जप यज्ञ भी यदि उपांशु=(मुख गति का अभाव) हो तो सौगुणा अधिक है और यदि केवल मानस हो तो सहस्रगुण अधिक फलदायी है।

जप में समय का ध्यान अवश्य रक्खे। सन्ध्या काल में गायत्री जप का जो समय नियत कर रक्खा है उस समय जप करने बैठ जाये। यह अधिक फलदायी है। नित्यकर्मों से निवृत्त हो, आसन, तीन प्राणायाम तथा ओंकार का ध्यान कर जप करे। गायत्री जप से ब्रह्महत्यादि महापातकों का भी शमन होता है और यहां तक कहा है—

जप्येनैव तु संसिध्येद ब्राह्मणो नात्र संशयः।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥ मनु २।८७

ब्राह्मण सब प्राणियों के प्रति मित्र भाव रक्खे और सावित्री का जप करे तो इतने से ही मोक्ष व ब्रह्म प्राप्ति आदि हो जाती है, और यज्ञ यागादि करे या न करे। इस प्रकार संक्षेप में गायत्री जप का माहात्म्य हमने यहाँ प्रदर्शित किया। गायत्री जप से पूर्व मन्त्र के ऋषि, छन्द तथा देवता का स्मरण करना तथा तदनुकूल भावना से भावित होना भी अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि प्राचीन आचार्यो का मन्तव्य है + यथा—

अविदित्वा ऋषिं छन्दोऽथो दैवतमेव च।

योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयान् जायते तु सः।

अर्थात् जो व्यक्ति मन्त्र के ऋषि, छन्द और देवता को बिना जाने शिष्य को पढ़ाता है अथवा जप करता है वह पाप का भागी बनता है। यहां पाप से तात्पर्य असफलता से है। अन्यत्र कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी में आता है—"मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेय छन्दो दैवतविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति। एताभ्यामनेवंविदो यातयामानि छन्दांसि भवन्ति स्थाणुं वर्छति गर्तं वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवतीति।" इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्रों के ब्राह्मण (ब्राह्मण ग्रन्थों में विहित विधि विनियोग आदि) ऋषि, छन्द तथा देवता का ज्ञान अध्यापन तथा यजन याजन आदि कराने पर श्रेय को प्राप्त होता है। जो उपर्युक्त ऋषिओं आदि का ज्ञान न रख अध्यापन आदि क्रियाएं करता है, उसके मन्त्र यातयाम (बासी) के तुल्य होते हैं। बल देने वाले सिद्धिकारक नहीं होते। वह स्वयं स्थाणु हो जाता है, गर्त में गिरता है, मरता व पापी बनता है। स्थाणु बनना, गर्त में गिरना व मरना आदि शरीर का नहीं, मन तथा बुद्धि आदि का है। अतः सावित्री जप करने से पूर्व उनके ऋषि, छन्द तथा देवता का स्मरण करना आवश्यक है। इसका क्या रहस्य है यह हम संक्षेप में प्रदर्शित करते हैं।

ऋषि—एक दृष्टि है, ऐनक है जिसे पहिन कर मन्त्र पर दृष्टिपात करना होता है (ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:)।

छन्द—एक आवरण है घेरा है जिस घेरे में उस मन्त्र का अर्थ देखना होता है।

देवता—मन्त्र का देवता उसका वर्णनीय विषय व उपास्य वस्तु होती है।

इन उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर गायत्री मन्त्र के ऋषि, छन्द तथा देवता पर विचार करते हैं।

ऋषि—गाधिनोविश्वामित्र:। अर्थात् गायत्री मन्त्र का ऋषि गाधि का पुत्र विश्वामित्र है।

गाधि—यह मानव व्यक्ति नहीं है। इस सम्बन्ध में हमने ऋषि रहस्य 'पुस्तक में कुछ अयास्य मेध्यातिथि कण्व आदि के प्रसंग में विचार किया है। अत: इसकी व्युत्पत्ति यह है—"गाध: अस्यास्तीति गाधि: (नास्ति गाध:, अगाध:—शब्द कल्पद्रुम)।

गायत्री जप से पूर्व मनुष्य की प्रथम दृष्टि गाधि की होनी चाहिये। अर्थात् वह मन को अगाध में, गहराई में न ले जाकर ऊपर ले आये। मन की गहराई अनुमस्तिष्क (Subconscious self) में जाने पर होती है। जो वासनाएं, संस्कार अतृप्त इच्छायें गुह्य मस्तिष्क में प्रच्छन्न रूप में निहित होती हैं वे निद्रा काल में ऊपर तैर आती है। जप भी एक प्रकार की अर्द्ध निद्रा है, स्वप्नावस्था है। इस समय भी वे गुह्य में से ऊपर तैर जाती है। अत: इनसे बचने के लिये सर्व प्रथम हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि मन अगाध में (sub conscious self) न जाने पावे। इस गाधि अवस्था के पश्चात् विश्वामित्र दृष्टि अपनानी होगी। विश्वामित्र: सर्वमित्र: "विश्वस्य हवै मित्रं विश्वामित्र आस विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद" ऐ. ब्रा. ६।२० अर्थात् समग्र विश्व मेरा मित्र है मेरा कोई भी दुश्मन नहीं है। मनुष्य जब एकान्त में बैठता है, चिन्तन की स्थिति में होता है उसी अवस्था में मन के ऊपर नाना प्रकार के दुर्विचार उद्‌बुद्ध होने प्रारम्भ हो जाते हैं। विश्वामित्र दृष्टि पैदा कर इन दुर्विचारों को अवरुद्ध किया जा सकता है।

छन्द—यह छन्द गायत्री है। इस छन्द के नाम से मन्त्र को गायत्री कहते हैं। प्रश्न यह पैदा होता है कि गायत्री छन्द में तो और भी मन्त्र हैं। इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि उपर्युक्त गायत्री मन्त्र में सविता का सर्व प्रमुख कार्य 'प्रेरणा' का ही वर्णन हुआ है।

—:०:—

टिप्पणी—गायत्री छन्द पर विस्तार के लिये देखें, लेखक की 'विष्णुदेवता' पुस्तक।

पञ्चम अध्याय

आधुनिक विद्वानों के मत में सविता

सविता देवता के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का क्या मत है? यह हम यहाँ अति संक्षेप से दर्शाने का प्रयत्न करते हैं। इसमें हमने सायणाचार्य, महर्षि दयानन्द श्री अरविन्द तथा पाश्चात्य विद्वानों में "वैदिक माईथोलोजी" के लेखक मैक्डोनल के विचार दिये हैं। वेदों के अध्ययन के सम्बन्ध में ये चार प्रकार की विचारधाराएँ हैं तदतिरिक्त अन्य विद्वान इनके अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः हमने इन्हीं विद्वानों के विचारों तक अपने को सीमित रक्खा है। सायणाचार्य आदि कुछ पूर्व कालीन भाष्यकार परम्परा प्राप्त कर्म काण्ड सम्बन्धी शैली का प्रमुख रूप से अवलम्बन करते हैं। वे कर्मकाण्ड को बाह्य ड्रामे तक ही सीमित रखते हैं। पुराकथाशास्त्रों, प्रतीकों, परिभाषाओं आदि के अन्तर्गत आध्यात्मिक, वैज्ञानिक आदि क्या गूढ रहस्य छिपा है उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं करते। कारण यह है कि उनकी अज्ञानता। पर पूर्व वैदिक युग में दिव्य दृष्टि सम्पन्न अलौकिक प्रतिभा तथा योग साधक जिज्ञासुओं को विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता ही नहीं थी। अतः सायणाचार्य आदि विद्वानों ने केवल कर्मकाण्ड के विधि विधानों तथा पुराकथाशास्त्र के उद्धरण आदि देने तक ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया। इसके पश्चात् आधुनिक काल में महर्षि कोटि के विद्वान महर्षि दयानन्द ने अपनी दिव्य दृष्टि से मन्त्रगत सूक्ष्मतम रहस्यों का अवलोकन कर कर्मकाण्ड की जटिल तथा दुरूह शैली के अन्दर आवद्ध अर्थों तथा विषयों को कैद से बाहर कर जन सामान्य की भाषा में वेदों का सरलार्थ रखने का प्रयत्न किया। इसमें विद्वानों को मत भेद हो सकता है पर उन्होंने वेदों को नवीन शैली द्वारा एक व्यापक क्षेत्र प्रदान कर दिया। हमारे विचार में यदि वेदार्थ के साथ कर्मकाण्ड सम्बन्धी क्रियाओं विधियों, परिभाषाओं आदि को भी एक जन सुलभ भाषा में आधुनिक बुद्धिगम्य रूप देकर वैज्ञानिक स्तर पर ला खड़ा करते तो प्राचीन तथा नवीन शैलियों में एक सामञ्जस्य स्थापित हो जाता। श्री अरविन्द ने भी प्राचीन मान्यता के आधार पर वेदों के दोहरे अर्थ स्वीकार कर आध्यात्मिक अर्थ ही प्रमुख माने हैं। प्राचीन शास्त्रों में भी 'इति ब्रह्मवादिनः' ब्रह्मवादिन आहुः इत्यादि वाक्यों से भी आध्यात्मिक अर्थों की प्रमुखता ही प्रतिपादित,होती है। वे वेदों को जन सामान्य से अगोचर योग की अत्युच्च शिखरों पर ले गये हैं। आगे पाश्चात्य विद्वानों ने तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक दृष्टि कोण अपनाकर वेदों को पुराकथाशास्त्रीय अध्ययन तक ही अपने को सीमित रक्खा है। इसी दृष्टि से वेदों का काल निर्णय करते हैं। वेदों में वे आर्य दस्यु दास आदि जातियों की सत्ता, आदिम काल की असभ्य मूर्ख तथा बचकाना विचारधाराओं का एक छन्दोबद्ध संग्रह मात्र मानते रहे है। इस

प्रकार तुलनात्मक गाथा शास्त्र, भाषा विज्ञान आदि के आधार पर वेदों में क्रमिक इतिहास ढूंढने का भी प्रयत्न करते हैं। और भारतीय परम्परा से भिन्न विचार रखते हुए भी हम उनकी इस बात में प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते कि उन्होंने वेदों व वैदिक साहित्य पर भारी परिश्रम किया है अस्तु। अब हम क्रम से विद्वानों के सविता सम्बन्धी विचारों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

सायणाचार्य—

वेद अत्यन्त गूढ व प्रच्छन्न रहस्यों से भरे पड़े हैं। उनका एक एक शब्द अपने में परिपूर्ण हैं और संसार के किसी गुह्य रहस्य को अपने में समाविष्ट किये हुए होता है। अतः वेद सरल नहीं है उसके गुह्य स्तरों को उद्घाटित करने के लिये आदि सृष्टि से ऋषि मुनि प्रयत्न करते रहे हैं। भारद्वाज मुनि तीन जन्मों तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर भी वेदों के सम्पूर्ण रहस्यों को नहीं जान सका और अन्त में देवाधि देव इन्द्र को कहना पड़ा कि अनन्ता वै वेदाः। अर्थात् वेद अनन्त है इनका पार पाना सुगम नहीं है। शंकराचार्य की दृष्टि में तो वेद सर्वज्ञकल्प है जिस प्रकार उस सर्वज्ञ भगवान् का पार नहीं पाया जा सकता उसी प्रकार वेदों का भी पूर्ण रहस्य किसी एक व्यक्ति को स्पष्ट होना नितरां असम्भव है। आदि सृष्टि में कुछ साक्षात्कृत धर्मा ऋषि हुए हैं उन्होने आगे आने वाले साक्षात्कार करने में असमर्थ व्यक्तियों की सहायता के लिये वेदांगो, अर्थात् व्याकरण, निरुक्त आदि वेदों में प्रवेश कराने वाले सहायक ग्रन्थों का निर्माण किया। ब्राह्मणग्रन्थादि के रूप में भाष्य उनकी कर्मकाण्ड परक एक विशिष्ट शैली थी। वह शैली ऐसी है कि उसे अनेक क्षेत्रों में घटाया जा सकता है—अर्थात् एक मन्त्र को अनेक क्षेत्रो में लगाया जा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये आता है कि "बहुभक्तिवादीनि ही ब्राह्मणानि" अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ अनेकों क्षेत्रों के सम्बन्ध में बताने वाले है। यदि वेद मन्त्र अनेक क्षेत्रों में न लगाये जायें तो चार संहिताओं की ११२७ शाखाएँ कैसे बन सकेंगी।

सायणाचार्य स्कन्द उद्गीथ आदि भाष्यकारों ने भी वेद भाष्य में ब्राह्मण ग्रन्थों के समान कर्मकाण्ड शैली को ही अपनाया है। इस कर्मकाण्ड शैली की निकृष्ट व अपूर्णता आदि के सम्बन्ध से अनेकों विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है पर इस सम्बन्ध में हमारा विचार कुछ भिन्न है इस विषय में विस्तार से तो फिर कभी विचार करेगें। संक्षेप में इतना ही कहना है कि हम कर्मकाण्ड का संकुचित अर्थ नहीं लेते। जैमिनि ऋषि के निम्न सूत्र के आधार पर हमारी मान्यता है।

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" आम्नाय अर्थात् वेद सब क्रिया परक है जो क्रिया परक न माना जाये तो अनर्थक है।

संसार तथा जगत् शब्द भी तो क्रिया ही है। क्रिया के अतिरिक्त संसार में है ही क्या। अध्यात्म व ज्ञान काण्ड भी तो कर्मकाण्ड का ही एक अवान्तर भाग है। पञ्चमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, तथा सृष्टि यज्ञ कर्मकाण्ड ही तो है। अतः प्राचीन ऋषि

मुनि कर्मकाण्ड व यज्ञ आदि पदों को बहुत व्यापक अर्थों में लेते थे। यह तो पश्चात् भावी अज्ञानी विषय लीलुप ब्राह्मणों ने कर्मकाण्ड को बहुत संकुचित कर दिया। अतः हमें पुनः दर्शऽपौर्णमास, अश्वमेध आदि यज्ञों की व्याख्याएँ इसी व्यापक दृष्टि कोण को आधार मानकर करनी चाहिये। सायणाचार्य आदि भाष्यकारों ने वेद भाष्य में किसी नयी शैली को नहीं अपनाया पर प्राचीन आर्ष प्रणाली का ही अवलम्बन किया है।

समस्या वहां पैदा होती है जहाँ याज्ञिक विधि विधानों तत्सम्बन्धी परिभाषाओं को अध्यात्म यज्ञों, बाह्ययज्ञ व सृष्टि यज्ञ आदि में न दिखाकर केवल ड्रामे के तौर पर किये जाते हुए बाह्य यज्ञों में ही घटाते हैं। इसका कारण है अज्ञानता। अध्यात्म तथा सृष्टि विज्ञान सम्बन्धी यज्ञ अतिगूढ व प्रच्छन्न होते हैं, वे साधना तथा तपः साध्य होते हैं, इस प्रकार योग साधना, वह उग्र तप, तथा बुद्धि का उत्कर्ष न रहने के कारण वेदो के गूढ रहस्य रहस्य ही बने रहे वे स्पष्ट न हो सके। अस्तु, अब हम सायणाचार्य के सविता सम्बन्धी कुछ उद्गार यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

सायणाचार्य ने सविता का प्रमुख व केन्द्रीय अर्थ सूर्य किया है। जहाँ सविता और सूर्य में मन्त्र में कुछ भिन्नता प्रतीत हुई वहां उन्होंने निम्न प्रकार समाधान किया—ऋ. १।३५।९ में 'वेतिसूर्यम्' की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि "तथा सूर्यं वेति गच्छति। यद्यपि सवितृ सूर्ययोरेकदेवतात्वं तथापि मूर्तिभेदेन गन्तृ गन्तव्यभावः।" अर्थात् वह सविता सूर्य के पास जाता है। यद्यपि सविता और सूर्य एक ही देवता है पर मूर्तिभेद से भेद है एक गन्ता है और दूसरा गन्तव्य है। सविता और सूर्य में क्या भेद है ? इस सम्बन्ध में इतना ही लिखा है गन्ता और गन्तव्य का स्पष्टीकरण नहीं किया। सायणाचार्य सविता पद से सर्वप्रेरक परमेश्वर का भी ग्रहण करते हैं। ऋ. १।१६४।२६ में लिखते हैं कि "सविता सर्वस्यानुज्ञाता परमेश्वरो नोऽस्मदीयं श्रेष्ठं प्रशस्यं एवं सोमयांगं क्षीरंवा साविषत् अनुजानातु" अर्थात् सबको अनुज्ञा देने वाला वह परमेश्वर हमें श्रेष्ठ सोमयाग व क्षीरयाग करने की अनुज्ञा प्रदान करे अथवा हम यह याग कर सकें इतना अनुग्रह करे। ऋ. १।१२४।१ में सविता पद से सूर्य अर्थ ग्रहण कर लिखता है "अस्मिन्कर्मणि वा सविता देवः सर्वस्य प्रेरकः सूर्यो नोऽस्मदीयं अरणीयं द्विपत् पाद द्वयोपेतं मनुष्यादिरूपं धनं प्रासावीत् अनुजानातु ददात्वित्यर्थः" इस मन्त्र में सविता सर्वप्रेरक सूर्य है और दो पाये मनुष्य भी सायणाचार्य ने धन माने हैं।

अग्नि देवताक मन्त्र ऋ. १।१४६।१ में "अभवत् सूर्योन्हर्नॄन्" अग्नि को सूर्य मानकर निम्न अर्थ किया है "कि च सूर्यः सर्वस्यप्रसविता ऽयमग्निरेभ्य एवं कुर्वद्भ्यो-नॄन् नृभ्यो नेतृभ्य आविरभवत्" अर्थात् सबको प्रेरित करने वाला यह अग्निरूपी सूर्य इन नेतृवर्ग के प्रति प्रकट हुआ है।

सायणाचार्य अपने अर्थों की पुष्टि में निरुक्त तथा ब्राह्मण वचनों को प्रायः उद्धृत करते हैं। ऋ. १।२२।६ मन्त्र में सविता को हिरण्यपाणि कहा गया है इसका

स्पष्टीकरण व पुष्टि कौषीतकी ब्राह्मण का उद्धरण देकर किया है। जिसका सार यह है कि किसी देव कर्तृक याग में जब सविता को खाने के लिये प्राशित्र नामक चरु दिया गया तो सविता ने उस प्राशित्रचरु को हाथों से लेने का प्रयत्न किया तो उसके दोनों हाथ कट कर गिर गये तब अध्वर्युओं ने उस सविता के सोने के हाथ लगा दिये। इसी कारण सविता को हिरण्य पाणि कहते हैं। इसमें क्या रहस्य निहित है यह तो सायणाचार्य ने स्पष्ट नहीं किया पर ब्राह्मणग्रन्थ के तत्सम्बन्धी प्रकरण को अविकल रूप में उद्धृत कर दिया। कई इसे शिल्पचिकित्सा का चमत्कार कह सकते हैं पर हमारे मत में यह एक आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसका स्पष्टीकरण हमने अन्यत्र किया है। इसी प्रकार १।२२।७ मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने ब्राह्मणग्रन्थ का निम्न उद्धरण दिया है "कोषीतकिन एतस्या ऋचो व्याख्यान रूपे ब्राह्मणे सवितु र्विभाग हेतुत्वमेव समामनन्ति। यदेतद् वसोश्चित्रं राधस्तदेष सविता विभक्ताभ्यः प्रजाभ्यो विभजति' इसी प्रकार ऋ. १।३५।२ मन्त्र के व्याख्यान में "निवेशयन्नमृतं मर्त्यंच" की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अमृत रूप प्राण तथा मरणधर्मा शरीर को स्वस्व स्थान में स्थापित करता हुआ वह सविता इसकी पुष्टि में ऐतरेयारण्यक २।१।८ यह वाक्य उद्धृत किया—"मर्त्यानि हीमानि शरीराणि अमृतैषा देवता"। ऋ. १।३५।७ में सविता को असुरः प्राणदः "अर्थात् प्राणों का दाता यह सूर्य। पुष्टि में ऐ. आ. १।१४।१ का उद्धरण दिया–सर्वेषां भूतानां 'प्राणानादायोदेति' अर्थात् यह सविता सूर्य सबके प्राणों के लेकर उदय हो रहा है। सविता सूर्य है उसकी बाहुएँ रश्मियाँ हैं ऋ. १।९५।७ में आता है "सवितेव सर्वस्यप्रेरक आदित्यो यथा बाहू बाहु स्थानीयान् रश्मिनुद् गमयति" अर्थात् सर्वप्रेरक यह आदित्य अपनी रश्मि रूपीबाहुओं को ऊपर उठाता है। इसी में ऋ, १।१९०।३ मन्त्र भी द्रष्टव्य है।

ऋ. १।११०।२ में सविता पद से यजमान का अर्थ ग्रहण किया है। वहाँ आता है कि "दाशुषः हवींषि दत्तवतः सवितुः सोमाभिषव कुर्वतो यजमानस्य" अर्थात् वह यजमान है जो सोम निचोड़ रहा है। ऐसे यजमान के घर ऋभुओं को सोमपान करने के लिये निर्देश दिया गया है। इससे अगले ही मन्त्र में सायणाचार्य ने सविता सर्वप्रेरक देव माना है जिसने ऋभुओं को देवत्व प्रदान किया। मन्त्र है— "तत् सविता वोऽमृतत्वमासुवत्०" ऋ. १।११०।३

इस प्रकार सायणाचार्य ने सविता से सर्वप्रेरक परमात्मा, सूर्य, यजमान आदि अर्थों का ग्रहण किया है।

ऋषि दयानन्द—

महर्षि दयानन्द ने सविता के कार्यों को दृष्टि में रखते हुए अपने भाष्यमें अनेकों अर्थों का दिग्दर्शन कराया है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

ईश्वर—सूर्य इव स्व प्रकाशमान ईश्वरः। ऋ० १।१८६।१ सकल जगदुत्पादकः। ऋ० २।३८।१, प्रेरकोऽन्तर्यामी ऋ० ३।५६।७, सर्वैश्वर्यप्रदः। ऋ० ४।५४।१ सत्कर्मसुप्रेरकः। ऋ० ५।८२।८, सर्वेषां वसूनां अग्नि पृथिव्यादीनां त्रयस्त्रिंशद्देवानां प्रसविता। यजु. १।३वृष्टिप्रकाश द्वारा दिव्यगुणानां प्रसवहेतुः यजु. १।१५ वेदविद्यैश्वर्योत्पादकम्। यजु. ९।२७, योगैश्वर्यं संप्रदस्येश्वरस्य। यजु. १७।७४।

इसी प्रकार अन्य कई स्थलों में सविता पद से स्वामी जी ने सब जगत के उत्पत्तिकर्ता, ऐश्वर्य प्रदाता, योग विद्या, वेद विद्या तथा अन्य सकल भौतिक विद्याओं का प्रदाता ईश्वर को बताया है। मनुष्यों को सर्व प्रकार के ऐश्वर्य उससे ही प्राप्त होते हैं। वह परमात्मा ही सब मनुष्यों को सत्कर्मों में प्रेरित करता है।

पृथिवी आदि लोकों में स्थावर जंगम प्राणियों की उत्पत्ति तथा औषधि वनस्पति आदि धन-धान्यों की उपलब्धि के लिए मनुष्यों को प्रेरित करना यह सब वह भगवान सूर्य के माध्यम से करता है। अतः सविता का अर्थ सूर्य भी है। अनेकों स्थलों पर सूर्य व सूर्यलोक अर्थ भी किया है और वायु अर्थ भी किया है।

यथा—ऐश्वर्यवान् राजा सूर्य लोको वायुर्वा। यजु. ५।४, सूर्य, ऋ० १।७३।२ सूर्यो धर्मकृत्येषु प्रेरकोवा ऋ० १।१०७।३, सूर्यमण्डलम् ऋ० ४।१३।२, प्रसवकर्ता सूर्यः। ऋ० ६।५०।१३ सर्वजगदुत्पादकः, सकलैश्वर्य दातेश्वरः सूर्यलोकोवा यजु. १।२० भास्करः यजु. ११।४२ सूर्य ऐश्वर्यप्रदः यजु, ११।६३, सूर्यलोकम् ऋ० १।३५।१, सूर्य प्रकाशम् ऋ० १।४४।८, इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी सविता से सूर्य का ग्रहण कर सूर्य विज्ञान जानने की मनुष्यों को प्रेरणा दी है। सूर्य विज्ञानाय यजु. १०।५, जो व्यक्ति इस सवितृ विद्या को जानता है उसे सवितृविद्याविदे यजु. ३८।८ सम्बोधन से वर्णन किया है। जो विद्वान व राजा सविता सम्बन्धी गुणों का आगार होगा वह भी स्वामी जी के मत में सविता है।

सकलैश्वर्ययुक्त सम्राट् यजु. ९।१ अनेकपदार्थोत्पादक तेजस्विन् विद्वन् राजन् यजु. ३३।६९ सत्कर्मसु प्रेरक राजन् ऋ० ६।७१।३ इसी भाँति यजु. ३३।२०, ४९, ऋ० ६।७१।२, ६ तथा ६।५०।१, १।११०।३ द्रष्टव्य हैं।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में अनेकों स्थलों पर सविता का अर्थ सूर्य व सूर्यलोक किया है। इस पर हमें कोई विशेष आपत्ति नहीं, इस सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि यह सविता का सामान्य अर्थ है क्योंकि सूर्य में तो इन्द्र, विष्णु, यम, भग आदि अन्य सब भागवत शक्तियाँ भी समाविष्ट हैं। बाल्मिकी रामायण के युद्ध काण्ड में महर्षि अगस्त्य ने भगवान श्री राम को जो :आदित्य हृदय' नाम का उपदेश दिया था उसमें सूर्य की स्तुति में कहा गया है कि—

"सर्वदेवात्मको ह्येष तेजस्वी रश्मिभावनः" अर्थात् तेजस्वी रश्मियों वाला यह सूर्य सर्व देवमय है। आगे श्लोकों में सब देवताओं का परिगणन कर दिया गया है। अतः विचारणीय यह है कि इनके परस्पर विशिष्ट धर्म, गुण व कर्म क्या है, यह केवल मात्र सूर्य अर्थ करने पर स्पष्ट नहीं होता। सूर्य में सवितृत्व क्या है यह स्पष्ट होना चाहिये। सूर्य में सविता, भग, विष्णु आदि अन्य देव शक्तियों की सत्ता कब होती है इस सम्बन्ध में जै० उप० ब्रा० का सूर्य सम्बन्धी प्रकरण यहाँ उद्धृत करते हैं। वहाँ आता है कि "उषा काल में पौ फटने पर हे सूर्य! तू सविता है" उदेष्यन् ऊपर की ओर पग बढ़ाने की कामना पर तुम विष्णु कहाते हो, उद्यन्-उद्गत होते हुए पुरुष। उदित हुए को बृहस्पति "अभिप्रयन्" सम्मुख प्रयाण करने पर मघवा, मध्य

दिन में इन्द्रो वैकुण्ठ, अपराह्न् में भग, रक्तिमा में उग्रदेव, अस्त के समय यम, खाते हुए में सोमराजा निशाकाल में पितरों के राजा, तुम स्वप्नावस्था में मनुष्यों में प्रविष्ट होते हो। पशुओं में दूध के माध्यम से तुम विद्यमान होते हो, विरात्र में भग, अपररात्र में अंङ्गिरा, अग्निहोत्र वेला में भृगु, नाम को सार्थक करते हो। ऐसे इस सूर्य का मंडल गौ के ऊध के समान है जिसमें दो स्तन हैं एक वाक् और दूसरा प्राण।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'सूर्य' संज्ञा अनेकों भागवत शक्तियों के सम्मिलित रूप की है। दूसरे शब्दों में यह सूर्य समय-समय पर सविता, विष्णु, बृहस्पति आदि भागवत शक्तियों को प्रकट करता रहता है। सविता, इन्द्र, वृहस्पति आदि की अपनी-अपनी विशिष्टता क्या है यह केवल मात्र सूर्य व सूर्यलोक कहने मात्र से स्पष्ट नहीं होता। अब हम महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य से तत्सम्बन्धी उद्धरण द्वारा सविता पद से सूर्य एवं सूर्यलोक आदि अर्थों पर संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत करते हैं।

ऋ १/३५ सूक्त के प्रारम्भ में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि "अथ सूर्यलोक-गुणा उपदिश्यन्ते" अब सूर्यलोक के गुणों का उपदेश करते हैं। ऋ० १-३५-१ के 'ह्वयामि देवं सवितार मूतये' इस मन्त्र पद का अर्थ किया है कि ह्वयामि गृह्णामि देवं द्योतनात्मकं सवितारं सूर्यलोकं ऊतये क्रिया सिद्धींच्छायै अर्थात् क्रिया सिद्धि की इच्छा के लिये द्योतनात्मक सूर्यलोकं को ग्रहण करता हूँ। यहाँ मन्त्र में सविता का सूर्यलोक अर्थ उपयुक्त है क्योंकि क्रिया सिद्धि के लिये सूर्यलोक में विद्यमान सकल भागवत शक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक है।

इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र में श्लेषालङ्कार मानकर स्वामी जी ने 'सविता' सब जगत को उत्पन्न करने वाला यह प्रथम अर्थ स्वीकार कर द्वितीय अर्थ सूर्यलोक किया है। भावार्थ में वे लिखते हैं कि "जैसे सब पृथिवी आदि लोक मनुष्यादि प्राणियों वा सूर्यलोक अपने आकर्षण से पृथ्वी आदि लोकों वा ईश्वर अपनी सत्ता से सूर्यादि सब लोकों का धारण करता है ऐसे क्रम से सब लोकों का धारण होता है।" परन्तु इस मन्त्र के उत्तरार्ध "हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्" के स्वामी जी ने श्लेषालंकार के बल से दो अर्थ किए हैं एक-सविता से परमात्मा अर्थ ग्रहण करके दूसरा सूर्यलोक पक्ष में। परमात्मा के पक्ष में 'रथेन' पद का अर्थ

टिप्पणी में—

व्युषि सविता भवसि। उदेष्यन् विष्णुः। उद्यन् पुरुषः। उदितो बृहस्पतिः। अभिप्रयन् मघवा। इन्द्रोवैकुण्ठो मध्यन्दिने। भगो अपराऽह्ने। उग्रोदेवोलोहितायन्। अस्तमिते यमो भवसि। अश्नसु सोमोराजा। निशायां पितृराजः स्वप्ने मनुष्यान् प्रविशसि। पयसा पशुन्। विरात्रे भगो भवसि। अपररात्रे अंगिराः। अग्निहोत्र वेलायाम् भृगुः तस्य तदैतदेवमंडलमूधः। तस्यैतौ स्तनौ यद् वाक् च प्राणश्च।

जै० उप० ब्रा० ४ अ० ५ अनु० १-४

किया है 'ज्ञान स्वरूप रथ से' सूर्यलोक पक्ष 'गमन शक्ति से' ये दो भिन्न क्षेत्रों में अर्थ किए हैं।

परन्तु हमने श्लेषालंकार न मानकर सविता से सर्व प्रेरक परमात्मा अर्थ लेकर रथेन पद का सूर्यमंडल अर्थ किया है। इस प्रकार सविता और सूर्य का पार्थक्य सिद्ध किया है। हमारे विचार में इस मन्त्रार्थ के ये तीनों ही अर्थ हो सकते हैं। अगले तृतीय मंत्र में महर्षि दयानन्द ने वाचकलुप्तोपमालंकार मानकर सविता (सूर्यलोक) के साथ वायु का भी ग्रहण किया है। और जिस प्रकार ये दोनों दुःखों का विनाश कर सुख बढ़ाते हैं, वैसे ही सभापति आदि को भी प्रजा का सुख बढ़ाना चाहिये ऐसा उपदेश दिया है। परन्तु हमने यह सम्पूर्ण मन्त्र सविता सर्व प्रेरक परमात्मा पर ही घटाया है। चतुर्थ मन्त्र में सविता पद से 'सूर्योवावायुर्वा' अर्थात् सूर्य अथवा वायु ये अर्थ ग्रहण किए हैं: गो० पू० १-३३ में भी वायुरेव सविता, वायु को भी सविता माना गया है। इस प्रकार पुरानी आर्ष प्रणाली के अनुकूल ही महर्षि दयानन्द ने सविता का वायु अर्थ किया है। भावार्थ में वह लिखते हैं ":जैसे सूर्य आदि की उत्पत्ति का निमित्त सूर्य आदि लोक का धारण करने वाला बलवान सब लोकों और आकर्षण रूपी बल को धारण करता हुआ वायु विचरता है। और जैसे सूर्य लोक अपने समीप स्थलों को धारण और सब रूप विषय को प्रकट करता हुआ बल व आकर्षण शक्ति से सबको धारण करता है।" पांचवे मन्त्र के भावार्थ में वह लिखते हैं कि "हे मनुष्यों! तुम जैसे सूर्यलोक के प्रकाश व आकर्षण आदि गुण सब जगत को धारण पूर्वक यथा योग्य प्रकट करते हैं। और जो सूर्य के समीप लोक हैं वे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और जो अनादि रूप प्रजा है उसका भी वायु धारणकर्त्ता है। इस प्रकार होने से सब लोक अपनी-अपनी परिधि में स्थित होते हैं।" इससे आगे छठे मन्त्र के शीर्षक में लिखा है कि 'पुनरपि वायु सूर्ययोर्गुणा उच्यन्ते, अर्थात् पुनः इस मंत्र द्वारा वायु तथा सूर्य के गुण बताए जाते हैं। यह प्रतिज्ञा कर मंत्र के पदार्थ तथा भावार्थ में उन्होंने कई बातों की ओर संकेत किया है जिस पर आर्य विद्वानों को विचार करना चाहिये। हम यहाँ दिग्दर्शन के तौर पर भावार्थ उद्धृत करते हैं "इस मंत्र में उपमालंकार है जिस ईश्वर ने अग्नि रूप धारण से सूर्य, अग्नि और बिजली रूप तीन प्रकार की दीप्ति रची है जिनके द्वारा सब कार्य सिद्ध होते हैं। जब कोई ऐसा पूछे कि जीव अपने शरीरों को छोड़ के जिस यम के स्थान को प्राप्त होते है वह कौन है तब उत्तर देने वाला अन्तरिक्ष में रहने वाले वायु को प्राप्त होते हैं ऐसा कहे, जैसे युद्ध में रथ भृत्य आदि सेना के अंगों में स्थित होते हैं वैसे मरे और जीते हुए जीव वायु के अवलम्ब से स्थित होते हैं। पृथ्वी, चन्द्रमा और नक्षत्र आदि लोक सूर्य प्रकाश के आश्रय से स्थित होते हैं। जो विद्वान हो वही प्रश्नों के उत्तर कह सकता है। मूर्ख नहीं इसलिये मनुष्यों को मूर्ख अर्थात् अनाप्तों के कहने में विश्वास और विद्वानों के कथन में अश्रद्धा कभी न करनी चाहिये।" इस मंत्र में पठित 'विराषाट्' पद भी विशेष रूप से विचारणीय है। स्वामी जी ने इसकी

व्युत्पत्ति यह दी है 'वीरान् ज्ञानवतः प्राप्तिशीलान् जीवान् सहते सः, अत्र वर्ण व्यत्ययेन दीर्घेकारस्य स्थाने ह्रस्वेकारोऽकार स्थान आकारस्य, छन्दसि सहः, पा० ३-२-६३ इतिण्विः सहे साढः स० पा० ८-३-५६ इति षत्वम् ।" अगले सातवें मंत्र में पृथ्वी भ्रमण से दिन और रात्रि की उत्पत्ति को दर्शाया है। सामान्यजन इस तथ्य को एक प्रकार से नहीं जानते हैं। ८वें मंत्र के भावार्थ में वे लिखते हैं 'जैसे यह सूर्य लोक सब वर्तमान पदार्थों का प्रकाश छेदन वायु द्वारा अन्तरिक्ष में प्राप्त और वहाँ से नीचे गेरकर सब रमणीय सुखों को जीवों के लिये उत्पन्नकर्त्ता और पृथ्वी में स्थित उनचाश कोश पर्यन्त अन्तरिक्ष में स्थूल सूक्ष्म, लघु और गुरु रूप से स्थित हुए जलों को अर्थात् जिनका सप्त सिन्धु नाम है, आकर्षण शक्ति से धारण करता है। वैसे सब विद्वान लोग विद्या और धर्म से सब प्रजा को धारण करके सबको आनन्द में रखें।' स्वामी जी ने इस मंत्र में सप्त सिन्धु की स्थिति आकाश में मानी है। दसवें मंत्र में सविता से वायु का ग्रहण किया है यह वायु अपने आकर्षण आदि बलों से सब पदार्थों को व्यवस्था में रखता है। स्वामी जी सदा यह ध्यान रखते हैं। कि मंत्र में प्रतिपादित शुद्ध वैज्ञानिक विषय भी मनुष्य को धर्म मार्ग में प्रेरित करने वाले किस प्रकार हो सकते हैं, वैसा वे भावार्थ में लिख देते हैं। ग्यारहवें मन्त्र में लोक लोकान्तरों को भ्रमण करने के लिए परमातमा ने रेणु रहित मार्ग का निर्माण किया ऐसा दर्शाया है। ऋग्वेद ४।५३।१ में सविता को वृष्टि उत्पन्न करने वाला बतलाया है। भावार्थ में लिखा है कि "जो विद्वान् जन मेघ और सूर्य के सम्बन्ध की विद्या को जानते हैं वे दिन और रात्रियों में बडे कार्य को सिद्ध करके आनन्दित होते हैं।"

द्वितीय मन्त्र में कविः=क्रान्त दर्शनः=तेज युक्त दर्शन वाला, विचक्षण= अनेक प्रकार के पदार्थों का प्रकाश करने वाला सम्पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त करने वाला वा समर्थ ऐश्वर्यों को देने वाला तथा बहुत प्रशंसा के योग्य ऐसा अर्थ किया है।

तृतीय मन्त्र में सविता से परमेश्वर का ग्रहण किया है जो कि वेदवाणी तथा धर्म का प्रचार व प्रसार करता है। इसी सूक्त के ५ वें मन्त्र में तीन-तीन पदार्थो आदि का परिगणन किया है वे क्या हैं यह वैज्ञानिकों को निर्णय करना चाहिये। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द क्या लिखते हैं वह हम हिन्दी भाष्य से यहां उद्धृत करते हैं "हे मनुष्यों! जो सब स्थानों में वर्तमान और सबके ऊपर विराजमान सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर महिमा और आत्मा से भीतर नहीं नाश होने वाले आकाश को (अन्तरिक्षं) तीन बार व्याप्त होता है, तीन प्रकार के उत्तम मध्यम, निकृष्ट लोकों को व्याप्त होता है, तीन प्रकार के बिजली, भौतिक और सूर्य रूप ज्योतियों को व्याप्त होता, तीन प्रकार के प्रकाशों और तीन प्रकार की भूमियों को व्याप्त होता और तीन नियमों (व्रत ही) से हम लोगों की सब ओर से रक्षा करता है। वही सर्वदा सेवा करने योग्य है।" स्वामी जी का यह हिन्दी भाष्य कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट सा है, परन्तु वैज्ञानिक तथ्यों की ओर उन्होने संकेत कर दिया है। छठे मन्त्र में वह सविता भगवान स्थाबर व जंगम प्राणि मात्र का

निर्माता तथा रक्षक है। वह हमें निवास के लिए 'त्रिवरूथम्' तीन घर जिसमें हों, उस उत्तम प्रकार सुख देने वाले स्थान को देवे, त्रिवरूथम्, क्या है यह विचारणीय है। आगे ४-५४ सूक्त में स्वामी दयानन्द ने सविता पद से जगदीश्वर का ग्रहण कर उसकी उपासना का विधान किया है। इससे पूर्व के सूक्त (४–५३) में तथा अन्य स्थलों में सविता से सूर्य वायु अदि देव शक्तियों का ग्रहण कर वैज्ञानिक अर्थ प्रदर्शित किए थे। वे लिखते हैं—"नष्ट उनका भाग्य जो सम्पूर्ण ऐश्वर्य और यश के देने वाले वन्दना करने योग्य तथा स्तुति उपासना और उपदेश करने योग्य परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना करते हैं, (४–५४–१) इस मन्त्र के भावार्थ से यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द केवल परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करने का विधानकरते हैं अन्य किसी देवी देवता की नहीं। आगे वे लिखते हैं कि "हे मनुष्यों जो परमात्मा सत्याचरण में प्रेरणा करता और मुक्ति सुख को देकर सबको आनन्दित करता है उसी की सदा उपासना करो। (ऋग्वेद ४–५४–२)।

मनुष्य सविता भगवान से प्रार्थना करता है कि "यदि हमने अपने अज्ञान से किसी विद्वान्, दुर्बल व देव पुरुष का अपराध कर दिया है तो आप हमें क्षमा करें और निरपराध बनने की प्रेरणा देते रहें।' स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज के दस नियमों में एक नियम यह भी बनाया है कि 'वेद सर्व सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना और पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। इसकी पुष्टि उन्होंने अपने वेद भाष्य में अनेक स्थलों पर मंत्रों द्वारा की है। ऋग्वेद ४-५४-४ के भावार्थ में वे लिखते हैं, "हे विद्वानों जो ब्रह्म सब जगत को धारण करता और सूर्य और वायु से धारण कराता है वेद के द्वारा सब सत्य का प्रकाश कराता है उसी की हम लोग उपासना करें।"

—:o:—

सावित्रहोम (योगाभ्यास) मन्त्रों की स्वामी दयानन्द कृत विचारधारा—

शतपथ ब्राह्मण के आधार पर सावित्रहोम=(योगाभ्यास) मन्त्रों की व्याख्या पूर्व में प्रदर्शित की जा चुकी है । अब स्वामी दयानन्द कृत व्याख्या भी संक्षेप में दर्शाते है । यजु वेंद के ११ वें अध्याय के प्रथम आठ मन्त्र सावित्रहोम संज्ञा से शास्त्रों में अभिहित हुए हैं । इन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए महर्षि-दयानन्द ने लिखा है "अब ग्यारहवें अध्याय का आरम्भ किया जाता है । इसके प्रथम मन्त्र में योगाभ्यास और सूर्य विद्या का उपदेश किया जाता है ।" सावित्रहोम मन्त्रों की व्याख्या मे हमने केवल योगाभ्यास में ही इन मन्त्रों की व्याख्या की है । परन्तु स्वामी सूर्य विद्या की ओर भी संकेत करते हैं । प्रथम मन्त्र के युञ्जानः, पद की व्याख्या में वे लिखते है 'योगाभ्यासं भूगर्भविद्यां च कुर्वाणः" अर्थात् योगाभ्यास तथा भूगर्भ विद्या में युक्त करता हुआ । किनका ? मननात्मिकान्तः करण वृत्तियों को और धारणारूप अन्तः हृदय की वृत्तियों को । और अग्नेः पदका अर्थ किया है पृथ्वी आदि में रहने वाली बिजली । अब प्रश्न पैदा होता है कि योगाभ्यास और भूगर्भविद्या ये दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं या ये परस्पर सहायक है । स्वामीजी भावार्थ में लिखते है "जो पुरुष योगाभ्यास और भूगर्भविद्या किया चाहे वह यम आदि योग के अङ्ग और क्रिया कौशलों से अपने हृदय को शुद्ध करके तत्वों को जानने के लिये बुद्धि को प्राप्त करके और इनको गुण कर्म तथा स्वभाव से जानके उपयोगले वे । फिर जो प्रकाश मान सूर्यादि पदार्थ है उनका भी प्रकाशक ईश्वर है उसको जान और अपनी आत्मा में निश्चय करके अपने और दूसरों के सब प्रयोजनों को सिद्ध करे" इस उदाहरण से हम यही समझते हैं कि स्वामीजी के मत में योगाभ्यास द्वारा सर्व-प्रथम भूगर्भ तथा द्युस्थित सूर्यादि लोकालोकान्तरों का ज्ञान होता है तत् पश्चात् परमात्मा का और इसके लिये पातञ्जलयोगदर्शन के अष्टांगों का अवलम्बन करने का विधान करते हैं ।

द्वितीय मंत्र के भावार्थ में लिखते हैं कि "जो मनुष्य परमेश्वर की इस सृष्टि में समाहित हुए योगाभ्यास और तत्व विद्या को यथा शक्ति सेवन करें उनमें सुन्दर आत्मज्ञान के प्रकाश से युक्त हुए योग और पदार्थ विद्या का अभ्यास करें तो अवश्य ही सिद्धियों को प्राप्त हो जायें" इससे स्वामी दयानन्द का यह मत प्रतीत होता है कि सिद्धियों की उपलब्धि के लिये योग तथा विज्ञान (science) दोनों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है । हमारे प्राचीन ऋषि मुनि दोनों का ज्ञान रखते थे । भारद्वाज मुनि जहाँ अध्यात्म के उच्च शिखर पर आसीन थे वहां पदार्थ विद्या में भी सर्वश्रेष्ठ थे । भारद्वाज मुनि कृत विमान शास्त्र, स्वामी ब्रह्ममुनि प्रकाशित इस तथ्य का एक जाज्वल्यमान प्रमाण है । ईशोपनिषद् के मन्त्र भी इसी तथ्य की और निर्देश करते हैं । यजु ४०/११-१४ मन्त्रों में विस्तार से दर्शाया गया है । हम यहाँ अन्तिम १४ वे मन्त्र का स्वामी कृत भावार्थ दर्शाते है वे लिखते हैं "जो मनुष्य विद्या और अविद्या को स्वरूप से जानकर इनके जड़ चेतन साधक है ऐसा

निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ ही प्रयोग करते हैं वे लौकिक दुःख को छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं जो जड़ प्रकृति आदि कारण व शरीरादि कार्य न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म उपासना और ज्ञान के करने को कैसे समर्थ हों। इससे न केवल जड़ न केवल चेतन से अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता है।"

इससे यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द के मत में पूर्णता प्राप्त करने के लिये असम्भूति-सम्भूति, विद्या-अविद्या जड़-चेतन, ज्ञान-कर्म दोनों साथ-साथ चलने चाहिये। इसी दृष्टि से सावित्रहोम मन्त्रों में केवल योगाभ्यास ही नहीं है साथ में भूगर्भ विद्या आदि विज्ञान (science) का भी समावेश है। यजुर्वेद भाष्य के प्रारम्भ में उन्होने लिखा है कि" यावत् क्रियानिष्ठं ज्ञानं न भवति नैव तावच्छेष्ठ सुखं कदाचिज्जायते "...यद् यत् कर्म विज्ञान निमितं भवति तत्तत् सुख जनकं सम्प द्यते तस्मान्मनुष्यैं विज्ञान पुरः सरमेव कर्मानुष्ठानं नित्यं कर्तव्यम् "यजु भाष्य भूमिका

तृतीय मन्त्र में सविता पद से "योग के पदार्थों के ज्ञान का करने हारा जन" अर्थ किया है अर्थात् केवल योगाभ्यास नहीं साथ में पदार्थ विद्या का भी ज्ञान मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। इस तृतीय मन्त्र की स्वामीकृत व्याख्या सावित्र होम मन्त्रो की व्याख्या से कुछ भिन्न है यथा—"जिनको (सविता) योग के पदार्थों के ज्ञान के करने हारा जन परमात्मा में मन को युक्त करके बुद्धि से विद्या के प्रकाश को, सुख को प्राप्त कराने वाले बड़े विज्ञान को करेंगें जो उन दिव्य गुणों को उत्पन्न करे उनको अन्य भी उत्पादक जन उत्पन्न करे" यह व्याख्या स्वामीदयानन्द-कृत है। पूर्व व्याख्या में "स्वर्यतः धियादिवं पदों से स्वर्ग अर्थात् बुद्धि द्वारा द्युलोक की ओर गमन करने का निर्देश किया गया था। ४१ मन्त्र की व्याख्या भी अन्य प्रकार से की है इस सम्बन्ध में यहां अन्वय दर्शाते है" ये होत्रा विप्रा यस्य बृहतो विपश्चित इव वर्तमानस्य विप्रस्य सकाशात् प्राप्त विद्याः सन्तों या सवितु देंवस्य जगदीश्वरस्य मही परिष्टुतिरस्ति तत्र यथा मनो युञ्जत उत धियो युञ्जते तथा वयुनाविवेक इदहं विदधे" इसी मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं "जो नियम से आहार विहार करने हारे जितेन्द्रिय पुरुष एकान्त देश में परमात्मा के साथ अपने आत्मा को युक्त करते है वे तत्व ज्ञान को प्राप्त होकर नित्य ही सुख भोगते हैं" पर ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार होती है? इस सम्बन्ध में पूर्व मन्त्र के भावार्थ में लिखते है "योगाभ्यास के ज्ञान को चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि योग में कुशल विद्वानों का सङ्ग करें। उनके सङ्ग से योग की विधि को जान के ब्रह्मज्ञान का अभ्यास करे। वैसे विद्वान का प्रकाशित किया हुआ धर्म मार्ग सबको सुख से प्राप्त होता है वैसे ही योगाभ्यासियों के सङ्ग से योग विधि सहज में प्राप्त होती है। कोई भी जीवात्मा इस सङ्ग और ब्रह्म ज्ञान के अभ्यास के बिना पवित्र होकर सब सुखों को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये उस योगविधि के साथ ही सब मनुष्य पर ब्रह्म की

की उपासना करें।" सुख उन्ही को मिलता है जो हृदय रूपी अन्तरिक्ष में अभि व्याप्त उस सविता देव की उपासना करते है छटे मन्त्र का सार यही है। कोई प्रश्न कर सकता है कि परमेश्वर की उपासना व प्रार्थना हम क्यों करे ? इस सम्बन्ध में मंत्र का अर्थ लिखते हुए वे कहते है कि "हे सत्य योग विद्या से उपासना के योग्य शुद्धज्ञान देने और सब सिद्धियों को उत्पन्न करने हारे परमेश्वर आप हमारे सम्पूर्ण ऐश्वर्य के लिये सुखों को प्राप्त कराने हारे व्यवहार को उत्पन्न कीजिये" भावार्थ में लिखते है कि "जो पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त शुद्ध निर्मल ब्रह्म की उपासना और योग विद्या की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं वे सब ऐश्वर्य को प्राप्त अपने आत्मा को शुद्ध और योग विद्या को सिद्ध कर सकते हैं। जो ईश्वर की वाणी के तुल्य अपनी वाणी को शुद्ध करते हैं वे सत्यवादी हैं। के सब क्रियाओं के फलों को प्राप्त होते हैं।" अन्त में ८ वे मन्त्र में अन्तर्यामी रूप से प्रेरणा देने वाले सविता भगवान से दिव्यता प्राप्ति तथा देवों की रक्षा, श्रेष्ठ मित्रों की प्राप्ति, सत्य की विजय, धन की उपलब्धि तथा उससे सुख वृद्धि आदि की प्रार्थना की गई है।

इस प्रकार महर्षि ने इन सावित्रहोम सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या अध्यात्म और विज्ञान इन दोनो क्षेत्रों में की है। अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान, विद्या अविद्या ज्ञान कर्म आदि दोनों को अवश्य प्राप्त करना चाहिये और सविता भगवान की कृपा से ये दोनों ही प्राप्त किये जा सकते है। महर्षि दयानन्द की दृष्टि से सावित्रहोम मन्त्रों की केवल यौगिक व्याख्या एकांगी है। उनके अर्थ इतने व्यापक है कि संसार का कोई भी क्षेत्र हो वह उनमें समाविष्ट हो गया है।

श्री अरविन्द—

श्री अरविन्द के मत में सूर्य और सविता एक ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि सूर्य ज्योति और द्रष्टा है तो सविता स्रष्टा है "सूर्य शब्द का अर्थ है ज्ञान प्रदीप्त या ज्योतिर्मय जैसे की ज्ञास प्राप्त मनीषी को भी सूर्य कहा जाता है। परन्तु साथहीइस शब्द की धातु का अभिप्राय है सर्जन करना या अधिक शाब्दिक अर्थ करना हो तो ढीला छोड़ देना, विनिर्मुक्त करना, वेग प्रदान करना क्योंकि भारतीय विचार में सृष्टि रचना का अर्थ हैं पीछे की और रोक रक्खी हुई वस्तु को ढीला छोड़कर सामने ले आना, अनन्त सत्ता में जो कुछ छिपा है उसकी अभिव्यक्ति करना ज्योति र्मय दृष्टि (सूर्य) और ज्योतिर्मय सृष्टि (सविता) ये सूर्य के दो कार्य है। वह स्रष्टा सूर्य (सविता) है और है सत्य प्रकाशक चक्षु सर्वद्रष्टा सूर्य।"

अदिति माता—

सूर्य और सविता देव की माता अदिति है यह शास्त्रों में अत्यन्त स्पष्ट रूप में दर्शाया गया है। अदिति का स्वरूप क्या है इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द लिखते है "अनन्त एवं अखण्ड चेतना देवों की माता है। अदिति मूलत: एकमेव तथा स्वत: प्रकाशमय अनन्त सत्ता की विशुद्ध चेतना है। वह एक ऐसी ज्योति है जो सब वस्तुओं की माता है। अनन्त सत्ता के रूप में वह दक्ष को अर्थात् विवेक और संविभाग करने वाले दिव्य मन के विचार को जन्म देती है, उस वैश्व अनन्त सत्ता अथवा

रहस्यमयीगौ के रूप में जिसके स्तन समस्त लोकों का पोषण करते हैं वह स्वयं दक्ष से उत्पन्न होती है। दिति पृथककारी द्वैधकारी चेतना है उस अदिति की वैश्व सृष्टि का उल्टा पासा परवर्ती गाथा में उस अदिति की बहन और सपत्नी।

मानव की अवचेतना की गुप्त गुफा में प्रच्छन्न सूर्य—

सत्य है सूर्य की ज्योति उसका शरीर। यह सत्य ऋत और बृहत् है। स्वर का ज्योतिऽर्मय अतिमानसिक द्युलोक, बृहत्-स्वर महान सत्य है। जो हमारे द्युलोक और हमारी पृथ्वी के परे छिपा हुआ है। सूर्य है वह सत्य जो अन्धकार में खोया हुआ पड़ा है। और अवचेतन की गुप्त गुफा में हमसे रोककर रक्खा हुआ है। यह छिपा हुआ सत्य बृहत है क्योंकि यह केवल उस अतिमानसिक स्तर पर स्वतन्त्र और व्यक्त रूप में निवास करता है। यह एक ऐसी विशालता है जहाँ न कोई बाधा है और न सीमा का अवरोध। यह है सूर्य के एक देदीप्यमान यूथों की एक भयमुक्त चारागाह। यह है सत्य का धाम और सदन, देवों का अपना ही घर सूर्य लोक, सच्ची ज्योति जहां आत्मा के लिये कोई भय नहीं। मनुष्य तब दिव्य और मानवीय दोनों जन्म धारण करता है। वह दोहरी गति का अधिपति होता है। अदिति और दिति दोनों को एक साथ धारण करता है, व्यष्टि में विश्व भाव को चरितार्थ करता है, सान्त में अनन्त बन जाता है। यही वह विचार है जिनका मूर्तरूप है सूर्य। सूर्य सत्य का प्रकाश है जो दिव्य उषा के बाद मानव चेतना पर उदित होता है।

सूर्य का उदय इन्द्र द्वारा—

"यह इन्द्र ही सत्य ज्योति स्वरूप सूर्य का द्युलोक में उदय कराता है और उससे अन्धकारों और असत्यों को एवं पृथककारी मन की संकुचित दृष्टि को दूर करवाता है।

इसी प्रकार मित्र, वरुण, भग तथा अर्यमा आदि देवता भी उस दिव्य स्वरूप प्रकटन में सहायक होते हैं।

सृष्टा सूर्य (सविता) क्या सर्जन करता है—

श्री अरविन्द के मत में यह स्रष्टा सूर्य क्या-क्या निर्माण करता है यह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

"वह क्या निर्मित करता है? सर्वप्रथम लोक, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त सत् स्वरूप परमेश्वर के जाज्वल्यमान प्रकाश और सत्य में से उत्पन्न हुई है, उस सूर्य के देह में से बाहर निकली है जो उस पुरुष की अनन्त आत्म दृष्टि का प्रकाश है। उस अग्नि से बनी है जो उस आत्म दृष्टि का सर्वदर्शी संकल्प है……तो भी जब इस सृष्टि का प्रश्न होता है तब सूर्य का नाम बिरले ही लिया जाता है…… अपनी क्रियाशील शक्ति में वह अन्य नामों से सम्बोधित किया गया है तब वह सविता होता है……और फिर सविता चार महान् और क्रियाशील देवों मित्र, वरुण, भग और अर्यमा अर्थात् प्रकाशमय सामन्जस्य विशुद्ध विशालता, दिव्य उपभोग उच्च स्थित शक्ति के अधिपतियों के द्वारा अपने आपको प्रकट करता है, विशेषकर

तब जबकि वह मनुष्य में सत्य की रचना करता है। मनुष्य में असत्य, पाप, मृत्यु, दुःख आदि क्यों?—

प्रश्न पैदा होता है कि "सूर्य आत्मा जगत स्तस्थुषश्च" यदि यह सूर्य सकल जगत् का आत्मा है तो यह असत्य, पाप, दुःख आदि कहाँ से आते हैं? इसके समाधान में वेद कहता है कि अदिति माता के आठ पुत्रों में से सात पुत्रों से वह देवों के प्रति गति करती है और आठवें मार्तण्ड को जो मर्त्य सृष्टि से सम्बन्ध रखता है उसे अपने से दूर फेंक देती है।......यह मार्तण्ड या आठवां सूर्य काला या अन्धकारमय खोया एवं छिपा हुआ सूर्य है। असुरों ने इसे लेकर अपनी अन्धकारमय गुफा में छिपा दिया है और देवों और द्रष्टाओं को इसे यज्ञ की शक्ति के द्वारा वहाँ से मुक्त कर तेज गरिमा और स्वतन्त्रता के रूप में प्रकट करना होगा।

......दिव्य ज्ञान स्वरूप सूर्य रात्रि और अन्धकार में छिपा पड़ा है और अप्राप्य है, साधारण मानवीय सत्ता के अज्ञान और भूल भ्रान्ति में आवृत और अर्न्तनिहित है। द्रष्टा अपने विचारों में विद्यमान सत्य की शक्ति से अन्धकार में पड़े हुए इस सूर्य को ढूढं निकालते हैं।

......सूर्य का यह प्रथम पक्ष है कि वह सत्य की परम ज्योति है जो मानव को अज्ञान से मुक्त होने के बाद प्राप्त होती है। "इस अन्धकार से परे उच्चतर ज्योति को देखते हुये हमने उसका अनुसरण किया है और उस उच्चतम ज्योति तक पहुँच गये हैं जो दिव्य सत्ता में दिव्य सूर्य है। ऋ० १।५०।१०

"प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य"

ऋ० १०।३७।३

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदिर्यासि भानुना। ऋ० १०।३७।४

सूर्य की उच्चतर ज्योति वह है जिसके द्वारा अर्न्तदृष्टि हमारे अन्धकारमय स्तर पर उदित होती है और अति चेतन की ओर गति करती है, उच्चतम ज्योति है इस अर्न्तदृष्टि से अन्य वह महत्तर सत्य दृष्टि जो प्राप्त हो जाने पर अनन्त के दूरतम परमलोक में गति करती है।

महिज्योतिर्बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषे-चक्षुषे मयः।
आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रतिपश्येम सूर्य ।।

ऋ० १०।३७।८

हे सूर्य! तू है सर्वदर्शी प्रज्ञा, हम जीवधारी तुझे महान् ज्योति को हमारे पास लाते हुये देखें, साथ ही परमानन्द के दर्शन के बाद दर्शन के लिये हम पर देदीप्यमान होते हुये और अपनी ऊर्ध्वस्थ शक्ति के विशाल पुञ्ज में आनन्द की ओर ऊपर आरोहण करते हुए देखें।

मनुष्य को प्रकाश प्रदान करना और उसकी ऊर्ध्वमुखी यात्रा के द्वारा उसके लिये नया जन्म और नयी सृष्टि तैयार करना ही दिव्य ज्योति तथा द्रष्टा स्वरूप सूर्य का कार्य है।

इस प्रकार श्री अरविन्द ने वेदों के अध्यात्म पक्ष को इतना अधिक उजागर व स्पष्ट किया है कि महान् आश्चर्य होता है। एक प्रकार से पाताललोक में प्रच्छन्न रूप में पड़े वेदों को अध्यात्म के उच्चतम शिखरों पर ला धरा है जहाँ कि सामान्य जन की पहुँच नहीं है। "वेद रहस्य"

सायणाचार्य आदि प्राचीन भाष्यकारों के अनुगामी पाश्चात्य विद्वान— वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण प्रायः सायणाचार्य आदि प्राचीन भाष्यकारों के अनुकूल है और श्रद्धा, उषा, मन्यु, दक्षिणा आदि कुछ अमूर्त्त देवताओं को छोड़कर प्रायः भौतिक देवता तक ही सीमित होता है। अग्नि, इन्द्र, विष्णु और सविता आदि देवता उस परमपिता परमात्मा की ही शक्तियाँ हैं जो अग्नि विद्युत सूर्य तथा वायु आदि के रूप में संसार की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलयादि की नियामिका है। ये देव शक्तियाँ जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में कार्यरत हैं उसी प्रकार अपने अंशावतार रूप में पिण्ड में आत्मा के जीवन-निर्वाह की साधिका हैं। प्रायः मन्त्र आधि भौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक इन तीनों क्षेत्रों में घटते हैं इत्यादि परम्परा प्राप्त आर्ष दृष्टिकोण को वे नहीं मानते हैं। सविता भगवान की प्रेरक शक्ति अथवा प्रसवात्मिका शक्ति अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा अध्यात्म में मन प्राण तथा तद्धर्मा विद्वान राजा आदि में अवतरित हो सवितृ शब्द से अभिहित होती हैं। वह शक्ति अमुक-अमुक क्षेत्र में कैसे और क्या कार्य करती हैं इत्यादि बातों का एक सिलसिलेवार समन्वयात्मक चित्र पाश्चात्य विद्वानों के लेखों से सामने नहीं आ पाता। मन्त्रों में 'परोक्षप्रियाः हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः,' इत्यादि कथनों के आधार पर अलंकार गर्भित रहस्यों का स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया। उदाहरणार्थ—मैक्डानल कृत 'Vedic Mytholgy से सविता के सम्बन्ध में कुछ सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। मैक्डानल ने मन्त्रों के आधार पर सविता का स्वरूप व उसके कार्यों का निर्देश तो कर दिया है पर उनमें क्या रहस्य निहित है यह नहीं स्पष्ट किया। यथा "सविता प्रमुखतः एक स्वर्ण देव है और इसके प्रायः सभी अवयवों तथा उपकरणों का इसी विशेषण के साथ वर्णन किया गया है। यह स्वर्ण-नेत्र है। (ऋ० १।२२।६०)। स्वर्ण हस्त है—ऋ० १।३५।६।,१०। स्वर्ण-जिह्वा वाला है—ऋ० ६।७१।३। इस प्रकार की सभी उपाधियाँ उन्हीं की विशेषतायें हैं। इनकी भुजायें स्वर्णिम हैं—ऋ० ६।७१।३।,५। यह विस्तृत हाथों वाले ऋ० २।३८।२ अथवा सुन्दर हाथों वाले हैं— ऋ० ३।३६।६ यह आनन्द दायक तथा सुन्दर जिह्वा वाले ऋ० ३।५४।,७१।४ भी हैं। इन्हें एक बार लोहे जबड़ों वाला कहा गया है। ऋ० ६।७१।४ यह पीले केशों वाले हैं—ऋ० १०।१३६।१ हैं, जो अग्नि तथा इन्द्र का भी गुण है। यह पिषङ्गवेशधारी हैं—ऋ० ४।५३।२। इनके पास एक स्वर्ण स्तम्भ वाला सोने का रथ है। ऋ० १।३५।२।३ और इसी प्रकार वह सर्वरूप है ऋ० १।३५।३। जिस प्रकार यह स्वयं सभी रूप धारण करने वाले हैं। ऋ० ५।८१।२। इनका रथ दो प्रकाश मान अश्वों अथवा दो या अधिक श्वेत पाद भूरे अश्वों द्वारा

खींचा जाता है। "ऋ० १।३५।२,५, ।७।४५।" Vedic Mythology अनुदित रामकुमार राय।

इस प्रकार मैंक्डानल ने मन्त्रों के आधार पर सविता का एक सामान्य रूप प्रस्तुत किया है। हिरण्यरूप वाला वह सविता कौन हो सकता है उसके स्वर्णीय आभा वाले अङ्ग प्रत्यङ्ग क्यों हैं इत्यादि बातों का कल्पना प्रस्तुत कोई विचार हमारे समक्ष नहीं रक्खा। कई मन्त्रों में सविता और सूर्य को एक ही माना है पर कई मन्त्रों में इन्हें पृथक भी माना गया है। इसका क्या समाधान हो सकता है यह उसमें नहीं दिखाया गया है। हमारे मत में आदित्यमण्डल में रहने वाला पुरुष सविता माना गया है। यथा – योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् अर्थात् आदित्यमण्डल में जो पुरुष है वह मैं हूँ और मेरा नाम सविता है। इस प्रकार हम विचारकों के मत में उपर्युक्त समस्या का समाधान हो जाता है। सृष्टि में प्रारम्भिक अवस्था को दृष्टि में रखकर यदि हम इसकी व्याख्या करें तो कह सकते हैं कि आदि सृष्टि में जो हिरण्य गर्भ अर्थात् हिरण्यमय अण्डे की उत्पत्ति हुई, यथा मनु महाराज ने कहा ',तदण्डमभवद्धैम सुवर्ण समप्रभम्। अर्थात् स्वर्ण की आभा लिये हुए अण्डा कार रूप में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई। वही सूक्ष्म हिरण्यमय शक्ति इस स्थूल जगत् का नियन्त्रण व नियमन कर रही है। जो व्यक्ति गायत्री जप व अन्य साधन से अपने अन्दर विद्यमान सवितृ शक्ति को उद्बुद्ध कर लेता है। तो उसके सब कार्य सविता भगवान् के हिरण्यमय अङ्गों से होने लगते हैं। जहाँ तक सविता के हिरण्यमय हाथ जाते हैं। आँखें भी ब्रह्माण्ड के परे के छोर को देख लेती हैं। इस प्रकार दिव्य शक्तियाँ उस व्यक्ति में उद्बुद्ध हो जाती हैं। यह भी एक समाधान हो सकता है। पर मैंक्डानल कृत विवेचन से हमें कोई समाधान नहीं मिल सकता है।

उन्हीं के शब्दों में एक समाप्ति इस प्रकार है—We may therefore conclude that savitri was originally an epithet of indian origin applied to the sun (सूर्यः) as the great stimulator of life and motian in the world representing the most inportant movement which dominates all others in the universe. But that as differentiated from surya. He is a more abstract deity he is in the eyes of the vedic poets the devine power of the sun personified while surya is the more concrete deity in the conception of whome the out word form of the sun body is never absent owing to the identity of his name with that of the orb. (cp/35[1] 124)

इस उपर्युक्त सन्दर्भ में यदि इतना और जोड़ दिया जाता कि विश्व की समग्र गतियों व प्रेरणाओं के आदि स्रोत भगवान हैं उन्हीं की प्रेरणा शक्ति सूर्य के माध्यम से प्रगट हो रही है तो यह वैदिक रहस्य व उसके मन्तव्य के अधिक सन्निकट होता। सविता शब्द के व्युत्पत्तिजन्य अर्थों के सम्बन्ध में जो उद्गार प्रकट किए हैं

वह इस प्रकार है इस धातु में प्रेरित करने उद्दीप्त करने जाग्रत करने और ऐश्वर्य प्रदान करने आदि के आशय निहित हैं। इस विशेष प्रयोग को व्यक्त करने के लिये यहां कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। सविता देव ने सभी गतिशील वस्तुओं को जागृत किया (प्रासावीत् ऋ० १।१५७।१) केवल तुम्हीं प्रेरणा के अधिपति हो। ऋ० ५।८१।५। सविता ने वह अमरत्व तुम्हें प्रदान किया। ऋ० १।११०।३।

हे सविता देव! तुम हमें पाप रहित बनाओ। ऋ० ५।५४।३। इसी प्रकार 'आसुव', 'परासुव', 'अपसाविषत, इत्यादि प्रयोग द्रष्टव्य हैं। परन्तु मैक्डानल की यह उक्ति कि सवितृ शब्द में सर्वथा भारतीय निर्माण के सभी लक्षण वर्तमान हैं। उनके वेदों के निर्माण सम्बन्धी पाश्चात्यं मत की ही अभिव्यक्ति है। भारतीय आर्य परम्परा इसके विपरीत हैं क्योंकि वह वेदों को ईश्वर कृत मानती है।

—:०:—

षष्ठ—अध्याय

सूर्य

(प्रकाश व ज्ञान का देवता)

सविता देवता के सम्बन्ध में लिखते हुए हम यह दर्शा चुके हैं कि सविता और सूर्य का अटूट सम्बन्ध है। जिस प्रकार पुरुष में आत्मा तथा शरीर का सम्बन्ध है उसी प्रकार सविता और सूर्य में है। सविता आत्मा है तो सूर्य उसका शरीर है। सविता आद्य सृष्टि के हिरण्यगर्भ महदण्ड, अनन्त सूर्य मण्डलों, पिण्ड में मन व प्राण आदि सभी का प्रेरक आत्मा है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि सूर्य नाम से सविता और सूर्य दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। शरीर शरीरी की भांति दोनों में अभिन्नता है इस तथ्य को प्राचीन शास्त्रकार तथा आधुनिक विद्वान् प्रायः स्वीकार करते हैं। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सविता, विष्णु, बृहस्पति, भग तथा यम आदि देवता सूर्य के ही भिन्न-भिन्न कालों में होने वाले नाम हैं। और दूसरे चारों वेद इस सौर मण्डल से सम्बन्ध रखते हैं। अतः प्रायः सब प्रमुख देवताओं का वर्णन सूर्य का ही वर्णन है ऐसा हमें समझना चाहिये। सभी मन्त्रों के वर्णन प्रसङ्ग में कहीं साक्षात् तथा कहीं परम्परा से सूर्य का सम्बन्ध देखा जा सकता है। अतः हमारे विचार में सविता देवता सम्बन्धी मन्त्रों में सूर्य की शक्तियों व उसके गुण कर्मों का वर्णन है ऐसा कहा जा सकता है। इस दृष्टि से हम सूर्य पद से वर्णित मन्त्रों के आधार पर कुछ संक्षिप्त सी टिप्पणी देकर सूर्य सम्बन्धी कुछ मन्त्रों के अर्थों पर विचार करते हैं।

सूर्य पद की निष्पत्ति—

निरुक्त. १२।२।१४ में आता है कि "सूर्यः सर्तेर्वा सुवते र्वा स्वीर्यते र्वा "सृ गतौ (भ्वादि०), षु प्रेरणे (तुदादि०), सु + ईर् गतौ कम्पने च (अदादि०) इन धातुओं से "राजसूय सूर्य०" अष्टा. ३।१।११४ क्यप् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। सृ धातु को ऊत्व, सू धातु को रुट् का आगम तथा सु + ईर् में ईकार को पूर्ववर्ण दीर्घ ऊकार निपातन से होता है। सरकना, चलना, प्राणिमात्र को कार्यों के प्रति प्रेरित करना तथा उसमें गति व कम्पन का होना आदि क्रियायें सूर्य में होती है। 'स्वीर्यते' इस कर्म प्रयोग से यह भी ध्वनित होता है कि सूर्य में यह गति व कम्पन किसी महान् शक्ति द्वारा पैदा की जाती है। वह महान् शक्ति सविता भगवान् ही है। जैसे समग्र ब्रह्माण्ड का आत्मा भगवान् है पर उसके एक भाग के लिये भी यह प्रयोग किया जा

सकता है। यथा—"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।" ऋ. १।११५।१। अर्थात् यह सूर्य अपने सौर मण्डल में जंगम तथा स्थावर प्राणियों का आत्मा है।

सूर्य की उत्पत्ति—

संसार का निर्माण, स्थिति आदि करने वाली भागवत शक्तियां देव व आदित्य कही जाती हैं। इनकी निर्मात्री शक्ति का नाम अदिति है। इन देवों में सूर्य भी आदित्य अर्थात् अदिति माता का पुत्र कहलाता है। "अष्टौ पुत्रासो अदिते र्ये जातास्तन्वः परि।" ऋ. १०।७२।८ अदिति माता के आठ पुत्र हैं उनमें सूर्य भी है। निरु० ४।४।४९ में आता है कि "अदिति दीना देवमाता" अर्थात् यह अदिति अदीन खण्डरहित है और देवों की माता है। (न+दिति=दो अवखण्डने) इसका तात्पर्य यह है कि प्रलयानन्तर सृष्टि के प्रारम्भ में खण्ड रूप में विद्यमान इन सूर्य चन्द्रमा आदि देवों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं थी। ये अखण्ड रूप में विद्यमान अदिति माता के गर्भ में स्थित थे। सायणाचार्य ने ऋ. १।१९४।१५ में लिखा है—'अदितेऽखण्डनीयाग्ने।'

इस प्रकार एक अखण्डनीय, देवों की प्रकृतिभूत मातृरूप अग्नि से खण्ड रूप में यह अग्नि का गोला सूर्य उत्पन्न हुआ। यह सूर्य 'दिवस्पुत्र' ऋ. १०।३७।१ भी कहा जाता है क्योंकि यह द्युलोक के गर्भ में पैदा हुआ है। इसी मन्त्र में इसे देवजात भी कहा है अर्थात् देवों में उत्पन्न देवों से उत्पन्न या देवत्व के प्रसार के लिये उत्पन्न हुआ है। सृष्टि निर्माण के समय प्रारम्भ में सुवर्णीय आभा युक्त एक महदण्ड उत्पन्न होकर सहस्र संवत्सर पर्यन्त आकाश में तैरता रहा। इसी प्रकार इस महदण्ड से सूर्य चन्द्रमा आदि अनन्त छोटे-छोटे पिण्ड पृथक् हो अन्तरिक्ष रूपी समुद्र में तैरते रहे। यह सूर्य इसी समुद्र में से ऊपर निकला, मन्त्र में कहा है—

> यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
> अत्रा समुद्र आ गूढमा सूर्यमजभर्तन॥ ऋ. १०।७२।७

संसार का नियन्त्रण व नियमन करने वाली देव शक्तियों ने जिस प्रकार भुवनों को जलादि द्वारा सिञ्चित किया, उसी सिलसिले में अन्तरिक्ष रूपी समुद्र में गूढ अर्थात् प्रच्छन्न रूप में निहित सूर्य को ऊपर उठा धारण किया।

उपर्युक्त मन्त्र के आशय को निम्न मन्त्र भी परिपुष्ट करता है यथा—"यदेदेनमदधु र्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम्" ऋ. १०।८८।११ अर्थात् सृष्टि यज्ञ रचने वाली देवशक्तियों ने इस अदिति के पुत्र सूर्य को द्युलोक में थाम रक्खा है। कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् ने समग्र संसार को थाम रक्खा है। उसी का आकर्षण बल सृष्टि यज्ञ के रचने वाले देवों में संक्रान्त हुआ है और वही आकर्षण बल सूर्य में भी संक्रान्त हुआ है। जिस आकर्षण बल से यह सूर्य पृथिवी आदि ग्रहों,

उपग्रहों को थामे हुए हैं। जिस अग्नि तत्व से यह सूर्य उत्पन्न हुआ है उसे वैश्वानर अग्नि कहते हैं। इस वैश्वानर अग्नि का विस्तार पृथिवी से लेकर द्युलोक तक है। एक मन्त्र है—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसीविबबाधे अग्निः। अथर्व ८।९।६

अर्थात् वैश्वानर अग्नि की प्रतिमा ऊपर द्युलोक तक है इस वैश्वानर अग्नि ने द्यावा पृथिवी को बाँधा हुआ है। इस वैश्वानर की तीन प्रतिमायें हैं, वे हैं—१—पार्थिवाग्नि, २—विद्युत्, ३—सूर्याग्नि। एक मन्त्र है—

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्योजायते प्रातरुद्यान्।

अर्थात् यह वैश्वानर अग्नि रात्रि में पृथिवी का मूर्धास्थानीय होती है और प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य का रूप धारण कर लेती है। अथर्व वेद के एक मन्त्र में वृत्र से भी इसकी उत्पत्ति बतायी गयी हैं। यथा—वृत्राज्जातोदिवाकरः। अथर्व ४।१०।५ जिस प्रकार प्रलयान्धकार से सृष्टि के प्रारम्भ में महदण्ड की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार रात्रि के आवरक अन्धकार से इस सूर्य की उत्पत्ति होती है। यह रात्रि का अन्धकार वृत्र है। वृत्र को सोम मानकर भी इस मन्त्र पद की व्याख्या की जा सकती है। कहा भी है "वृत्रो वै सोम आसीत्" श. प. ३।४।३।१३ ३।९।४।२ अर्थात् यह सोम वृत्र कहलाता है। और यह सोम सूर्य को उत्पन्न करने वाला है। "जनिता सूर्यस्य" ऋ. ९।९६।५। इस सूर्य में सोमधारा निरन्तर पड़ती रहती है जिससे यह सूर्य प्रज्वलित व देदीप्यमान रहता है। यदि इसमें सोम रस न पड़े तो यह सूर्याग्नि शान्त हो जाये। कहा भी है—

"अजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः" ऋ. ९।९७।४४, ९।४४।२२

अर्थात् यह इन्दुसोम सूर्य में ज्योति उत्पन्न करता है। यह सोम उस महान् सूर्य के विश्वव्यापी रथ को वृहत् नामक द्युलोक के पृष्ठ पर आरोहण कर उसे उठाये रखता है। (ऋ. ९।७५।१)। यह सोम सूर्य को द्युलोक में उठाये रहते हैं यह सोम सम्बन्धी कई मन्त्रों में आया है। द्रष्टव्य—ऋ. ९।८६।२२, ९।१०७।७ 'सोम से ऋषि प्रार्थना करता है कि हो सोम! सोम धान सोम कलश में सूर्य रश्मि के समीप क्रन्दन करता हुआ पहुँच" ऋ. ९।९७।३३।

अया पवस्य धारया यया सूर्यमरोचयः ऋ ९।६३।७ हे सोम! तू ऐसी धारा से पवन कर अर्थात् प्रवाहित हो जिससे तूने इस सूर्य को रोचक बनाया था 'यह ऊर्ध्व स्थित अग्नि रूपीसूर्य होता अर्थात् दिव्य प्रकाशमय यज्ञ को करने वाला अपने प्रकाश से देवों इन्द्रियों को यजन के लिये जागृत करता है। यह सूर्य सुमना है मन को शोभन बनाता है यह प्रातः काल उदय होता है इस सुसमिद्ध सूर्य का शुभ रक्षण बल मनुष्यों ने देखा है। वह महान देव मनुष्यों को तम अज्ञान से मुक्त करता है। ऋ. ५।१।२ इस दिव्य प्रकाश के प्रदाता सूर्य देव मित्र और वरुण बाहुओं के समान रक्षक है। मन्त्र आता है।

ता बाहुता न दंसना रथर्यतः साकं सूर्यस्य रश्मिभिः ऋ. ८।१०१।२ मित्र

निर्माण का देवता और वरूण विजातीय तत्वों को पाशमें बांधने वाला ये दोनों सूर्य के जगत् के प्रति प्रयाण करने पर सूर्य रश्मियों के साथ संगत हुए बाहुओं के सदृश सूर्य के पार्श्व रक्षक हैं। इस अवस्था में कोई भी अदेव, अदिव्य असुर राक्षस आदि सूर्य के साथ नहीं रह सकता कहा भी है 'न ते अदेव प्रदिवों निवासते ऋ. १०।३७।३ अर्थात् कोई अदिव्य तत्व हे सूर्यः ! तुझे प्रकृष्ट रूप में देदीप्यमान के पास निवास नहीं कर सकता। यह चक्षु शक्ति का अधिपति दीर्घायुष्य का प्रदाता सबके पाप पुण्यों का अवलोकन करने वाला दृष्टि शक्ति प्रदाता कामला आदि अनेक बीमारियों को दूर करने वाला माना गया है। वेद के ऋषियों ने इस सूर्य के स्वरूप की अनेक प्रकार से कल्पना की है यह मनुष्यों व अन्य प्राणि जगत् के अभीष्ट की सिद्धि करने वाला है अतः वेद कहता है कि मनुष्यों को चाहिये कि इसके प्रति नमन होकर इसकी आराधना किया करें। मन्त्र है—

अग्निं मूर्धानं दिवो अप्रतिष्कुतं तमीमहे नमसावाजिनम् वृहत् ऋ. ३।२।१४ कभी स्खलित न होने वाली द्युलोक की मूर्धास्थानीय यह सूर्याग्नि जो कि बहुत बल शाली है—को हम नमन द्वारा चाहते हैं।

इदं हि नूनमेषां सुम्नं भिक्षेत मर्त्यः।
आदित्यानामपूर्व्यं सवीमनि ।। ऋ. ८।१८।१

इन आदित्यों=सूर्य रश्मियों के प्रकट होने पर अर्थात् प्रातः काल के समय मनुष्य सूर्य से सुख की भिक्षा मांगे जो सुख अपूर्व्य है। किरणों द्वारा मधुर रस देता है।

सप्त स्वसॄररुषी र्वावशानो विद्वान् मध्व उज्जभार दृशेकम्।
अन्तेंयमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत् पूषणस्य।

(विद्वान्) विज्ञानी इस सूर्य ने (अरुषीः) आरोचमान (सप्त स्वसॄः) सतरंगी स्वयं प्रसरण शील किरणों को (वावशानः) चाहता हुआ (कं) सुख पूर्वक (दृशे) सर्व जगत को देखने के लिये (मध्वः) मधुमय किरणों को स्वमध्य मे से (उज्जभार) ऊर्ध्व की ओर उभारा फैलाया (पुराजा) इस ब्रह्माण्ड में व सौर मण्डल में सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ वह सूर्य (अन्तरिक्षे) आकाश में (अन्तर्येमें) उन किरणों का नियमन करता है। और (पूषणस्य) सबका पोषण करने वाली पृथ्वी के (वव्रिं) रूप को (इच्छन्) चाहता हुआ (अविदत) पृथ्वी का आलिङ्गन करता है।

मन्त्र में सूर्य को विद्वान् कहा है विद्वत्ता चेतन का धर्म है। अतः सूर्य को चेतन भगवान् की चक्षु मानकर आदित्य हृदय आदि रूप में सूर्योपासना का प्रचलन हुआ था। ये किरणें उस सूर्य की चक्षु-किरणें हैं जिनके द्वारा वह भगवान् सूर्य जगत् तद्गत प्राणियों को देखता है। उससे कोई भी पाप कर्म छिपा नहीं रहता। सर्वप्रथम वह सूर्य उत्पन्न होता है। उसी से यह पृथ्वी चन्द्रमा ग्रह उपग्रह आदि पृथक हुए हैं। अन्त रिक्ष में वह सब किरणों का नियमन करता है। और पृथ्वी पर उत्पन्न पदार्थों को रूप देना उनका पोषण करना सूर्य का काम है। पर वह पृथ्वी के माध्यम से करता

है। इसी कारण पृथ्वी का पूषण नाम दिया गया है ? 'पूषा पृथ्वी नाम' निघ ७।१।

मनुष्य सूर्य की परिक्रमा कर सकता है—

अहं सूर्यस्य परियाम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा।
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक् कृशे दासं कृत्व्यं हथैः। ऋ. १०।४६।७

(अहं) मैं विज्ञान वेत्ता (आशुभिः) शीघ्रगामी (प्रैतशेभिः) विद्युत् रूप अश्वों से (ओजसा वहमानः) ओज द्वारा वहन किया गया। (सूर्यस्य परियामि) सूर्य के चहुं और परिक्रमा करता हूँ। (मनुषः) मनुष्य की (सावः) ऐश्वर्योत्पादक शक्ति ने (यत् मा आह) जो मुझे बताया है दर्शाया है कि (निर्णिजे) मानव रूप के (ऋधक् कृषे) पृथक करने के लिये (हथैः) हनन साधनों से (दासं कृत्व्यं) उपक्षय के के योग्य शरीरांश को विनष्ट करना चाहिये।

मन्त्र बताता है कि मनुष्य सूर्य की परिक्रमा कर सकता है। पर वह सामान्य यान के द्वारा नहीं आशुगामी ऐतशों=विद्युत यानों द्वारा ही वह इस योग्य होता है कि सूर्य की परिक्रमा कर सके। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इस भौतिक शरीर द्वारा परिक्रमा असम्भव है। उसे अपने अध्यात्म विज्ञान के बल से शारीरिक परमाणुओं को पृथक-२ करना होगा। क्योंकि सामान्य पार्थिव शरीर सूर्य के ताप से भस्म हो जायेगा। अथवा कोई वैज्ञानिक लेप आदि आविष्कृत करना होगा।

गो—सूर्य रश्मियाँ—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे। ऋ. १।८४।१५।

(अत्र) यहां चन्द्र मण्डल में निश्चय से (गोः) सूर्य रश्मि का ही (नाम) नमन हुआ है ऐसा विद्वान् (अमन्वत) मानते हैं। (इत्था) इस प्रकार (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के घर में अर्थात् चन्द्रमण्डल में (त्वष्टुः) सर्वसंसार को तक्षण करने वाले सूर्य का (अपीच्यम्) अन्तर्हित रूप है।

यास्काचार्य ने मन्त्रार्थ में दिया है "अत्रह गोः सममंसतादित्यरश्मयः स्वं नामापीच्यमपचितमपगतमपिहितमन्तर्हितं वामुत्र चन्द्रमसो गृहे।" निघ ४।५४

इसका प्रमुख भाव यह है कि आदित्य रश्मियों ने चन्द्रमा के प्रति जाना स्वीकार किया। सूर्य रश्मियों को 'गो' कहने का भाव यह है कि वे चन्द्रमा के द्वार पर पहुँच कर दुग्ध प्रदान करती है। सूर्य को त्वष्टा कहने का तात्पर्य यह है कि वह रूप प्रदाता है। सूर्य किरणें चन्द्रमा में पहुंच तद् रूप व तद् गुण सम्पन्न हो जाती हैं। शीतलता आदि गुण उनमें पैदा हो जाता है। अपीच्यम् के यास्क ने कई अर्थ दर्शाये हैं। चन्द्रमा में पहुंचना, उसमें व्याप्त हो जाना तथा अन्तर्हित हो जाना ये भाव अपीच्यम् पद के हैं। सूर्य से सूर्य रश्मियाँ चन्द्रमा में गई और उसे दुग्ध प्रदान किया अतः गो कहलायी। चन्द्रमा से प्रतिफलित हो पृथ्वी पर आयी तो फिर गो कहलायी। पृथ्वी पर ओषधि वनस्पति रसों में परिवर्तित हो दुग्ध दात्री बनी अतः यह पृथ्वी गो कहलायी। पृथिवी उसी अवस्था में गौ है जब वह हम पुत्रों को अन्न रस प्रदान करती है।

प्रभात काल में सोने वालों का सूर्य तेजहर लेता है—

आजकल प्राय: नौजवान तथा अन्य व्यक्ति भी रात्रि को देर में सोते हैं और प्रात: काल देर तक सोते हैं। सूर्य अपनी प्रखर किरणों से चमकने लगता है तब भी वे सोते रहते हैं। यह भारतीय संस्कृति व सभ्यता के अत्यन्त विपरीत बातें हैं। यह निशाचरों का व्यवहार है आर्यो का नहीं। वेद कहता है कि देर तक सोने वालों का सूर्य तेज हर लेता है। मन्त्र—

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्त् सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे ।। अथर्व ७।१३।२

जितने भी शत्रुओं की आते हुए मुझ पर दृष्टि पड़े उन सब के तेज को में उसी प्रकार हर लेता हूँ। जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य सोते हुए व्यक्तियों के तेज को हर लेता है।

हे प्यारे आर्य पुत्रों ! सूर्योदय से पूर्व उठ बैठो देखो वेद कहता है "उद्यन् आदित्य: क्रिमीन् हन्ति निम्रोचन् हन्तु रश्मिभि:।"

यह उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियों बीमारियों के कीटाणुओं को नष्ट करता हुआ उदय होता है हमारी यह प्रवल इच्छा है कि अस्ताचल को जाता हुआ भी यह सूर्य क्रिमियों को नष्ट करे। इसी आशय का एक मन्त्र और है—वह है

उत्सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्।
आदित्य: पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा।। अथर्व ६।५२।१।

यह सूर्य द्युलोक से ऊपर उठता हुआ सामने राक्षसों क्रिमियों को नष्ट करता हुआ उदय हो रहा है। देखो यह विश्व का द्रष्टा सूर्य अदृष्ट = आखों से दृष्टि-गोचर नहीं होने वाले सूक्ष्म कीटाणुओं को हनन करता हुआ पर्वत शिखरों पर समारूढ हुआ दिखाई देता है।

मनुष्य सोते जागते चलते फिरते सभी कालों में पाप कर बैठता है। मनुष्य पाप न करे इसके लिये वेदों में अनेकों उपाय बताये हैं। अग्नि इन्द्र वरुण आदि देवों से पाप से बचाने की प्रार्थना मनुष्य करता है वहाँ सूर्य से भी पाप से बचाने की प्रार्थना करता है। मन्त्र है।

"यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एनांसि चकृमावयम्।
सूर्योमातस्मादेनसो विश्वस्मान्मुञ्चत्वंहस: ।। यजु. २०।१६

यदि जागते सोते हम कोई पाप कर बैठें हैं तो सूर्य भगवान् मुझे उस सम्पूर्ण पाप व कुटिलाचरण से मुक्त करे।

मनुष्य प्राय: पाप करते ही हैं यदि अग्नि इन्द्र, सविता सूर्य आदि भागवत शक्तियों से इन पापों से मुक्त होने की प्रार्थना भी न करे तो वह स्वयं तथा मनुष्य समुदाय दुष्ट पापी राक्षस बन जाये। और यह पृथिवी नरक हो जाये। इसलिये मनुष्य को इन भागवत शक्तियों से पाप से दूर होने के लिये प्रार्थना करते रहना चाहिये। अथर्व २।२१ सूक्त में ५ मन्त्र हैं। जिनमें सूर्य की कुछ शक्तियों का परिगणन किया

गया है। वे हैं—तपः हरः अर्चिः शोचिः, तेजः। ये सब शक्तियाँ मनुष्य को अपने अन्दर धारण करनी चाहिये।

सूर्य अग्नि रूप में—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्नि रस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एन जरते स्वाधीः॥ यजु. १२।१८

(अग्निः) यह अग्नि (प्रथमं) सर्वप्रथम (दिवस्परि जज्ञे)। द्युलोक में सूर्य रूप से उत्पन्न हुआ। (द्वितीयं) दूसरे (अस्मत्परि) हमारे निमित्त (जातवेदाः) प्रत्येक पदार्थ में उत्पन्न होता है (तृतीयं) तीसरे (अप्सु) अन्तरिक्षस्थ जलों में विद्युत रूप में विद्यमान होता है ऐसे (एनं) अग्नि को (स्वाधीः) अपनी अन्तरात्मा में जिसने उस को धारण किया हुआ है अर्थात् अन्तर्मुखी तथा (नृमणा) ब्रह्माण्ड के नेतृ रूप शक्तियों में जिसका मन गया हुआ वह स्तोता व योगाभ्यासी (अजस्रं इन्धानः) अपने अन्दर निरन्तर प्रदीप्त करता हुआ (जरते) उस अग्नि की स्तुति करता है?

यह सूर्याग्नि ही पृथिवी में आकर पार्थिवाग्नि का रूप धारण कर पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले समग्र पदार्थों में विद्यमान होता है। इसी दृष्टि से इसे जातवेदा [जातेषु जातेषु पदार्थेषु विद्यते] कहते हैं अन्तरिक्षस्थ जलों में भी विद्युत रूप में चमकने वाली यह अग्नि ही है। पृथिवी पर उत्पन्न पदार्थों का हम भक्षण करते हैं। इससे यह अग्नि हमारे में भी पहुँचती है। इसी कारण हम जीवित हैं। पर जो 'स्वाधीः स्वाधानस्य कर्ता—अर्थात् अपने को अपने अन्दर ही रखता है। यह अन्तर्मुखी व्यक्ति इस अग्नि को अपने मन में निरन्तर प्रदीप्त किया करता है इसमें यह अग्नि मनुष्यों में दिव्य शक्ति के रूप में प्रदीप्त होती है।

नृमणा—नृषु नेतृषु ब्रह्माण्ड नेतृषु देवेषु मनोयस्य सः।

स्वाधी—स्वस्मिन् अन्तरात्मनि आदधाति यः सः यद्वा स्वस्मिन्ध्यानं यस्यसः सुष्ठु ध्यायति परमात्मानम्।

आंखों का अधिपति सूर्य—

वेदों में अनेकों स्थलों पर सूर्य को आंखों का अधिपति माना गया है। अथर्व ५।२४।९ में आता है कि "सूर्यश्चक्षुषा मधिपतिः० "अर्थात् सूर्य आंखों का अधिपति है। अधिपति का तत्पर्य यह है कि वह मनुष्य को दृष्टि प्रदान करता है। और मनुष्यादि-प्राणिजगत् की मृत्यु के समय यह सूर्य आंखों को लेभी लेता है। ऋ. १।१६।३ में कहा है कि 'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु' हे मृत प्राणी! तेरी आंख सूर्य के पास चली जावे।

इस प्रकार प्राणियों को चक्षु शक्ति सूर्य से प्राप्त होती है। प्रश्न यह है कि दृष्टि-शक्ति क्षीण न हो इसका क्या उपाय है? इसका एक उपाय तो ऋ. १०।१५८ सूक्त में बताया गया है। इस सूक्त में ५ मन्त्र है। इन मन्त्रों में सूर्य, वायु तथा अग्नि इन तीनों देवताओं से चक्षु शक्ति मांगी गई है। इन मन्त्रों का अर्थ देते हुए हमने तत्सम्बन्ध में विचार किया ही है। यहां इतना कहना है कि इस सूक्त काप्राचीन आचार्यों ने जो विनियोग किया है उसका भी हमें ध्यान रखना चाहिये और तदनुसार जप

आदि करने से सूर्य से तत्सम्बन्धी परमाणु हमारी ओर खिचे चले आयेंगे। वहां आता है कि आश्विन काल सूर्योदय से कुछ पूर्व शय्या परित्याग कर शौच दन्तधावन व स्नानादि से निवृत्त हो सूर्योदय के समय सूर्य दर्शन करते हुए इस सूक्त तथा 'उदुत्यं जातवेदसम्' मन्त्र का जप करे। कहा भी है। 'आश्विन शस्त्रे सूर्योदयादुत्तर कालीने सौर्यकाण्डे इदं सूक्तम्"। सूर्य दर्शन के लिये मन्त्र भी कहता है—"सुसन्दृशं त्वा वयं प्रतिपश्येम सूर्य। विपश्येम नृचक्षसः" अर्थात् हे शोभन दर्शन वाले सूर्य! हम तुझे प्रतिपश्येम। तेरे प्रति तेरी ओर देखें और 'विपश्येम' विशेष रूप में देखें। यहां 'विपश्येम' क्रिया से प्रतीत होता है किन्हीं विशिष्ट साधनों का अवलम्बन कर तुझे देखें। वे साधन क्या हो सकते हैं यह नेत्र विशेषज्ञ तथा सौर्य विज्ञानी ठीक-२ बता सकता है।

देवयान मार्ग में सहायक—

यह सूर्य देवयान पथ के पथिकों का सहायक बनता है और उनका कल्याण करता है एक मन्त्र है—

अध्वनामध्वपते प्रमातिर स्वस्ति मे ऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्।

यजु. ५।३३

हे नाना मार्गो के स्वामिन्! तु मुझे प्रकृष्ट रूप में तरा जिससे मेरा इस देवयान मार्ग में कल्याण हो।

प्रश्नोपनिषत् में इस देवयान मार्ग के लिये यह कहा है कि—"**अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभि जयन्ते। एतद्वै प्राणानामा यतनमेतद-मृतमभयमेतत् परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः**" प्र. उ. १।१० और जो तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा सम्पन्न होकर विद्या अर्थात् अध्यात्म विद्या के द्वारा आत्मा व परमात्मा का अन्वेषण कर उत्तर मार्ग अर्थात् देवयान मार्ग से जाकर सूर्य लोक को जीत लेते हैं। यह सूर्य ही सकल प्राणों का केन्द्र स्थानी है यह अमृत, अभय रूप है यही परमगति है इस देवयान मार्ग द्वारा सूर्य लोक में पहुंच कर इससे लौट कर नहीं आते यही निरोध है।

यही ब्रह्मलोक है वह कैसा है? "तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्म-मनृतं माया चेति" कुटिलता अनृत और छल आदि नहीं है उनको ही यह विरज विकार रहित, विशुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है।

यही बात मुण्डकोपनिषत् में कही है—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये।
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्य द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः सः पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ मुण्ड. १।२।११

जो वनों में रहने वाले शान्त स्वभाव वाले ज्ञानी पुरुष भिक्षा से उपलब्ध

अन्न का सेवन करने वाले तप और श्रद्धा को बनाये हुए रहते हैं। वे रजो गुण से रहित सूर्य मार्ग से वहां पहुंचते हैं जहां जन्ममरण से रहित अविनाशी परम पुरुष रहता है।

वेद मन्त्र भी सूर्य में पहुंचने का निर्देश देता है।

उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

इस मन्त्र की व्याख्या हम अन्यत्र कर चुके हैं यहां केवल इतना ही कहना है कि "सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्" हम उत्तम ज्योति सूर्य में पहुचे। मुण्डकोपनिषद् १।२।५ में आता है।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु।
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ॥
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो।
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥

जो व्यक्ति ऊर्ध्वोक्त ज्वालाओं में ठीक समय पर (प्रातः सायं) अग्नि होत्र करता है। उसे ये आहुतियां लेकर (मरणोपरान्त) सूर्य रश्मियों को समर्पित करती हैं और सूर्य रश्मियां उसे देवों के अधिपति के पास ले जाती हैं। वे किस प्रकार ले जाती हैं यह एक आलंकारिक रूप में दर्शाया—एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः। सूर्यस्य रश्मिभि र्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभि वदन्त्योऽर्चयन्त्यः। एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः। मुण्डक. १।२।६

वे आहुतियां कहती हैं कि आओ, आओ यह तुम्हारे पुण्यकर्मों द्वारा सञ्चित पुण्य रूप ब्रह्मलोक है उसे सूर्य किरणों के द्वारा स्वर्ग लोक में पहुंचाती हैं।

:आदित्य हृदय' स्तोत्र द्वारा सूर्य की स्तुति—

यह आदित्य हृदय नामक स्तोत्र बाल्मीकी रामायण, युद्ध काण्ड १०५ वां सर्ग में आता है। जब भगवान् राम और रावण के मध्य होने वाले युद्ध को देखने के लिये देवताओं के सहित अगस्त्य मुनि भी आये थे। उस अवसर पर अगस्त्य मुनि ने चिन्तातुर श्री राम को युद्ध में लाभार्थ यह आदित्य हृदय नामक स्तोत्र जपने के लिये कहा था।

विधि—इसकी विधि इस प्रकार है सर्वप्रथम ऋषि छन्द तथा देवता स्मरण पूर्वक प्रणव तथा महाव्याहृतियों के सहित गायत्री मन्त्र का जप करके आदित्य हृदय नामक स्तोत्र का तीन वार जप करे। इससे पूर्व तीन आचमन अवश्य कर लेवे।

फल—इस 'आदित्य हृदय' स्तोत्र के जप का फल यह है—

आदित्य हृदयं पुण्यं सर्व शत्रु विनाशनम्।
जयावहं जपन् नित्यमक्षयं परमं शिवम् ॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्व पाप प्रणाशनम्।
चिन्ता शोक प्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥

अर्थात् यह आदित्य हृदय नामक स्तोत्र बड़ा पुण्य शाली है सकल शत्रु विनाशक है। इसका जप युद्ध में विजय दिलाने वाला, नित्य अक्षय निधि तथा परम

कल्याणकारी है सब मङ्गलों का भी मङ्गल सब पापों को विनष्ट करने वाला चिन्ता, शोक आदि का शमन करने वाला और श्रेष्ठ आयुष्य की वृद्धि करने वाला है।

एनमापत्सु कृच्छ्रेषु कान्तारेषु भयेषु च।
कीर्तयन् पुरुषः कश्चिन्ना वसीदति राघव ॥
पूजयस्वैनमेकाग्रो देवदेवं जगत् पतिम्।
एतत् त्रिगुणितं जप्त्वा युद्धेषु विजयिष्यसि ॥

हे राघव ! विपत्तियों में कष्टों में, बीहड़ वनों में, भय उपस्थित होने पर जो कोई पुरुष इस सूर्य देव का इस आदित्य हृदय स्तोत्र से कीर्तन करता है उसे कष्ट नहीं भोगना पड़ता। इसलिये हे राम ! तुम एकाग्रचित्त होकर इस देवाधिदेव जगत् के स्वामी का तीन बार आदित्य हृदय से स्तवन करो तो युद्ध में अवश्य विजय लाभ होगा।

'आदित्य हृदय' स्तोत्र—

सर्वदेवात्मको ह्येष तेजस्वी रश्मिभावनः।
एष देवासुर गणाँल्लोकान् पाति गभस्तिभिः ॥

यह भगवान् विवस्वान्—सर्वदेवरूप है. तेजस्वी. तथा अपनी रश्मियों से सबके जन्मादिका प्रदाता, अपनी किरणों से यह देव असुर तथा अन्य सब प्राणि समूह का पालन करता है।

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः।
महेन्द्रो धनदः कालो यमः सोमो ह्यपांपतिः ॥
पितरोवसवः साध्या अश्विनौ मरुतो मनुः।
वायुर्वह्निः प्रजा प्राणः ऋतुकर्ता प्रभाकरः ॥
आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान्।
सुवर्णसदृशो भानु हिरण्यरेता दिवाकरः ॥
हरिदश्वः सहस्रार्चिः सप्तसप्तिर्मरीचिमान्।
तिमिरोन्मथनः शम्भु स्त्वष्टा मार्तण्डकों ऽशुमान् ॥
हिरण्यगर्भः शिशिरस्तपनोऽहस्करो रविः।
अग्निगर्भोऽदितेः पुत्रः शङ्खः शिशिरनाशनः ॥
व्योमनाथस्तमो भेदी ऋग्यजुः सामपारगः।
घनवृष्टिरपां मित्रो विन्ध्यवीथीप्लवङ्गमः ॥
आतपी मण्डली मृत्युः पिङ्गलः सर्वतापनः।
कवि र्विश्वो महातेजा रक्तः सर्वभवोद्भवः ॥
नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वभावनः।

सूर्य के प्रति नमन—

तजेसामपि तेजस्वी द्वादशात्मन् नमोऽस्तुते।
नमः पूर्वाय गिरये पश्चिमायाद्रये नमः ॥

ज्योति र्गणानां पतये दिनाधिपतयेनमः ।
जयाय जय भद्राय हर्यश्वाय नमो नमः ।।
नमो नमः सहस्रांशो आदित्याय नमोनमः ।
नम उग्राय वीराय सारंगाय नमोनमः ।।
नम. पद्मप्रबोधाय प्रचण्डाय नमो ऽस्तु ते ।।
ब्रह्मेशानाच्युतेशाय सूरायादित्य वर्चसे ।
भास्वते सर्वभक्षाय रौद्राय वपुषे नमः ।।
तमोघ्नाय हिमघ्नाय शत्रुघ्नायामितात्मने ।
कृतघ्नघ्नाय देवाय ज्योतिषांपतये नमः ।।
तप्तचामीकराभाय हरये विश्वकर्मणे ।
नमस्तमोऽभिनिघ्नाय रुचये लोकसाक्षिणे ।।
नाशयत्येष वै भूतं तमेव सृजति प्रभुः ।
पायत्येष तपत्येष वर्षत्येष गभस्तिभिः ।।
एष सुप्तेषु जागर्ति भूतेषु परिनिष्ठितः ।
एष चैवाग्नि होत्रं च फलं चैवाग्निहोत्रिणाम् ।।
देवाश्च क्रतवश्चैव क्रतूनां फलमेवच ।
यानि कृत्यानि लोकेषु सर्वेषु परमप्रभुः ।।

अर्थ—पूर्वगिरि तथा पश्चिम गिरि-अर्थात् उदयाचल तथा अस्ताचल रूप तुझे मेरा प्रणाम है । नक्षत्रादि-ज्योतिर्गणों तथा दिन के अधिपति तुझे मेरा प्रणाम है । जय स्वरूप, कल्याणकारी विजय रूप तथा हरि नामक अश्वों वाले तुमको मेरा बारम्बार प्रणाम है । सहस्र किरणों वाले तुझे मेरा बार-बार नमस्कार है । हे अदिति पुत्र, तुम्हें मेरा प्रणाम है । दुष्टों के प्रति उग्र वीर तथा सारंग अर्थात् शीघ्र - गामी हे सूर्य ! तुम्हें मेरा बार-बार नमस्कार है । आन्तरिक तथा बाह्य कमलों के विकसित करने वाले तुमको नमस्कार हो । दुष्टों के प्रति भयंकर स्वरूप वाले तुझे मेरा प्रणाम हैं । ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु इन त्रिदेवों के ईश सूर तथा सूर्यतेज वाले तुम्हें मेरा बार-बार नमस्कार है । आप भासमान है सर्वभक्षी अग्नि रूप तुम ही हो रौद्र रूप आपको मेरा नमस्कार है । आप तम अर्थात् भौतिक अन्धकार तथा अज्ञानान्धकार दोनों के नाशक हो शीत निवारक तथा शत्रु विनाशक, अप्रमेय, तथा कृतघ्नों के संहारक तुम ज्योतियों के स्वामी को मेरा नमस्कार है, हरि तथा विश्वकर्मा तम विनाशक, प्रकाशातमा तथा जगत् के साक्षी तुमको मेरा नमस्कार हो । हे राम ! ये सूर्य भगवान् ही प्राणिजगत के संहारक, सर्जनकर्ता तथा प्रलय करने वाले है । ये अपनी किरणों से तप रहे हैं और पुष्टि करते हैं यही सम्पूर्ण भूतों में अन्तर्यामी रूप में स्थित होकर उनके सोजाने पर जागते रहते हैं । येही अग्नि होत्र तथा अग्निहोत्रिओं के फल रूप हैं । देवता यज्ञ और यज्ञों के फल भी येही है सम्पूर्ण लोकों

में जितनी भी क्रियाएँ हैं उन्हें फली भूत करने में ये ही समर्थ है। परम प्रभु हैं। इन्हें मेरा बारम्बार प्रणाम है।

यह सूर्यस्तवन है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि आराध्य देव का स्तवन सदा संस्कृत में ही होना चाहिये। क्योंकि संस्कृत देववाणी मानी गई है। मनुष्य वाणी हीनवीर्य होती है उसमें सफलता अवश्यम्भावी नहीं है। वे व्यक्ति भारतीय संस्कृति व सभ्यता के प्रेमी नहीं हैं जो ये कहते हैं कि भगवान् तो भाव के भूखे हैं चाहे किसी भी वाणी में अपने भाव प्रकट करो। मेरी सम्मति में उन्हें ध्वनि शास्त्र शब्द ब्रह्म आदि का सही ज्ञान नहीं। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने देवगिरा की रक्षा के निमित्त अपशब्दों को म्लेच्छ भाषा का मानकर परित्याग करने का उपदेश दिया है।

जन सामान्य के लाभ के लिये हम मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सूर्यस्तुति भी यहां दे देते हैं। यह भी बहुत उच्चकोटि की तथा प्रेरणाप्रद है।

नमस्ते ऋक् स्वरूपाय सामरूपाय ते नमः।
यजुः स्वरूपरूपाय साम्नां धामवते नमः॥
ज्ञानैकधामभूताय निर्धूततमसे नमः।
शुद्ध ज्योतिः स्वरूपाय विशुद्धायामलात्मने॥
चक्रिणे शङ्खिनेधाम्ने शार्ङ्गिणे पद्मिने नमः।
वरिष्ठाय वरेण्याय परस्मै परमात्मने॥
नमोऽखिल जगद् व्यापि स्वरूपायात्ममूर्तये।
सर्वकारणभूताय निष्ठायै ज्ञानचेतसाम्॥
नमः सूर्यस्वरूपाय प्रकाशात्मस्वरूपिणे।
भास्कराय नमस्तुभ्यं तथा दिनकृते नमः॥
शर्वरीहेतवे चैव सन्ध्याज्योत्स्नाकृते नमः।
त्वं सर्वमेतद् भगवान् जगदुद्भ्रमतात्वया॥
भ्रमत्याविद्धमखिलं ब्रह्माण्डं सचराचरम्।
त्वदंशुभिरिद स्पष्टं सर्वं सञ्जायते शुचि॥
क्रियते त्वत्करैः स्पर्शाज्जलादीनां पवित्रता।
होम दानादिको धर्मो नोपकाराय जायते॥
तावद् यावन्न संयोगि जगदेतत्त्वदंशुभिः।
ऋचस्ते सकला ह्येता यजूंष्येतानि चान्यतः॥
सकलानिच सामानि निपतन्ति त्वदङ्गतः।
ऋङ्मयस्त्वं जगन्नाथ त्वमेव च यजुर्मयः॥
यतः साममयश्चैव ततो नाथ त्रयीमयः।
त्वमेव ब्रह्मणो रूपं परंचापरमेव च।
मूर्तामूर्तस्तथा सूक्ष्मः स्थूलरूपस्तथास्थितः।
निमेषकाष्ठादिमयः कालरूप; क्षयात्मकः॥

सविता देवताक सूक्तानि

ऋ.१।२२।५-८

ऋषिः मेधातिथिः काण्वः । देवता सविता । छन्द गायत्री

१. हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये । स चेत्ता देवता पदम् ।५।

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्णीय हाथों वाले सविता देव को (ऊतये) रक्षा के लिये (उपह्वये) आह्वान करता हूँ (सदेवता) वह दिव्य शक्ति सम्पन्न सविता देव (पदं चेत्ता) गन्तव्य को चिताने वाला है अथवा वह (देवतापदं) दिव्यपद को चिताने वाला है ।

चेत्ता-चिती संज्ञाने अन्तर्भावितण्यर्थात्ताच्छील्येतन् । बोधयिता ज्ञापयिता । हिरण्यपाणि-हिरण्यमयोपाणी यस्यतम् । पाणिः पणायतेः पूजाकर्मणः । नि. २।२६

सविता हिरण्यपाणि है अर्थात् उसके दोनों हाथ हिरण्य (स्वर्ण) के है । इस सम्बन्ध में कौषीतकि ब्राह्मण में एक रहस्यगर्भित कथानक दिया गया है जो कि इस प्रकार है—सवित्रेप्राशित्रं प्रतिजह्रु स्तत्तस्य पाणिः प्रचिच्छेद तस्मैं हिरण्मयौ प्रति दघुस्तस्माद्धिरण्यपाणिरिति स्तुतः ।

अर्थात् यज्ञ में ब्रह्मा द्वारा प्राशित्र नाम का पुरोडाश सविता को दिया गया तो सविता ने उसे दोनों हाथों से ज्योहीं थामा त्यों ही उसके दोनों हाथ कट गये । तब अध्वर्यु ओं ने उसके हिरण्य (सुवर्ण) के हाथ लगा दिये । तबसे यह सविता हिरण्य-पाणि कहलाता है ।

इस कथानक का रहस्य अध्यात्म क्षेत्र में ही स्पष्ट होता है जो देवता बाह्य ब्रह्माण्ड में कार्यरत हैं वे ही पिण्ड में सूक्ष्म रूप में शारीरिक क्रियाओं का निर्वाह करते हैं । मस्तिष्कस्थ सविता नस नाडियों में स्थित अपनी शक्ति से अंगों को प्रेरित करता है । जब इन नस नाडियों रूपी हाथों द्वारा वह प्राशित्र को थामता है तब ये नस नाडियाँ कार्य नहीं करतीं । उस समय एक हिरण्यनाम से अभिहित ज्योति उद्बुद्ध होती है जो स्थूल अंगों को कार्य का माध्यम न बनाकर सीधा दूर से दूरस्थ प्रदेश तक कार्य करती है । भौतिक हाथ कट गये उनके स्थान में ज्योतिर्मय दिव्य हाथ उत्पन्न हो गये ऐसा कहा जा सकता है । ऐसी अवस्था में हिरण्मय हाथों वाला योगी दूरस्थ प्रदेश में अपने दिव्य हाथों से कार्य सम्पन्न कर देता है । यह सब प्राशित्र का प्रभाव है । प्राशित्र क्या है ? यह बृहस्पति देवता नामक पुस्तक में विस्तार से दर्शाया गया है ।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हिरण्यपाणि सविता से रक्षा की

प्रार्थना देवत्व की रक्षा व दिव्यता की प्राप्ति के लिये है मनुष्य को यह ज्ञात नहीं कि उसका पदम् = गन्तव्य स्थान क्या है ? उसका पद किधर को पड़े ? इसका चिताने वाला यह सविता देव ही है ।

२. अपां नपातमवसे सवितारमुपस्तुहि, तस्य व्रतान्युश्मसि ॥६॥

हे यजमान ! (अवसे) अपनी रक्षा के निमित (अपां नपातं) आपस्तत्व का पतन न होने देने वाले (सवितारं उपस्तुहि) सविता भगवान् की स्तुति कर । हम सब (तस्य व्रतानि) उस सविता भगवान् के व्रतों व नियमों के पालन की (उश्मसि) कामना करते हैं ।

अपांनपात्—अपां न पातयति पत्लृगतौ इति धातो र्ण्यन्तात् क्विप् ।

उश्मसि—वश् कान्तौ ।

मनुष्य के दिव्यत्व की रक्षा तभी होती है जब कि भगवान् की स्तुति प्रार्थना के साथ शरीरस्थ आपस्तत्व जो कि वीर्य व ओज रूप में रहता है उसका पतन न हो । वीर्य का अधः पतन व ऊर्ध्वारोहण मस्तिष्क की प्रेरक शक्ति से ही होता है । सविता को 'अपां नपात्' कहा है ।

३. विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः । सवितारं नृचक्षसम् ।७।

(चित्रस्य राधसः) अद्भुत सिद्धि सम्पन्न (वसोः) ऐश्वर्य के (विभक्तारं) विभाजक (नृचक्षसं) मनुष्यों के द्रष्टा (सवितारं) सविता भगवान् को हम (हवामहे) आह्वान करते हैं ।

सविता भगवान् अपनी हिरण्मय आंखों से सदा यह देखता रहता है कि कौन मनुष्य व अन्य प्राणी किस प्रकार के धन व ऐश्वर्य के उपयुक्त हैं, कितना उसे मिलना चाहिये और क्या नहीं मिलना चाहिये इत्यादि बातों को वह नृचक्षस बनकर देखता रहता है । इसी दृष्टि से उसे ऐश्वर्य का विभाग करके सबको देने वाला बताया गया है । कौषीतकी ब्राह्मण में आता है । "तदैतद्वसो श्चित्रं राधस्तदेष सविता विभक्ताभ्यः प्रजाभ्यो विभजति" अर्थात् यह सविता देव विभक्त हुई प्रजाओं के लिये दिव्य व अद्भुत ऐश्वर्य विभक्त करके प्रदान करता है ।

राधस्-राध साध संसिद्धौ ।

४. सखाय आ निषीदत सविता स्तोम्यो नुनः । दाता राधांसि शुम्भति ॥८।

(सखायः) सविता की स्तुति में भागीदार हे मित्रों ! (आनिषीदत) आओ विराजो यह सविता (नः) हमारा (नु) निश्चय से (स्तोभ्यः) स्तुति के योग्य है यह

(राधांसिदाता) सिद्धि सहित ऐश्वर्यों का देने वाला है। ऐसा यह सविता (शुम्भति) शोभायमान हो रहा है।

सखाय=समानाः सन्तः ख्यान्ति प्रकाशन्ते–सायणाचार्य। साधक पुरुषों को परस्पर सखाभाव से रहना चाहिये। वे सब सविता देवता के उद्बोधन के लिये एक साथ बैठकर ध्यान आदि किया करें। वह सविता स्तोम्य है अर्थात् जब अत्यधिक स्तुति की जाती है तभी वह साधकों के हृदय में प्रकाशित होता है। प्रतिदिन स्तुति संग्रहीत होते होते जब स्तुति का समूह (स्तोत्र=स्तोम=स्तम्भ Pillar) हो जाता है तब सविता उस पर आ विराजता है, और अलंकृत होता है। शुम्भति क्रिया का यही भाव है। उस स्तोत्र पर विराजमान होकर वह सविता साधक को सिद्धियाँ (राधांसि) प्रदान करता है।

ऋ १।२४।३–५

ऋषि=आजीगर्तिः शुनः शेपः। देवता सविता ३–५। छन्दः—गायत्री

५. **अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम् सदावन्भागमीमहे।३।**

(सदावन्) सदा रक्षक (सवितः देव) हे सविता देव (वार्याणाम् ईशानं) वरणीय पदार्थों के ईश (त्वा अभि) तेरे प्रति हम आते हैं। और (भागमीमहे) अपने भाग की याचना करते हैं।

सदावन्=सदा+अवन्=अव-रक्षणे

इस सूक्त के तीन मन्त्रों की व्याख्या में ऐतरेय ब्राह्मण ७।१६ में आता है। "तमग्निरुवाच सविता वैप्रसवानामीशे तमेवोप धावेति स सवितारमुपससाराभित्वा देव सवितरित्येतेन तृचेन" अर्थात् आजीगर्ति शुनः शेप अपने मोक्ष के लिये अग्नि की स्तुति करता है तब अग्नि उससे कहता है कि सविता के पास पहुँच क्योंकि वही सब देवों को आदेश देता है वही प्रेरित करता है तब शुनःशेप इन तृचों द्वारा सविता की स्तुति करता है।

इस उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट है कि शुनः शेप ने सविता से अपनी मुक्ति की प्रार्थना नहीं की पर वरणीय पदार्थों की याचना की है, अपने हिस्से में जो ऐश्वर्य आता है वह मांगा है।

६. **यश्चिद्धि त इत्था भगः शशमानः पुरा निदः। अद्वेषो हस्तयोर्दधे।४**

हे सविता देव! (यः) जो (ते) तेरा (चित्) पूजनीय (इत्था भगः) सच्चा ऐश्वर्य है जोकि (निदः पुरा) निन्दा व निन्दक के सामने से (शशमानः) प्लुत गति से लांघ जाता है ऐसे उस ऐश्वर्य को मैं (अद्वेषः) द्वेष रहित हुआ (हस्तयोः) दोनों हाथों में (दधे) धारण करता हूँ।

इत्था—सत्य नामैतत्।

शशमानः—शशप्लुगतौ अथवा शस्यमानः स्तूयमानः।

जो व्यक्ति भगवान् तथा उसके भक्तों से द्वेष करता है और उनकी निन्दा करता है ऐसे व्यक्ति को सविता भगवान का सच्चा ऐश्वर्य नहीं मिलता। वह उसे लांघ जाता है। उस सविता भगवान के सच्चे ऐश्वर्य को लेने व धारण करने के लिये आवश्यक है कि वह किसी से द्वेष न करे।

७. भगभक्तस्य ते वयमुदशेम तवावसा। मूर्धानं राय आरभे।५

(ते भगभक्तस्य) तुम ऐश्वर्य से युक्त के (वयं) हम भक्तजन (उदशेम) उन्नति करें, उच्च बनें और (तवावसा) तेरे रक्षण में हम (रायः मूर्धानं) ऐश्वर्य के सर्वोच्च शिखर पर (आरभे) पहुँचने के लिये प्रयत्न करें।

भगभक्तस्य—भगो देवस्तेनापि सेवितस्य भजनीयेन वा
हविषा स्तोत्रेण वा सर्व मनुष्यैः सेवितस्य वा। स्कन्द
भाग्येन संभक्तस्य—वेङ्कट
धनेन संयुक्तस्य-मुद्गल। आरभे—आलब्धुम्

ऋ. १।३५।२-११

ऋषिः—हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता-सविता। छन्द त्रिष्टुप ९ जगती।

८. आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यंच।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।२

(कृष्णेन रजसा आवर्तमानः) कृष्ण रज अर्थात् रात्रि से आवर्तन करता हुआ सबका प्रेरक वह सविता देव (अमृतं मर्त्यं च निवेशयन्) अमृत तथा मृत इन दोनों जगतों को स्वस्व स्थान में निवेशित करता हुआ (हिण्ययेन रथेन) सूर्यमण्डल रूपी हिरण्मय रथ से वह सविता देव (भुवनानि पश्यन्) सब भुवनों को देखता हुआ (आयाति) आ रहा है।

अध्यात्म—सूक्ष्म शरीर रूपी हिरण्मय रथ पर आरूढ़ हुआ यह प्रज्ञानधन सूर्य आत्मा (सूर्य आत्मा जगत स्तस्थुपश्च) कृष्ण रज अर्थात् स्थूल शरीर से ऊपर उठकर शरीर की अमृत व मृर्त्य शक्तियों को स्वस्व स्थान में निवेशित करता हुआ और सबको देखता हुआ आता है।

कृष्णः कृष्यते निकृष्टोवर्णः नि. २।२०

अभिप्लवषडहस्य चतुर्थेऽहनि वैश्वदेव शस्त्रे इदं सूक्तं सावित्रं निविद्धानम्।

स्वर्ग की ओर तैरने में साधनमूत षडहन् (द्यावा पृथिवी सम्बन्धी) के चतुर्थ अहन् में विद्यमान विश्व देवों के शस्त्र में इस सूक्त का विनियोग किया गया है।

षडहन् द्यावापृथ्वी के मध्य के ६ अर्हविभाग=ज्योति र्भाग है। इनमें चतुर्थ अर्हविभाग उदन्वती स्तोम में है।

पिण्ड में यह चतुर्थ अर्हविभाग Pons. MedullaOblongatta में है। कृष्ण रज रात्रि का द्योतक है तथा अन्धकार वाले भौतिक परमाणुओं को भी दर्शाता है। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि सविता भगवान की प्रेरक शक्ति है जो कि द्युलोक के उर्ध्वतम स्थान सूर्य के माध्यम से सर्वत्र प्रसृत होती है। सूर्य तो इसका रथ है, रथ में सवार होते हुये भी यह सविता सर्वव्यापक है क्योंकि सविता सम्बन्धी प्रेरक व उत्पादक शक्ति सूर्य के माध्यम से आती है। अतः गौणरूप से सूर्य को भी सविता कह देते हैं। "योऽ सावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्" द्वारा निर्दिष्ट पुरुष सविता है।

इस सूक्त का ऋषि हिरण्यस्तूप है। निरुक्त १०।३।३२ आता है कि "हिरण्यस्तूपो हिरण्मयस्तूपो हिरण्मयस्तूपोऽ स्येति वा स्तूपः स्त्यायतेः सङ्घातः।" अर्थात् यह हिरण्मयस्तूप ऋषि मन्त्रार्थ का द्रष्टा है। इसे हिरण्यस्तूप इसलिये कहते हैं कि यह सूर्य हिरण्य का एक संघात है, हिरण्य का गोला है। अतः इस सूक्त का अर्थ करते हुये हिरण्य का गोला यह सूर्य दृष्टि में रखना होता है। अध्यात्म में जब मस्तिष्क में ज्योतिष्पुञ्ज उद्बुद्ध होकर प्रबुद्ध हो जाता है तब इन मन्त्रों का अध्यात्म में अर्थ अधिक सुसङ्गत प्रतीत होता है।

९. याति देव. प्रवता यात्युद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्।

आ देवो याति सविता परावतो अप विश्वा दुरिता बाधमानः ॥३॥

यह सविता देव (याति प्रवता) प्रवण मार्ग से जाता है अर्थात् निम्न प्रदेशों की ओर सूक्ष्म से स्थूल की ओर गति करता है (याति उद्वता) ऊर्ध्व मार्ग से जाता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति करता है (यजतः) यजनीय वह (शुभ्राभ्यांहरिम्यां याति) शुभ्र हरिओं द्वारा जाता है। (सविता देवः) वह सविता देव (परावतः) परलोक के अन्तिम छोर से (विश्वा दुरितानि अपबाधमानः) सब दुरितों को विनष्ट करता हुआ (आयाति) आता है।

प्रवता—प्रवणमार्ग, निम्न मार्ग, स्थूल मार्ग।

उद्वता—ऊर्ध्वमार्ग, सूक्ष्म मार्ग

परावत्—अन्तो वै परावत्। ऐ. ५।२, परावत् इति दूर नामसु पठितम् निरु. ३।२६

सविता का यजन=मेल उसी समय होता है जबकि दोनों हरि शुभ्र हों अर्थात् दोनों नासिकायें, दोनों कान, दोनों चक्षु आदि शुभ्र हो स्वच्छ हो पाप रहित हों।

अध्यात्म के ये हरि हैं। इसी प्रकार संज्ञावाहक तथा आज्ञावाहक, नाड़ियां भी हरि है।

१०. अभीवृतं कृशनै विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः ।४

(यजतः) यजन शील (चित्रभानुः) अद्भूत किरणों वाला यह (सविता) सविता सूर्य देव (कृष्णा रजांसि) पृथिवी आदि अन्धकारावृत लोकों को तथा (तविषीं दधान.) शक्ति समूहों को धारण किये हुये (कृशनैः अभीवृतं) हिरणमय किरणों से घिरे हुये (विश्व रूपं) विश्वरूपों वाले (हिरण्यशम्यं) हिरण्यमय कर्म वाले (बृहन्तं) महान (रथं) सूर्यमण्डल रूपी रथ पर (आस्थात्) विराजमान होता है।

कृशनैः–तनूकरणैः सूक्ष्मत्वनिष्पादकैः किरणैः विविधैः रूपैर्वा। स्वामीदयानन्द कृशनं रूप नाम निघ. ३।६, हिरण्यनाम निघ. १।२

तविषीम्—प्रशस्त बल विद्यायुक्ता सेना—स्वामी दयानन्द। बलनाम—निघ २।६ तवतेर्वा वृद्धि कर्मणः। नि. ६।२५

हिरण्य शम्यम् —हिरण्यानि सुवर्णान्यन्यानि वा ज्योतीषि शम्यानि शमितुं योग्यानि यस्मिंस्तम्। स्वामी दयानन्द,

हिरण्यकर्मणिभवम्—शमी कर्म नाम निघ. २।१

कृष्णारंजासि—ज्योति रहित भौतिक लोक अथवा रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान अज्ञान मय लोक।

जिस प्रकार सूर्यमण्डल सविता का रथ है उसी प्रकार आन्तरिक सूर्य (आत्मा) का भी हिरण्य ज्योति से आवृत सूक्ष्म शरीर रथ है। सूक्ष्म शरीर के प्रवृद्ध होने पर कर्मों की साधिका हिरण्य-ज्योति बनती है। इस आत्म-सूर्य को प्रत्यक्ष करने के लिये सूक्ष्मता में प्रवेश करना होगा।

११. विजानच्छ्यावा शितिपादो अख्यन् रथं हिरण्यप्रउगं वहन्तः।
शश्वद्विशः सवितुर्दैव्यस्योपस्थे विश्वाभुवनानि तस्थुः ।५।

(शितिपादः) शुभ्र व तीक्ष्ण पैर वाले (हिरण्यप्रउगं) हिरण्यमय धुरा वाले (रथं वहन्तः) रथ को वहन करते हुए (श्यावा) ये सूर्य किरण रूपी अश्व (जनान्) मनुष्यों को (विअख्यन्) इस संसार को प्रकाशित करके दिखाते है। (देवस्य सवितुः) दिव्य शक्तियुक्त सविता के (उपस्थे) समीप में (विशः) प्रजाएं तथा (विश्वाभुवनानि) समग्र भुवन (शश्वत्) निरन्तर (तस्थुः) विराजमान रहते हैं।

श्यावा—श्यावा सवितुः। निघ. १।१५।८
श्यायन्ते (श्यैङ् गतौ) प्राप्नुवन्ति ते। स्वामी दयानन्द

शितिपादः—शितयः शुभ्रा तीक्ष्णावा पादा येषां ते।

जिस मनुष्य में यह सविता देव उद्बुद्ध व जाग्रत हो जाता है वह मनुष्यों के अन्तरतम कोभी जान लेता है। क्योंकि सविता देव के ईक्षण व परिधि में समग्र प्रजायें, समस्त भुवन आ जाते है। योगी, ऋषि महर्षियों को समग्र ब्रह्माण्ड का ज्ञान इस सविता के बल पर ही होता है।

१२. तिस्रोद्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं नं रथ्यममृताधितस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत् ॥६॥

(सवितुः) सविता के (तिस्रःद्यावः) तीन द्युलोक है उनमें (द्वा उपस्थां) दो समीप में स्थित है और उनमें से (एका) तीसरी एक (यमस्य भुवने) यम के भुवन में (विराषाट्) देदीप्यमान हो विराजमान है। (रथ्यंन) जिस प्रकार रथ के सब अवयव (आणिं) अक्ष के दोनों ओर विद्यमान कील के ऊपर आश्रित है उसी प्रकार (अमृता) अमृत रूप सब इन्द्रियाँदि देव उन द्युलोकों पर (अधितस्थुः) आश्रित है। (य उ तत् चिकेतत्) जो तत्त्व वेत्ता इन बातों को जानता है वह हमें (ब्रवीतु) बताये।

विराषाट् – वि + राजृदीप्तौ, विराष + सह दीप्तौ—साह=अत्यधिक देदीप्यमान।

इस उपर्युक्त मन्त्र में सविता के तीन द्युलोक बताये गये हैं अर्थात् ये तीन द्युलोक सविता के निवास स्थान हैं। सविता का काम प्रेरणा करने का है जैसा कि शतः १।१।२।१७ में आता है कि 'सविता वै देवानां प्रसविता' अर्थात् सविता देवताओं का प्रेरक है इस ब्रह्माण्ड में प्रेरणा का स्थान द्युलोक है। परन्तु हमारे शरीर में प्रेरणा का स्थान मस्तिष्क है अर्थात् सम्पूर्ण शरीर की गति विधियों का नियन्त्रण तथा प्रेरणा आदि मस्तिष्क से ही होती हैं। इसलिये वैदिक भाषा में मस्तिष्क को सविता का स्थान कहा जा सकता है। इस मस्तिष्क को द्युलोक तो वेद में अनेकों स्थलों पर कहा गया है, इस मन्त्र में इस मस्तिष्क रूपी सविता के लोक को तीन द्युलोकों में विभक्त किया गया है। अर्थात् मस्तिष्क रूपी द्युलोक के तीन विभाग बताये गये हैं। ये तीन विभाग इस तरह हो सकते हैं। एक तो मस्तिष्क (Cerebrum) दूसरा अनु मस्तिष्क (Pons और Cerebellum) और तीसरा सुषुम्ना शीर्षक (Medulla oblongatta) इन तीनों द्युलोकों के लिये मन्त्र में कहा गया है कि यह यम के भुवन में विराजमान है। यह तीसरा द्युलोक अर्थात् सुषुम्ना शीर्षक गर्दन के पिछले हिस्से में है। इसलिये आपाततः गर्दन का पिछला हिस्सा यम का भुवन कहलायेगा। और फिर अथर्व ९।७।१ में विराट शरीर का वर्णन करते हुये लिखा है कि 'अग्नि र्ललाटं यमः कृकाटम्' अर्थात् अग्नि ललाट है और यम कृकाट है। कृकाट गर्दन के पिछले हिस्से को कहते हैं। वाचस्पत्याभिधान कोष में कृकाट का अर्थ घाटा किया है। वाचस्पत्य, शब्द कल्पद्रुम, आपटे, विलियम मोनियर आदि सबने

कृकाट व घाटा का अर्थ गर्दन का पिछला हिस्सा माना है। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे शरीर में यम का निवास गर्दन के पिछले हिस्से में है। इस लिये यही गर्दन का पिछला हिस्सा यमलोक व यमभुवन हो सकता है।

अब विचारणीय यह है कि इस गर्दन के पिछले हिस्से अर्थात् यम के लोक में सविता का तीसरा द्युलोक कौन सा हो सकता है। अन्य दोनों मस्तिष्कों की तरह प्रेरणा व नियंत्रण आदि का काम गर्दन में सुषुम्ना शीर्षक (Medulla oblongatta) का है। इसलिये यह सुषुम्ना शीर्षक सविता का तीसरा द्युलोक हुआ। ब्रह्माण्ड में जो कार्य द्युलोक का है वही कार्य हमारे शरीर में इन तीनों द्युलोकों का है। सुषुम्ना शीर्षक हमारे शरीर में श्वास प्रश्वास संस्थान (Respiratory system) रक्त संस्थान (Cerculating system) और नाड़ी सस्थान (Nervous system) अन्न पाचन, हृदय आदि आन्तरिक गति विधियों को प्रेंरणा देता है और इन पर यही नियन्त्रण रखता है। या यह भी कह सकते हैं कि इन जीवनीय अंगों (Vital organs) का केन्द्र सुषुम्ना शीर्षक में हैं। इसलिये सुषुम्ना शीर्षक सविता का तीसरा द्युलोक है और यह यम के साम्राज्य में है।

१३ विसुपर्णो अन्तरिक्षाण्यख्यद् गभीर वेपा असुरः सुनीथः।
क्वेदानीं सूर्यः कश्चिकेत कतमां द्यां रश्मिरस्या ततान॥७॥

(सुपर्णः) शोभन पंख वाला यह सूर्य तथा विज्ञानात्मा (अन्तरिक्षाणि) अन्तरिक्ष स्थानों तथा हृदय प्रदेशों को (अख्यत्) प्रकाशित करता है। वह (गभीरवेपाः) गम्भीर व अप्रत्यक्ष कम्पन वाला है। (असुरः) प्राण प्रदाता तथा (सुनीथः) उत्तम रूप से नेता नयन करने वाला है। (इदानीं) इस रात्रि समय तथा शयन काल में (सूर्यः) यह सूर्य तथा विज्ञानात्मा (क्व) कहाँ विद्यमान रहता है। इस तथ्य को (कः चिकेत) कौन जानता है। (अस्य) इस सूर्य तथा विज्ञानात्मा की (रश्मिः) किरणें (कतमां द्यां आततान) द्युलोक के किस प्रदेश को अथवा मस्तिष्क को ताने हुये हैं। अर्थात् मस्तिष्क के किस भाग में कार्यरत है।

सुपर्णः—शोभनं पर्णं पतनं यस्य
शोभनानि पर्णानि यस्य
गभीरवेपाः—गभीरं वेपः कम्पनं यस्य।
असुरः—असून् राति ददाति, असुषु रमते
सुनीथः—सुष्ठुनीथः णीञ् प्रापणे क्थन् प्रत्ययः
चिकेत—कित ज्ञाने

यह मन्त्र बाह्य क्षेत्र की अपेक्षा अध्यात्म अवस्थाओं का दिग्दर्शन विशेष रूप से कराता है। बाह्य क्षेत्र में यह सामान्य कथन है या ज्योतिष सम्बन्धी वैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन करता है। अध्यात्म में यह विज्ञानात्मा सूर्य जब ऊर्ध्व की ओर

उड़ान भरता है तब अन्तरिक्षस्थ हृदय प्रदेशों का उद्घाटन होता है। प्राणों में एक प्रकार का प्रच्छन्न सा कम्पन होता है। वह मनुष्य को प्राण प्रदान के साथ प्रक्षेपण का भी कार्य करता है। (असु क्षेपणे –अस्यति पापादि शत्रून् आवरणान्वा)

क्वेदानीं सूर्यः बाह्य क्षेत्र में यह रात्रि की ओर संकेत करता है। विज्ञानात्मा सूर्य के पक्ष में यह रात्रि काल में शयन को दर्शाता है। सुप्तावस्था में यह बुद्धि सूर्य मस्तिष्क के किस भाग में (कतमां द्यां) विद्यमान होता है यह गुह्यदर्शी योगी पुरुष ही जान सकता है। 'आततान' क्रिया से ध्यान-चिन्तन अवस्था में मस्तिष्क का तत्कालिक ताना-बाना भी लिया जा सकता है।

१४ अष्टौव्यख्यत् ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्तसिन्धून्।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद् दधद् रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥८॥

(हिरण्याक्षः) हिरण्मय रश्मि वाला यह सविता देव (पृथिव्याः) पृथिवी तथा शरीर के (अष्टौ ककुभः) आठ दिशाओं उपदिशाओं को (धन्व) अन्तरिक्ष के (त्रीणि योजना) तीन प्रदेशों को (सप्तसिन्धून्) सप्त लोक सम्बन्धी धाराओं तथा सात ज्ञान धाराओं को (व्यख्यत्) प्रकाशित करता है। ऐसा यह सविता देव (दाशुषे) आत्म समर्पण करने वाले को (वार्याणि रत्ना दधत् आगात्) वरणीय रत्नों को धारण कराता हुआ आता है।

त्रीधन्व योजना—

अध्यात्मः—जानु से नाभि तक, नाभि से हृदय तक, तथा हृदय से कण्ठ तक ये तीन सविता के योजन सूत्र है। मस्तिष्क तो सविता का निवास स्थान है ही, अथवा दो फेफड़े+एक हृदय भी योजना सूत्र है।

सप्तसिंधून्—सिन्धुः—स्रवणात् सप्तस्रोतांसि=सात धाराएँ, सात स्वर, (संगीतस्वर) सप्तछन्द-गायत्री आदि, सात प्राण, सप्तवाक्। सप्तसिन्धु से इन सबका ग्रहण हो सकता है "सप्त द्वारावकीर्णां वाचमनृतां वदेत्" मनु महाराज के इस कथन के आधार पर यह है कि मस्तिष्क से वाक् धारा चल कर सात द्वारों व धाराओं में बंट जाती है। ये सात धाराएँ हैं "कर्णाविमौ नासिकेचक्षिणी मुखम्" अर्थात् २ कान+२ नाक+२ आंख+१ मुख—ये सात धाराएँ ही सप्त सिन्धु हैं जिन्हें सविता प्रेरित करता है।

१५ हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणि रुभे द्यावा पृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥९॥

(विचर्षणिः) विश्व द्रष्टा (हिरण्यपाणिः) हिरणमय हाथों वाला वह सविता (उभे द्यावा पृथिवी) द्यावा पृथ्वी इन दोनों के (अन्तः) मध्य में (ईयते) गति करता

हैं। (अपमीवां बाधते) रोगों को दूर करता है। (सूर्यम् वेति) सूर्य में अभिव्याप्त होता है और (कृष्णेन रजसा) अन्धकारमय पृथ्वी आदि लोक समूह के साथ (द्यामृणोति) प्रकाशमय द्युलोक में गति करता है।

वेति—वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु

ऋणोति—ऋण गतौ ।

उपर्युक्त मन्त्र का बाह्य क्षेत्र में अर्थ स्पष्ट है। अध्यात्ममें सविता द्यावा पृथ्वी अर्थात् मस्तिष्क तथा अधो अंगों के मध्य में नस नाड़ियों द्वारा गति करता है। बुद्धि रूपी सूर्य में वह अभिव्याप्त है। मस्तिष्क के नीचे के अंग कृष्ण रज वाले हैं। ये अन्धकार मय हैं। इन में प्रकाश नहीं जो व्यक्ति उस सविता भगवान को समर्पित होता है उसके हिरणमय हाथ उद्बुद्ध हो जाते हैं। रोगादि विनष्ट होकर शरीर में सर्वत्र सुख शान्ति और प्रकाश हो जाता है।

१६ **हिरण्यहस्तो असुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्वर्वाङ् ।**
अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थाद् देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥१०॥

(हिरण्यहस्तः) सुवर्णीय हाथों वाला (असुरः) महा बलवान् (सुनीथः) श्रेष्ठ नेता (सुमृडीकः) उत्तम सुख दाता (स्ववान्) आत्मवान् वह सविता देव (अर्वाङ् यातु) हमारी ओर आवे (यातुधानान्) जादू करने वाले (रक्षसः) राक्षसों को (अपसेधन्) दूर करता हुआ (प्रतिदोषं) प्रति रात्रि (गृणानः) स्तुति किया जाता हुआ (अस्थात्) विराजमान हो।

स्ववान्—आत्मवान्-स्वं धनं यस्य तद्वान्वा ।

यातुधानान्—यातु दधते इति तान ।

यातु धान तथा राक्षस आदि रोगकृमि तथा पाप वृत्ति वाले प्राणी है, ये प्रायः रात्रि में ही आक्रमण करते हैं। अतः सोने से पूर्व सविता देव की स्तुति इनके आक्रमण को विनष्ट करने में सहायक होती है। (प्रतिदोषं गृणानः) का रहस्य यही है। सविता का हमारी ओर आने का तात्पर्य यह है कि वह आत्माभिमुख हो सब वृत्तियों को अर्न्तमुखी बनावे। जिस समय मनुष्य में कोई बिमारी हो या वासना प्रबल हो तो वह उस समय देहाभिमुख होता है। सविता की प्रेरणा अर्न्तमुखी नहीं रहती। वह शोमन सुनेता है और सुख देने वाला भी है अतः इस अवस्था में मनुष्य देहाभिमुख न होकर स्ववान-आत्मवान बन जाता है यह सविता देव की कृपा पर होता है।

१७ **ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे।**
तेभिर्नो अद्य पथिमिः सुगेभी रक्षा च नो अधि च ब्रूहि देवः ॥११॥

(सवित·) हे सर्व प्रेरक व सर्वोत्पादक भगवन् (ये) जो (पूर्व्यासः) सृष्टि के

आदि में उत्पन्न या पूर्व ऋषियों द्वारा उपदिष्ट (अरेणवः) धूलि रहित अर्थात् निर्मल व साधु (ते पन्थाः) तुम्हारे मार्ग हैं। जोकि (अन्तरिक्षे सुकृताः) अन्तरिक्ष व हृदय प्रदेश में उत्तम रूप से निर्मित हुये हैं। (तेभिः) उन (सुगेभिः पृथिभिः) सुगम मार्गों से चला कर (नः) हमारी (अद्य) आज (रक्ष) रक्षा कर और हे देव ! तू (नः अधिब्रूहि) हमें सन्मार्ग का उपदेश दे।

धूलि रहित प्रदेश में सूर्य की किरणों के सेवन से मनुष्य निरोग होता है। अध्यात्म में अन्तरिक्ष हृदय प्रदेश हैं वहाँ सविता के ध्यान द्वारा मनुष्य सुकृत करने वाला तथा रोग रहित होता है। उसकी आन्तरिक प्रेरणा ही सविता का उपदेश है। पूर्व ऋषियों ने मनुष्यों के लिये सात मर्यादाएँ (सप्त मर्यादाः कवयः ततक्षुः०) बनायी है। ये मर्यादाएँ उत्तम हैं इनके पालन से मनुष्य का अन्तः करण शुद्ध पवित्र वन जाता है। मर्यादाओं वाला मार्ग धूलि रहित अर्थात् निर्मल व सुगम होता है।

ऋ० २।३८

ऋषि-गृत्समद (अंगि रसः) भार्गवः शौनकः। देवता-सविता। छन्दः त्रिष्टुप्

१६ उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद् वीति होत्रं स्वस्तौ ॥१॥

(तदपाः) इस जगत् को उत्पन्न करना ही कर्म है जिसका तथा (वह्निः) उत्पन्न कर जगत् का वहन करने वाला (स्यः सविता देवः) वह सविता देव (सवाय) प्रेरणा करने व देवों को अनुज्ञा देने के लिये (शश्वत्तमं) निरन्तर (उदु अस्थात्) उर्ध्व में खड़ा रहता है। (देवेभ्यः) देवों व प्राकृतिक शक्तियों के लिये (नूनं) निश्चय से (रत्नं) सौंदर्य व रमणीय धन को (विहि धाति) देता है। (अथ) और (वीति होत्रं) यज्ञ जिसे प्रिय हैं ऐसे यजमान को (स्वस्तौ अभजत्) कल्याण में रखता है।

तदपाः—तस्य (जगतः प्रसव एव) अपः कर्म यस्य सः।
अपः अप्न इति कर्म नामसु पठितम् निघ. २।१
वीति होत्रं—वीतीनां गतिव्याप्तिप्रजनादिशुभकर्मणां होत्रं प्रदानं
यस्यतम् ! स्वामी दयानन्द,
होत्रम्—हु दाना दनयोः।
होत्रा—अङ्गानि वाव होत्राः। गो. उ. ६।६
रश्मयो वाप होत्रा ,, ,, ,,
वाङ्नाम निघ. १।११

यह सविता सब देव शक्तियों को निरन्तर प्रेरणा देता रहता है। यह प्रेरणा कभी भी बन्द नहीं होती है। इस संसार में जो भी रमणीयता है जो भी सौन्दर्य व ऐश्वर्य इस प्रकृति में दृष्टिगोचर होता है वह सब सविता देव की देन है। सविता

यह प्रेरणा ऊर्ध्व में स्थित होकर देता है जो व्यक्ति ऊर्ध्व में स्थित होता है वही प्रेरणा दे सकता है सब उसी से पाते हैं। अधः स्थित व्यक्ति से कोई भी प्रेरणा नहीं लेता इसी दृष्टि से अनेकों मन्त्रों में 'उत् उ' का प्रयोग मिलता है। गायत्री मन्त्र की सार्थकता तथा सफलता भूः भुवः स्वः इन महा व्याहृतियों द्वारा ऊर्ध्व में पहुँच कर ही होती है।

१९ विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः प्रबाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति ।
आपाश्चिदस्य व्रत आनिमृग्रा अयं चिद्वातो रमते परिज्मन् ॥२॥

यह (पृथुपाणिः देवः) विस्तृत हाथों वाला सविता देव(विश्वस्यहिश्रुष्टये) विश्व के सुख व कल्याण के निमित्त शीघ्र व्यापने के लिये (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व में स्थित होकर (बाहवा प्र सिसर्ति) किरण रूपी बाहुओं को फैलाता है। (आपश्चित्) जल भी (अस्यव्रते) इस सविता के व्रत में रहकर (आनिमृग्राः) सम्पूर्ण जगत का शोधन करते हैं। और (अयंवातः चित्) यह वायु भी (परिज्मन् रमते) चहुँ ओर गति करता हुआ अन्तरिक्ष में रमता है।

श्रुष्टि—श्रुष्टीति क्षिप्रनाम-आशु अष्टीति नि. ६।३।५०
अशूङ् व्याप्तौ
श्रुष्टि पद से सविता की अपने कर्मों में क्षिप्रकारिता प्रकट होती है।
सिसर्ति—सृ गतौ।
निमृग्राः—नितरां शुद्धि कर्न्यः नि + मृजूष् शुद्धौ
परिज्मन् परि + ज्मन् अजगतौ
परितः सर्वतो अजति गच्छति।

२० आशुभिश्चिद्यान् विमुचाति नूनमरीरमदतमान चिदेतोः ।
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनुव्रतं सवितुर्मोक्यागात् ॥३॥

यह (मोकी) रात्रि (आशुभिःचित्) क्षिप्रगतियों से या सूर्य किरणों से (यान्) जिनको (विमुचाति) छुड़ाती है। (अतमान चित्) सतत गतिशील को भी यह (एतोः) गति से (नूनं) निश्चित रूप से (अरीरमत्) उपराम करती है। (अह्यर्षूणां चित् अयान्) अहि आदि शत्रुओं पर आक्रमण करने वालों की गतियों को भी यह रात्रि (नि.) नियन्त्रण करती है। (अविष्यां) सब प्राणियों की रक्षा के लिये उपर्युक्त बातों को (सवितुः व्रतं अनु) सविता के व्रत के अनुसार यह रात्रि (अगात्) प्राप्त होती है।

मोकी—रात्रिनाम निघ १।७
अतमानं—अत सातत्यगमने
अयान्—इण गतौ अय गतौ (भ्वादि)
अह्यर्षूणाम्—अहिमाहन्तारं शत्रुमर्षन्त्यभिगच्छन्ति त्यर्षवः तेषाम्।

अर्षत—ऋष गतौ।
सर्पाणाम्—वेंकट
ये अहिं मेघं प्राप्नुवन्ति तेषाम्। स्वामी दयानन्द
अविष्याम्—गमनेच्छाम् (सायणाचार्य)
रक्षा को (स्वामी दयानन्द)

यह सविता सूर्य के द्वारा सब भौतिक शक्तियों को प्रेरणा व उनकी उत्पत्ति आदि कार्य करता है। प्रश्न पैदा होता है कि जब रात्रि समय सूर्य तो होता नहीं तब सविता अपने व्रत का कैसे निर्वाह करता है? इस सम्बन्ध में उपर्युक्त मन्त्र में कहा गया है कि रात्रि में जब सब प्रकार की गतियाँ रुक जाती हैं सब अपने-अपने कार्य से निवृत हो जाते हैं और निद्रा की गोद में आ पहुँचते हैं और इस प्रकार सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य छा जाता है यह सब सविता की अपनी प्रच्छन्न शक्तियों के कारण होता है। यह नहीं समझना चाहिये कि रात्रि में सविता की सत्ता नहीं है। सविता सबको गति प्रदान करता है तो गति से उपरत भी करता है।

मोकी—इस मन्त्र में रात्रि को मोकी पद से सम्बोधित करना एक सार्थक प्रयोग है। मोकी पद मुच्लृ मोक्षणे (छूटना) धातु से निर्मित होता है। यह रात्रि सब प्राणियों को सूर्य रश्मियों के सम्पर्क से छुड़ाती है, गति व कार्य से उपरत करती हैं। बुद्धि व इन्द्रियों को कार्य से उपरत करती है मन को उपरत तो नहीं करती पर उसका बाह्य विषयों से असम्पर्क तो है ही। मन इस अवस्था में स्थूलभुक् न होकर प्रविविक्तभुक् होता है। मोकी पद चुरादीगण पठित 'मुच प्रमोचनमोदनयो:' से भी बन सकता है। प्रमोचन तो स्पष्ट है मोदन अर्थ भी सार्थक है क्योंकि मनुष्य रात्रि में ही आमोद-प्रमोद में खूब रमता है।

२१ **पुनः समव्यद्विततं वयन्ती मध्याकर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः।**
उत् संहायास्थाद् व्यृतूँरदर्धररमतिः सविता देव आगात् ॥४॥

(वयन्ती) वस्त्र बुनती हुई नारी के समान यह रात्रि (कर्तो:विततं) कर्म के विस्तार को (मध्या) मध्य में ही (पुनः) फिर (समव्यत्) समेट लेती है। (धीरः) धीर पुरुष भी (शक्म) अपनी कर्म शक्ति को (न्यधात्) रोक देता है। तत्पश्चात् यह सूर्य (संहाय) रात्रिकाल को समाप्त कर (उद् अस्थात्) उठ खड़ा होता है अर्थात् उदित होता है और (ऋतून् व्यदर्धः) ऋतुओं को विभक्त करता है। इस प्रकार (अरमतिः सविता देवः) कभी उपरत न होने वाला यह सविता देव (आगात्) आता है।

वयन्ती—वेञ् तन्तु सन्ताने। वयन्ती गच्छन्ती (पृथिवी) वी गति व्याप्ति. स्वामी दयानन्द।
समव्यत्—सम्-व्येञ् संवरणे संव्ययति संवृणोति संवेष्टयति।

शक्म—कर्म नाम निघ २।१

अदर्धः—अदर्द-दृविदारणे

कर्तोः—कर्म नाम निघ २।१

संहाय—सम्पूर्वो जहाति शय्यापरित्यागे वर्तते । तथा च श्रूयते "कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।" सायणाचार्य

जिस प्रकार वस्त्र बुनने वाली स्त्री फैले वस्त्र को समेट लेती है उसी प्रकार यह रात्रि दिन में फैले प्रकाश तथा जगत् के सब पदार्थों को समेट लेती है। अर्थात् उस समय प्रकाश के अभाव में सब पदार्थ दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। धीर कर्मठ व्यक्ति भी अपने शक्तिशाली कर्मों से उपरत हो जाते हैं। प्रातःकाल होने पर शय्या परित्याग कर फिर उठ खड़े होते हैं। और अपने-अपने कार्यों में जुट जाते हैं। यह सब सविता देव के व्रत व नियम के अनुरूप जगत् व्यवहार चल रहा है।

महर्षि दयानन्द ने 'वयन्ती' पद से गति करती हुई पृथिवी का ग्रहण किया है। यह पृथिवी आकाश के मध्य निरन्तर गति कर रही है जो प्राणी व पदार्थ उसकी गोद में विराजमान हो अपने-अपने कार्यों में जुटे हैं, शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, उन सबको यह धारण करती है। एक देश से दूसरे देश में गति करने के कारण सूर्य परिक्रमा से इस पृथिवी पर विविध ऋतुएँ होती है। यह सब सविता तथा पृथिवी के सामञ्जस्य पूर्वक सहयोग पर निर्भर है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द का इस मन्त्र का अर्थ बहुत युक्ति युक्त व सुन्दर है।

२२ **नानौकांसि दुर्यो विश्वमायु र्वितिष्ठते प्रभवः शोको अग्नेः ।**
ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधादन्वस्य केतमिषितं सवित्रा ॥५॥

(अग्नेः) अग्नि का (दुर्यः) इन्द्रिय द्वार में विद्यमान अथवा पदार्थों के स्व-स्थान में स्थित (प्रभवः) प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न (शोकः) तेज (नानौकांसि) शरीराभ्यन्तर्वर्ती नानास्थानों में या वस्तुओं में (विश्वमायुःवितिष्ठते) समग्र आयु भर विराजमान रहता है। (माता) शरीर व पृथिवी माता (ज्येष्ठं भागं) श्रेष्ठ भाग को (सूनवे) इस पुत्र रूप अग्नि के लिये (आधात्) रखती है। (अस्य) इस अग्नि का (केतं) प्रज्ञापक तेज व विज्ञान (सवित्रा) सविता ने (अनुइषितम्) अनुकूलता से प्रेषित किया है अर्थात् अग्नि का तेज सूर्य से ही आया है।

दुर्यः—द्वारेषु भवः

प्रभवः—प्र + भू—समुत्पन्नः

शोकः—तेजः—शुच्दीप्तौ

मानव शरीर में जब तक अग्नि विद्यमान है वह जीवित रहता है। पृथिवी भी तभी तक है जब तक उसमें अग्नि है। यह अग्नि शरीर व पृथिवी के विभिन्न स्थानों में अपना कुछ-कुछ वैशिष्ट्य लिये हुये होती है। यह सविता के कारण है।

२३ **समाववर्ति विष्ठितो जिगीषु र्विश्वेषां काम श्चरतामगा भूत् ।**
शश्वां अपो विकृतं हित्व्यागादनु व्रतं सवितु र्दैव्यस्य ।।६।।

जब आगे बढ़ने के लिये सविता देव की प्रेरणा नहीं रहती तब (जिगीषु:) विजयशील योद्धा (विष्ठित:) रणाङ्गण में विशेष रूप में स्थित हुआ भी (समाववर्ति) लौट पड़ता है। (विश्वेषां चरतां) सम्पूर्ण गतिशील प्राणियों की (काम:) कामना (अमा भूत्) घर पहुँचने की होती है। (शश्वान्) कर्मठ व्यक्ति भी (विकृतं अप:) अपूर्ण कार्य को भी (हित्वी) छोड़कर (आगात्) आता है यह सब (सवितुर्दैव्यस्य) सविता देव के (अनुव्रतं) व्रत के अनुकूल होता है।

द्वितीय अर्थ—दृढ़ व स्थिरचित्त विजयशील योद्धा (अमा) घर में सम्यक् प्रकार से व्यवहार करने वाला होता है और विश्व में समग्र प्राणियों का कमनीय होता है। वह क्षिप्रकारी व्यक्ति विकृत कर्म को छोड़कर सविता देव के अनुकूल व्रत को प्राप्त करता है।

समाववर्ति—सम + आ + वृतुवर्तने
विष्ठित:—वि + स्थित:
अमा—गृहनाम + निघ ३।४, निघ ११।४२
शश्वान्—शश प्लुत गतौ धातो: क्विबन्तान्मतुप्
शीघ्रगतिमान—स्वामी दयानन्द

२४ **त्वया हितमप्यमप्सु भागं धन्वान्वा मृगयसो वि तस्थु: ।**
वनानि विभ्यो नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति ।।७।।

हे सविता देव: (त्वया) तूने (अप्सु) जलों में (अप्यं भागं) सर्व प्रकार के रस रूपी जलीय तत्व (हितम्) रक्खे हैं। और (धन्व अनुआ) अन्तरिक्ष में, तथा मरु भूमि में भी स्थापित किये हैं (मृगयस:) उस जल तत्व का मार्गण अन्वेषण करने वाले जलोपलब्धि के लिये (वितस्थु:) कटिबद्ध होते हैं। और तूने ही (विभ्य:) पक्षियों के लिये (वनानि) वन बनाये हैं। (अस्य) इस (सवितु: देवस्य) सविता देव के (तानि व्रता) उन व्रतों को (नकि: मिनन्ति) कोई भी हिंसित नहीं कर सकता।

अप्यम्—अप्सुभवम् "अप्सुश्रृतमद्भ: संस्कृतमिति वा निरु: ११।४।३९
धन्व—धन्वान्तरिक्षं धन्वन्त्यस्मादाप: निरु ५।१।२७
धविगत्यर्थ: (भ्वादि०)
धन्व शब्दोंन्तरिक्षवाचक: धनुर्वाचक: मरुभूमिवाचकश्च।
मृगयस—मार्ष्टिर्गतिकर्मा-निघ २।१४
मिनन्ति—मिनोति वधकर्मा निघ २।१३
गति कर्मा निरु २।१४

२५ याद्राध्यं वरुणो योनिमप्यमनिशितं निमिषि जर्भुराणः ।
विश्वो मार्तण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः ॥८॥

(वरुण.) वरुण भगवान् (निमिषि) जीवों के निमेष काल अर्थात् मृत्यु के समय (याद् राध्यं) यहाँ से जाने वालों से साध्य किये गये (अनिशितं) अतीक्ष्ण व मृदु (अप्यं योनिं) जल वाले आकाशीय स्थान को (जर्भुराणः) धारण करने वाला है। जिस प्रकार (पशुः व्रजं आगात्) पशु अपने वाड़े में आ जाता है उसी प्रकार (विश्वःमार्तण्डः) सौरमण्डल में उत्पन्न समग्र जीव अपने-अपने स्थानों में आ पहुँचते हैं, उनके (स्थशः) नानाविध स्थानों को तथा (जन्मानि) जन्मों को (सविता व्याकः) सविता विशेष रूप से प्रदान करता है।

याद् राध्यम्—यातां अन्तर्गच्छतां राध्यं संराधनीयम्-वेङ्कट परलोकं प्रति यातां गच्छतां राध्यं साध्यम्

अप्यम्—अप्सु भवम्

जर्भुराणः—भृशं धारयन्

मृत्यु के अनन्तर जीव आकाश में स्थित जल तत्व या वायुतत्व में पहुँचता है। मनुष्य ने अपने जीवन में जैसी-जैसी आराधना व कामना की होती है तदनुकूल कर्म किये होते हैं वैसी ही योनि प्राप्त करता है। सौरमण्डल में समग्र प्राणि जगत् कर्मानुसार अपने शरीर रूपी व्रज=बाड़े में पहुँचता है। उनके स्थानों, शरीरों व जन्मों का नियामक व प्रदाता सविता भगवान है। यह मन्त्र रात्रि निद्रा काल में भी घटाया जा सकता है।

२६ न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ।
नारातयस्तमिदं स्वस्ति हुवे देवं सवितारं नमोभिः ॥९॥

(यस्य व्रतं) जिस सविता भगवान् के व्रत व नियम को (इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा रुद्रः) इन्द्र वरुण मित्र, अर्यमा तथा रुद्र (न मिनन्ति) ये कोई नहीं हिंसित कर सकते, तोड़ सकते, और (न अरातयः) न कोई शत्रु नष्ट कर सकते, ऐसे (तं इदं देवं सवितारं) उस सविता देव को मैं (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (स्वस्ति हुवे) कल्याण के लिये आह्वान करता हूँ।

यह मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट है। इन्द्रादि सब देवों से यह सविता सर्वोत्कृष्ट है।

२७ भगं धियं वाजयन्तः पुरन्धिं नराशंसो ग्नास्पतिर्नो अव्याः ।
आये वामस्य सङ्गथे रयीणां प्रिया देवस्य सवितुः स्याम ॥१०॥

हम (भगं) ऐश्वर्य को तथा (पुरन्धि धियं) बहु विद्यादि धारिणी बुद्धि को

(वाजयन्तः) वेगयुक्त करते रहें। (नराशंसः) नराशंस अग्नि तथा (ग्नास्पतिः) वाणी का स्वामी (नः अव्याः) हमारी रक्षा करे। (वामस्य) वान्छनीय तथा श्रेष्ठ ऐश्वर्य के (आये) आगमन में तथा (रयीणां संगथे) अन्य ऐश्वर्यों के संगम में हम (देवस्य सवितुः) सविता देव के (प्रियाः स्याम) प्रिय हों।

पुरन्धिम्—पुरंदधातीति-बहुधी नि ६।१३

नराशंसः—नरैः शंसनीयः (अग्निः)

ग्नास्पतिः—छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति श. प. ५।५।४।७

उतग्ना व्यन्तु देवपत्नीः ऋ० ५।४६।८ देवपत्नी गमनादयः नि. १०।४७

वाङ् नाम निघ १।११

नराशंस वह अग्नि है, वह दृढ़ संकल्प है जिसकी मनुष्य प्रशंसा करें। मनुष्य की अपने अन्दर की सब नेतृशक्तियाँ भी जिस अग्नि की प्रशंसा करे वह नराशंस कहाती है। नराशंस अग्नि के प्रभाव से मनुष्य पतित नहीं होता। क्योंकि विषयों में भागने वाली सभी इन्द्रिय वृत्तियां उसके अनुशासन में रहती हैं।

२८ अस्मभ्यं तद्दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राधआगात्।
शं यत् स्तोतृभ्य आपये भवात्युरुशंसाय सवितर्जरित्रे ॥११॥

हे सविता (अस्मभ्यं) हमें (दिवः अद्भ्यः पृथिव्याः) द्युलोक, अन्तरिक्ष पृथिवी आदि तीनों लोकों का (त्वया दत्तं) तेरे द्वारा दिया गया (तत् काम्यं राध आगात्) वह अभीष्ट धन प्राप्त हो। हे सविता देव (स्तोतृभ्यः) स्तोताओं (आपये) विद्या आदि सद् गुणों में व्याप्त (उरुशंसाय) अत्यन्त प्रशंसनीय तथा (जरित्रे) अर्चना वाले इन सब व्यक्तियों का (शं भवाति) कल्याण होवे।

यह सविता स्तोता, आपि, उरुशंस तथा जरिता इन सबका कल्याण करता है। वह द्युलोक से सूर्य द्वारा, अन्तरिक्ष से वायु द्वारा, तथा पृथिवी लोक से अग्नि द्वारा आधभौतिक व आध्यात्मिक आदि ऐश्वर्य तथा शक्ति प्राप्त होती है। वह सब सविता भगवान की कृपा से ही प्राप्त होती हैं।

३ म० ६२ सू० । १०—१२

ऋषिः—गाधिनो विश्वामित्रः। देवता-सविता। छन्दः गायत्री।

२९ तत् सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ।१०।

उस सविता देव के वरणीय तेज का हम ध्यान करते हैं जो कि हमारी बुद्धियों को प्रेरित करता है।

३० देवस्य सवितुर्वयं वाजयन्तः पुरन्ध्या । भगस्य रातिमीमहे ।११।

(वयं) हम (सवितुः देवस्य) सबके प्रेरक सविता देव की (पुरन्ध्या) बहुत ज्ञान विज्ञान को धारण करने वाली बुद्धि से तथा ध्यान से (वाजयन्तः) अपने आप को वेग युक्त करते हुए (भगस्य रातिम्) सौभाग्यशाली ऐश्वर्य का दान (ईमहे) चाहते हैं, माँगते हैं अर्थात् हम उस सविता देव का बहुत ध्यान करें और वह हमें ऐश्वर्य प्रदान करें।

३१ देवं नरः सवितारं विप्रा यज्ञैः सुवृक्तिभिः । नमस्यन्ति धियेषिताः ।१२।

(धियेषिताः) बुद्धि से प्रेरित (नरः विप्राः) बुद्धिमान् मनुष्य (देवं सवितारं) उस सविता देव को (सुवृक्तिभिः यज्ञैः) सुवर्जनीयैः श्रेष्ठ रूप में पापों का वर्जन करने वाले यज्ञों से (नमस्यन्ति) नमस्कार करते हैं अर्थात् सविता देव को नमन करते हैं।

इन तीन मन्त्रों में जो उपदेश दिया गया है, संक्षेप में वह यह है कि गायत्री का जप करना, इससे बुद्धि में सूक्ष्मता, वेग की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य की याचना की गई है। और तीसरे मंत्र में अपने दोषों को दूर करते रहने का उपदेश दिया है।

ऋ० ४ । ५३

ऋषिः— वामदेवो गौतमः । देवताः—सविता । छन्दः—जगती ।

३२ तद् देवस्य सवितुर्वार्यं महद् वृणीमहे असुरस्य प्रचेतसः ।
छर्दिर्येन दाशुषे यच्छति त्मना तन्नो महाँ उदयान् देवो अक्तुभिः ।१।

(असुरस्य) प्राण प्रद तथा बलवान् (प्रचेतसः) प्रकृष्ट चितेरे तथा श्रेष्ठ ज्ञानी (सवितुः देवस्य) सविता देव के (तत्) उस (महत्) महान (वार्यम्) वरणीय तेज का हम (वृणीमहे) वरण करते हैं (येनत्मना) जिस अपने तेज से वह (दाशुषे) दाश्वान् पुरुष को (छर्दिःयच्छति) तेज रूपी आश्रय प्रदान करता है (तत्) वह (महान् देवः) महान देव (नः) हमें (अक्तुभिः उदयान्) रात्रियों से उदित करें अर्थात् रात्रि अंधकार तथा अज्ञान से ऊपर उठावे।

छर्दिः—गृहनाम निघ ३।४, छर्दिरिति तेजोनाम । सायणाचार्य । प्रदीप्तेन, प्रकाशेन, सत्यासत्य दीपकेन । स्वामी दयानन्द । अक्तुः रात्रिर्नाम ।

अध्यात्म में सविता रूपी दिव्य सूर्य के उदय से पूर्व गहन अंधकार वाली रात्रि होती है। जो व्यक्ति अपने आप को सविता भगवान के प्रति समर्पित कर देता है उसको भगवान 'छर्दि' ज्योतिर्मय छत प्रदान करता है अर्थात् उसे अपने आश्रय में ले लेता है।

३३ दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रतिमुञ्चते कविः।
विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत् सविता सुम्नमुक्थ्यम् ॥२॥

(दिवः) द्युलोक का (विशेष रूप में) तथा (भुवनस्य) समग्र भुवनों का (धर्ता) धारण करने वाला (प्रजापतिः) प्रजा पालक (कविः) क्रांतदर्शी वह सविता (पिशङ्गं द्रापिं) हिरण्यमय अथवा चितकबरे कवच को (प्रतिमुञ्चते) बाँधता है अथवा उठाता है। (विचक्षणः) बुद्धिमान् वह द्रष्टा (प्रथयन्) अपने को किरणों द्वारा फैलाता हुआ और (आपृणन्) पूरण करता हुआ (उक्थ्यम्) उत्थान के साधन (उरु) विस्तृत (सुम्नम्) सुख को (अजीजनत्) पैदा करता है।

पिशङ्गं – विचित्र रूपं-सुवर्णादि वर्ण युतम्। स्वामी दयानन्द, द्रापिम्-कवचम्

सविता का अपना लोक द्युलोक है, जो कि सबसे ऊर्ध्व में माना गया है। इसलिए समग्र भुवनों के धारण में द्युलोक का पृथक् निर्देश कर दिया है। इस मंत्र में सविता का प्रजापति रूप अर्थात् प्रजनन का कार्य प्रमुख है। इस सृष्टि में विशेष कर पृथ्वी पर नाना रूप व रंगों (पिशङ्ग) की उत्पत्तियाँ निरन्तर हो रही हैं। एक प्रकार से सविता भगवान ने इस पृथ्वी को नाना रूप रंगों की ओढ़नी उढ़ा रखी है।

सुम्नमुक्थ्यम्—उक्थ्य उत्थान से सम्बन्ध रखता है। उत्थान करते हुए एक ऐसा स्तर आता है जबकि मनुष्य सांसारिक सुखों की अपेक्षा उन्नति व दिव्य उत्थान में अधिक सुख मानता है। यदि सांसारिक सुखों की अपेक्षा अन्य कोई दिव्य सुख न हो तो मनुष्य उत्थान के लिये प्रयत्न ही क्यों करें?

३४ आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।
प्रबाहू अस्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन्नक्तुभिर्जगत्॥३॥

(देवः) यह सविता देव (दिव्यानि पार्थिवा रजांसि) दिव्य तथा पार्थिव लोकों को (आप्रा) व्याप्त किए हुए है और (स्वाय धर्मणे) स्व धर्म के लिए (श्लोकं कृणुते) वेद वाणी का निर्माण करता है। यह सविता (सवीमनि) उत्पत्ति या प्रेरणा में (बाहू) अपनी बाहुओं को (प्र अस्राक्) फैलाता है। (अक्तुभिः) रात्रियों अथवा प्रलय कालीन रात्रियों द्वारा (जगत्) इस संसार को (निवेशयन्) प्रलय कालीन तम में निवेशित करता और फिर (प्रसुवन्) उत्पत्ति समय प्रकट करता है।

आप्रा—आपूरयति, आ + अप्रा × प्रा।पूरणे

अस्राक् – सृज् विसर्गे

इस सविता ने दिव्य व पार्थिव जितने भी लोक हैं उनको अपने रूप व शक्ति से भरा हुआ है। इनमें (स्वाय धर्मणे) अपने रूप व शक्ति आदि के धारण के लिए श्लोक—वेद वाणी का निर्माण किया है। जिसकी निरन्तर ध्वनि होती

रहती है। इस सविता के हाथ सर्वत्र हैं जिससे सृष्टि में चहु ओर निर्माण होता रहता है। ये ही हाथ संसार को विलीन करते और निर्माण करते रहते हैं। सामान्य रात्रि हो चाहे प्रलयकालीन रात्रि हो जगत का उद्‌भव व प्रलय होता रहता है।

३५ अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशद् व्रतानि वेवः सविताभिरक्षते।
प्रास्राक् बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो धृतव्रतो महोअज्मस्य राजति।४।

(अदाभ्यः) अदम्य वह (देवः सविता) सविता देव (भुवनानि प्रचाकशद्) लोकों को प्रकाशित करता हुआ (व्रतानि अभिरक्षते) अपने व्रतों व कर्मों की रक्षा करता है और अन्यों से करवाता है। (भुवनस्य प्रजाभ्यः) इस ब्रह्माण्ड की प्रजाओं के लिए (बाहू प्रास्राक्) अपनी बाहुओं को फैलाता है। (धृतव्रतः) व्रत को धारण करते हुए यह (अज्मस्य) महान् मार्ग, बल तथा गृह में (राजति) विराजमान होता हैं।

अज्मस्य-बलस्य-अजन्ति प्रक्षिपन्ति शत्रून् येन तं बलम्। अज्मनि- पथि।
स्वामीदयानन्द

अज्म इति संग्रामनाम निघ० २।१७। अजन्ति, गच्छन्ति यस्मिन् तं मार्गं अज्म इति गृहनाम निघ० ३।४

३६ त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्रोदिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति त्रिभि र्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना।५।

यह सविता (महित्वना) अपनी महिमा से (त्रिः अन्तरिक्षं) तीन अन्तरिक्ष स्थानों को (त्री रजांसि) तीन लोकों को तथा (त्रीणि रोचना) तीन ज्योतियो को (परिभूः) चहुँ ओर से अभिव्याप्त किए हुए है। (तिस्रः दिवः) तीन द्युलोकों तथा (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों को (इन्वति) व्याप्त कर लेता है। (त्मना) आत्म-शक्ति से (त्रिभिः व्रतैः) तीन व्रतों द्वारा (नः अभिरक्षति) हमारी रक्षा करता है।

तीन पृथिवी अन्तरिक्ष आदि कौन से हैं—यह विचारणीय है।

तीन लोक—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक।

तीन रोचना—अग्नि, विद्युत, सूर्य।

तीन द्युलोक—उदन्वती, पीलुमती, प्रद्यौः।

तीन पृथिवियाँ—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय।

तीन व्रत—तीनों लोकों की दृष्टि से तीन प्रकार के व्रत हैं अथवा सत्व, रजस् तथा तमस् के आधार पर तीन प्रकार के व्रत हो सकते हैं।

३७ बृहत् सुम्नः प्रसवीता निवेशनो जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी।
स नो देवः सविता शर्म यच्छत्वस्मे क्षयाय त्रिवरूथमंहसः।६।

(बृहत्) महान् (सुम्नः) सुख स्वरूप (प्रसवीता) उत्पादक (निवेशनः) सब में

प्रविष्ट (जगतः स्थातुः) जंगम तथा स्थावर (उभयस्य) उभय विध प्राणियों को (यः) जो (वशी) वश में करने वाला है (सः सविता देवः) वह सविता देव (नः शर्म यच्छतु) हमें सुख व शरण देवें। (अस्मेक्षयाय) हमारे निवास के लिये (त्रिवरूथं) तीन गृहों को (अंहसः) पाप से बचायें।

सुम्नः—सु + मनु अवबोधने जब मनुष्य में सुन्दर व प्रसाद गुण का अवबोधन होता है, तो वह इस सविता के कारण ही होता है।

निवेशनः—पद के दो भाव हो सकते हैं एक तो वह सबके अन्तस्तल की गहराइयों में प्रविष्ट हुआ है। दूसरे वह जब मनुष्य पर कृपा करता है तो उसे अन्दर में प्रविष्ट कराता है अर्थात् अन्तर्मुखी बनाता है। त्रिवरूथम्-जीवात्मा के तीन घर हैं। उदर, हृदय, मस्तिष्क या स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर या सत्व, रजस्, तमस् ये त्रिगुण। शर्म-उस सुख को कहते है जो भगवान् की शरण में जाकर मिलता है।

३८ आगन्देव ऋतुभिर्वर्धतु क्षयं दधातु नः सविता सुप्रजामिषम्।
सनः क्षपाभिरहभिश्च जिन्वतु प्रजावन्तं रयिमस्मे समिन्वतु ॥७॥

(देवः सविता) वह सविता देव (ऋतुभिः आगन्) ऋतुओं के साथ आवे (क्षयं वर्धतु) गृह व निवास का विस्तार करे (नः सुप्रजां इषं दधातु) हमें उत्तम सन्तति तथा अन्न प्रदान करे (सः) वह (नः) हमारा (क्षपाभिः अहभिः) रात्रियों व दिनों से (जिन्वतु) प्रीणन करे और (अस्मे) हमें (प्रजावन्तं रयिं समिन्वतु) प्रजायुक्त रयि को प्राप्त करावे।

जिन्वतु—प्रीणयतु सुखयतु वा। जिन्वति गति कर्मसु पठितम् निघः २।१४
प्रीतिकर्मा, निघ. ६।२३। जिन्व यजमानं मदेनेति। श. प. १२।८।१।४

यह सविता ऋतुओं के साथ आता है। वाह्य भौतिक क्षेत्र में तो यह शाश्वत नियम स्पष्ट है ही परन्तु आध्यात्मिक क्षैत्र में भी यह विवाद से परे है। मनुष्य के जीवन में समय-समय पर उस सविता भगवान की प्रेरणा मनुष्य में भिन्न-भिन्न ऋतुओं की जननी होती है। हमारा यह स्थूल, सूक्ष्म रूप व निवास उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। इसका प्रकाशित व दिव्य बनना तथा उत्तरोत्तर विस्तृत होते जाना 'क्षयं वर्धतु' का भाव है।

ऋ. ४।५४

ऋषिः—वाम देवो गोतमः। देवता सविता। छन्दः जगती ६ त्रिष्टुप्

३९ अभूद देवः सविता वन्द्यो नु न इदानी मह्न उपवाच्यो नृभिः।
वि यो रत्ना भजति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविण यथादधत् ।१।

(सविता देवः) वह सविता देव (नु) निश्चय से (नः वन्द्यः) हमारा वन्दनीय हुआ है। (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (इदानीम्) अब (अह्नः) दिन के तीसरे सवन में अर्थात् साय काल के यज्ञ में (नः) हमारे द्वारा (उपवाच्यः) समीप पहुँच कर स्तुति के योग्य है। (यः) जो सविता (मानवेभ्यः) मनुष्यों को (रत्ना) रमणीय भौतिक तथा आध्यात्मिक धनों को (विभजति) विभाग करके देता है। हमें भी उसकी ऐसी स्तुति करनी चाहिये कि (यथा) जिससे (अत्र) इस संसार में (नः) हमें (श्रेष्ठम् द्रविणं दधात्) श्रेष्ठ धन प्रदान करे।

उपवाच्यः—उप समीपे वाच्यः स्तुत्यः। 'अह्न' से यहाँ दिन का तृतीय सवन सम्बन्धी काल लिया गया है। यह सविता मनुष्यों को दिव्य तथा भौतिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्य विभक्त करके देता है। किस को कितना देना है, कितना नहीं यह सविता जानता है।

४०. देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्
आदिद् दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः ।२।।

वह सविता देवता (प्रथमं) सर्वप्रथम (यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः) यज्ञिय देवों के लिये (उत्तमम्) उत्तम (अमृतत्वम् भागं) अमृत का भाग (सुवसि) प्रदान करता है। (आदित्) इसके पश्चात् (सवितः) हे सविता देव तुम (दामानं) अपने को समर्पित करने वाले भक्त को (व्यूर्णुषे) उद्घाटित तथा प्रकाशित कर देते हो अर्थात् उसकी सब दिव्य शक्तियों तथा आतमस्वरूप को प्रकट कर देते हो और (मानुषेभ्यः) सामान्य मनुष्यों के (जीविता) जीवनों को (अनुचीना) आनुक्रमिक रूप से प्रकट करते हो अर्थात् उत्पत्ति शैशव, यौवन वृद्धत्व आदि स्थूल विभागों को तथा सूक्ष्म सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तथा उच्च उच्चतरादि जीवनों को प्रकट करते हो।

अनुचीना—अनुक्रमेण अञ्चन्ति व्याप्नुवन्ति यानि तानि।

दामानम्—दातारम् समर्पयितारम्।

संसार में सर्वोत्तम भाग अमृतत्व का है। वह सविता देव इस अमृत भाग को उन्हें प्रदान करता है—जो अपने जीवन में यज्ञियकर्म अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करते हैं। दूसरे जो व्यक्ति अपने आपको भगवान के अर्पित कर देता है। उसके रज और तम अर्थात् अज्ञान को विनष्ट कर उसकी आतम ज्योति को उद्घाटित कर देता है, उसके सब प्रकार के आवरण विनष्ट हो जाते हैं। सामान्य मनुष्यों को उनके कर्मानुसार ऐश्वर्य का विभाग करके देता है और उनके जीवनों में उतार चढ़ाव होता रहता है।

व्यूर्णुषे–वि + ऊर्णुञ् आच्छादने इस क्रिया में वि उपसर्ग के कारण दो अर्थ हो सकते हैं। एक आच्छादन को दूर करना तथा दूसरा विशेष आच्छादन पैदा करना। आच्छादन रहित अर्थ में मनुष्य की अन्तरात्मा व उसकी ज्योति को आवृत करने

वाले तम रज और उन से उत्पन्न वृत्र और बल आदि आसुरी शक्तियों को विभक्त करना होता है । दूसरे अर्थ में वह सविता देव अपनी ज्योति से भक्त को विशेष रूप से आच्छादित कर देता है जिससे भक्त को सर्वत्र भगवान ही भगवान दृष्टि गोचर होते हैं ।

४१. **अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूती पुरुषत्वता ।**
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः ।३।।

(अचित्ती) अज्ञान से (दीनैः) दीनताओं से (दक्षैः) दक्षताओं से और (प्रभूती) प्रभूत ऐश्वर्य के होने से (पुरुषत्वता) पौरुष के अभिमान से (यत्) जो पाप हमने (दैव्येजने) देवों में परिगणित जन पर (चकृमा) किया है । (देवेषु च मानुषेषु च) मनुष्यों पर किया है अर्थात् जो पापाचरण एवं अपराध देवों तथा हमने इनके प्रति किया है (सवितः) हे सविता देव (त्वं) तू (अत्र) इस विषय में (नः) हमें (अनागसः सुवतात्) निष्पाप बना दे ।

मनुष्य देव जनों तथा अपने साथी सामान्य जनों के प्रति जो एक अत्याचार व पाप किया करता है एक तो उसमें उसका अपना अज्ञान कारण होता है । वह भूल से या अज्ञान से यह समझ बैठता है कि इस व्यक्ति ने मेरा अपकार किया है, मुझे हानि पहुंचाई है । दूसरा कारण मनुष्य की दैन्य अवस्था होती है कहा भी है "बुभुक्षितः किन्न करोति पापम् अर्थात् भूखा आदमी क्या पाप नहीं कर बैठता है । तीसरा कारण उसकी अपनी दक्षता दूसरों को धोखा देकर अपनी कुशलता का सिक्का जमाना तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करना होता है । चौथा—उसका धनाधिक्य का मद, होता है । पांचवां पौरुष का अभिमान होता है । इसमें दक्षता का सम्बन्ध बुद्धि से है तथा पौरुष का सम्बन्ध मन तथा शरीर से है । इन सब उपरोक्त पापों से मनुष्य का छुटकारा सविता की कृपा पर निर्भर है ।

४२. **न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद् यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति ।**
यत् पृथिव्या वरिमन्ना स्वङ्गुरिर्वर्ष्मन् दिवः सुवति सत्यमस्यतत् ।४।।

(यथा) जैसे अथवा जिस शक्ति द्वारा वह सविता (विश्वम् भुवनं धारयिष्यति) समग्र भुवन को धारण करता है (दैव्यस्य सवितुः) देवों में अभिव्याप्त सविता का (तत्) वह व्रत (न प्रमिये) हिंसित नहीं होता । '(स्वङ्गुरिः) शोभन अंगुलिवाला वह सविता (पृथिव्याः वरिमन्) पृथिवी की वरिमा निमित्त (यत्) जो (आसुवति) प्रेरित करता है व उत्पन्न करता है (तत् अस्य सत्यम्) उसका वह कर्म सत्य ही होता है ।

प्रमिये—प्र + मिञ्, हिंसायाम्

वरिमन् (पृथिवी—वरिमा—वरणीयता, सौन्दर्य व श्रेष्ठता आदि। वर्ष्मन् (द्यु.)—वृष्टि व बल का वाचक है।

पृथिवी को वरिमा बनाने तथा द्युलोक से वृष्टि कराने में उसकी जो प्रेरणा होती है वह निश्चित होती है, वह कभी टलने वाली नहीं होती। वह सत्य ही होती है कोई भी शक्ति संसार में ऐसी नहीं है जो उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर सके। उसने जो कर्म कर दिया उसको कोई विनष्ट नहीं कर सकता।

४३. **इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः।**
यथा यथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते।५॥

हे सविता देव। (पस्त्यावतः) घर वाले (इन्द्र ज्येष्ठान्) इन्द्र है जिसमें श्रेष्ठ ऐसे देवों को (एभ्यः बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः) इन बृहद् द्यौ सम्बन्धी पर्वतों पर आरोहण के लिए (क्षयान्) इनके निवास गृहों को तुम (सुवसि) प्रेरित व पैदा करते हो। ये इन्द्र आदि देव (यथा यथा) जैसे जैसे (पतयन्तः) गति करते हुए या ऊँचाईयों पर चढ़ते हुए (वियेमिरे) अपने आपको विशिष्ट नियन्त्रण में रखते हैं। (एवैव) वैसे वैसे ही हे सविता (ते सवाय तस्थुः) तेरी प्रेरणा लेने के लिए वे उपस्थित रहते हैं।

इन्द्र दिव्यमन हैं। यह आन्तरिक देवों में ज्येष्ठ व श्रेष्ठ है। ये इन्द्रादि देव जब (पस्त्यावान्) बनते हैं अर्थात् अपने अपने घरों में स्थानों में जाग्रत हो जाते हैं तब सविता देव इन्हें बृहत् सम्बन्धी पर्वतों पर आरोहण के लिए तथा वहाँ निवास (क्षय) करने के लिए प्रेरित करता है और जैसे जैसे ये गति करते हुए अपने को विशेष नियम व नियन्त्रण में रखते हैं वैसे-२ सविता की अनुज्ञा व प्रेरणा इन्हें प्राप्त होती जाती है।

बृहत् द्युलोक को कहते हैं (द्यौ र्वै बृहत्) द्युलोक की सबसे ऊँची चोटी पर्वत शब्द से कही गयी है। पिण्ड में द्युलोक मस्तिष्क है। मस्तिष्क में इन्द्रादि देवों का अपना अपना विशिष्ट स्थान है।

४४. **ये ते त्रिरहन्त्सवितः सवासो दिवे दिवे सौभगमासुवन्ति।**
इन्द्रो द्यावा पृथिवी सिन्धुरद्भि आदित्यै र्नो अदितिः शर्मयंसत्।६।

हे सविता देव! (अहन्) दिन में (ये ते त्रिः सवासः) जो तेरे तीन सवन हैं वे (दिवे दिवे) प्रतिदिन हमें (सौभगमासुवन्ति) सौभाग्य प्रदान करते हैं। (इन्द्रः) इन्द्र (द्यावा पृथिवी) द्यावा पृथिवी से, (सिन्धुः) समुद्र (अद्भिः) जलों से, (अदितिः) देव माता (आदित्यैः) आदित्यों से, (नः शर्मयंसत्) हमें सुख प्रदान करे।

त्रिः सवासः—प्रातः सवन, माध्यन् दिन सवन और तृतीय सवन।

द्यावा पृथिवी—द्यावा पृथिवीभ्यां—विभक्ति व्यत्ययः। पिण्ड-शरीर का ऊर्ध्व तथा अधो भाग।

सिन्धु—आन्तरिक समुद्र अथवा चेतना का समुद्र
अद्भिः—आन्तरिक जल जिनके माध्यम से यह चेतना प्रवाहित होती है।
अदितिः—सूक्ष्म शरीर तदन्तर्गत दिव्य शक्तियाँ आदित्य हैं।

ऋ. ५।८१

ऋषिः – श्यावाश्व आत्रेयः। देवता-सविता। छन्दः गायत्री १ अनुष्टुप्

४५. **युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।**
विहोत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।१।

(विप्राः) विप्र लोग (विप्रस्य बृहतः विपश्चितः) उस महान् बुद्धिमान विप्ररूपी परमात्मा के अन्दर (मनः युञ्जते) अपने मन को युक्त करते हैं (उत) और (धियः युञ्जते) बुद्धियों को युक्त करते हैं। (वयुनावित्) हमारे सब कार्यों को जानने वाला वह भगवान् (एक इत्) अकेला ही (होत्रा विदधे) सृष्टि-यज्ञ तथा शरीर-यज्ञ के सब अङ्गों को नियम व विधान के अनुसार रखता है। (सवितुः देवस्य) उस सविता देव की यह (मही परिष्टुतिः) महान् स्तुति है अर्थात् स्तुति के योग्य कर्म है।

विप्र.—विविध प्रकोरण विशेषेण वा प्राति व्याप्नोति इति—अर्थात् जो सम्पूर्ण जगत में विविध प्रकार से तथा विशेष रूप में व्याप्त है।

विपश्चित— विपः चित् इति पूजायाम्। विविध प्रकोरण विशेषेण वा पाति रक्षति इति।

होत्रा—अङ्गानि वाव होत्राः। गो० उ० ६।६

४६. **विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीत् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।**
विनाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो विराजति।२।

(कविः) क्रान्तदर्शी वह सविता (विश्वारूपाणि) समग्र रूपों का (प्रतिमुञ्चते) प्रतिमोचन करता है। उसी ने (द्विपदे चतुष्पदे) दोपाए तथा चौपाये प्राणियों के लिए (भद्रम् प्रासावीत्) कल्याण को उत्पन्न किया है। वह (वरेण्यः सविता) वरणीय सविता (नाकं वि अख्यत्) स्वर्ग को प्रकाशित करता है। वह सविता (उषसः प्रयाणमनु) उषा के प्रयाण के पश्चात् (विराजति) विराजमान होता हैं अर्थात् उदय होता है।

यह मन्त्र सौरमण्डल में सूर्य के प्रति सामान्य रूप से लगता है। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में यह सामान्य जनों से ओझल कुछ तथ्यों की ओर निर्देश करता है जो इस प्रकार है—जब साधना द्वारा मनुष्य में सवितृ शक्ति क्रान्तदर्शी (कविः)

रूप वाली हो जाती है तो उसे ब्रह्माण्ड के समग्ररूप स्पष्ट हो जाते हैं। नाक लोक का स्वरूप क्या है यह भी ज्ञात हो जाता है। जिस प्रकार बाह्य भौतिक जगत में उषा के पश्चात् सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत में भी आत्म-रूपी सूर्य के उदित होने से पहले उषा आती है।

४७. यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ३।।

(अन्ये देवाः) इन्द्र आदि अन्य देव (इत्) निश्चयसे (यस्य प्रयाणमनु ययुः) जिसके प्रयाण के पीछे-पीछे चलते हैं और (देवस्य) उस सविता देव के (ओजसा) ओज से (महिमानम्) अपनी महिमा को प्राप्त करते हैं। (यः) जो (एतशः सविता) सर्वत्र अभिव्याप्त सविता देव (महित्वना) अपनी महिमा से (पार्थिवानि रजांसि) पार्थिव लोकों को (विममे) माप रहा है—निर्माण कर रहा है।

जिस प्रकार राजा के चलने पर अन्य राजकर्मचारी उसका अनुगमन करते हैं उसी प्रकार सविता देव का अन्य सब देवता अनुसरण करते हैं। सब देवों की अपनी शक्ति और महिमा इसी सविता देव के ओज के कारण है। इससे यह स्पष्ट है कि सब देवों में सविता ही श्रेष्ठ है।

४८. उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्रिमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः।४।

हे सर्वप्रेरक सविता देव तू (त्रीणि रोचना यासि) अग्नि-विद्युत और आदित्य तथा अग्नि, मन और बुद्धि इन तीन ज्योतिर्मय देवों के साथ सम्पर्क करते हो (उत) और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों के साथ (समुच्यसि) समवेत होते हो। (रात्रिमुभयतः परीयसे) रात्रि को दोनों ओर से घेरे हुए हो। (उत) और (देव) दिव्यगुणयुक्त सविता देव ! तुम (धर्मभिः) अपनी धारक शक्तियों से (मित्रः भवसि) सबके मित्र होते हो।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि सविता सूर्य में पार्थक्य है। सविता सूर्य की रश्मियों के साथ समवेत होकर सब जगत् में उत्पत्ति तथा प्रेरणा का कार्य करता रहता है। ऐसे सविता को हमें मित्र समझना चाहिए।

४९. उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देवयामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं विराजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे।५

(उत) और (त्वं एक इत्) तुम अकेले ही (प्रसवस्य ईशिषे) उत्पन्न जगत् के

ईश हो अथवा सब प्रेरणाओं के स्वामी हो। (उत) और हे देव तुम (यामभिः) अपनी गतियों से (पूषा भवसि) पूषा बनते हो अर्थात् पोषक होते हो। (उत) और (इदं भुवनं विराजसि) इस सम्पूर्ण विश्व में तुम विराजमान् हो। (हे सवितः) हे सविता देव (श्यावाश्वः) श्याव रंग के अश्वों वाली अग्नि ने (ते स्तोमं आनशे) तेरे वीर्य को प्राप्त किया है।

श्यावाश्वः—श्यावाः कृष्णशिखा अश्वाः यस्य सः अग्निः।

स्तोमम्—वीर्य वै स्तोमाः तां० २।५।४

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि संसार में सब प्रेरणाओं का वही एक मात्र स्रोत है। वही सबका स्वामी है। श्यवाश्व से अग्नि तथा सूर्य दोनों का ग्रहण हो सकता है। सूर्य में शक्ति व प्रकाश आदि सब उसी सविता की देन है। सूर्य से ही सब प्रकार की शक्ति अग्नि में आती है। इस प्रकार परम्परा से आगे २ संक्रान्त होने वाली शक्तियों का वही सविता आदि स्रोत हैं।

ऋ ५/८२

ऋषिः—श्यावाश्व आत्रेयः। देवता सविता। छन्दः १ निचृदनुष्टुप् २,४,९, निचृद गायत्री ३,५,६,७. गायत्री, विराड् गायत्री।

५० तत् सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्यधीमहि।१।

(वयं) हम (सवितुः देवस्य) सविता देव के (तत्) उस प्रसिद्ध (भोजनम्) भोजन और पालन शक्ति को (वृणीमहे) वरते हैं। और (भगस्य) ऐश्वर्य युक्त उस सविता के (श्रेष्ठं) श्रेष्ठ (सर्वधातमं) सबको अतिशय धारण करने वाले (तुरं) अविद्या दोष नाशक रूप का (धीमहिं) ध्यान करते हैं।

तुरम्–अविद्या दोष नाशकं सामर्थ्यम्/स्वामी दयानन्द

५१ अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम् ॥२॥

धार्मिक लोग (अस्यसवितुः) इस सविता का (प्रियम्) प्रिय (स्वयशस्तरम्) उसका अपना अत्यधिक यशस्वी जो (स्वराज्यम्) स्वराज्य है उसको (कच्चन) कभी भी (नमिनन्ति) हिंसित नहीं करते हैं अथवा धार्मिक लोग अपने आत्मोपलब्धि रूपी राज्य को जोकि प्रिय तथा अत्यधिक यश देने वाला है उसकी कभी भी हिंसा नहीं करते हैं।

५२ स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः। तं भागं चित्रमीमहे ॥३॥

(स) वह (सविता भगः) ऐश्वर्य शाली सविता देव (दाशुषे) आत्म समर्पण करने वाले भक्त को (हि) निश्चय से (रत्नानिसुवाति) रमणीय पदार्थों को प्रदान करता है। (तं चित्रं भागम्) उस अद्‌भुत भाग की हम (ईमहे) याचना करते हैं।

५३ अद्या नो देव सवितः ! प्रजावत् सावीः सौभगं । परा दु ष्वप्न्यम् सुव ॥४॥

(सवितः देव) हे सर्वप्रेरक सविता देव ! (अद्य) आज (नः) हमें (प्रजावत् सौभगं सावीः) सन्ततियुक्त सौभाग्य प्रदान कर और (दुःष्वप्न्यम् परासुव) बुरे स्वप्न से होने वाले परिणामों को दूर कर।

५४ विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आसुव ॥५॥

(देव सवितः) दिव्य गुण युक्त सर्वप्रेरक सविता देव। (विश्वानि दुरितानि परासुव) हमारे सम्पूर्ण दुष्कर्मों पापों और व्याधियों को दूर करो। (यद्भद्रम् तन्न आसुव) जो भद्र अर्थात् कल्याणकारी हो उसे हमें प्राप्त कराओ।

५५ अनागसो अदितये देवस्य सवितुः सवे । विश्वा वामानि धीमहे ॥६॥

(देवस्य सवितुः सवे) सविता देव की प्रेरणा होने पर हम (अनागसः) निष्पाप होकर (अदितये) देव माता अदिति के लिए हों और (विश्वा वामानि धीमहे) समग्र वाञ्छनीय तथा सुन्दर पदार्थों का हम ध्यान करें तथा धारण करें।

५६ आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तै रद्या वृणीमहे । सत्य सवं सवितारम् ॥७॥

(विश्वदेवम्) समग्र विश्व के देव (सत्पतिं) सज्जनों के पालक (सत्य सवं) सत्य के प्रेरक (सवितारम्) सविता देव को (अद्य) आज (सूक्तैः आवृणीमहे) श्रेष्ठ वचनों द्वारा उत्तम श्रुतियों द्वारा वरण करते हैं।

५७ य इमे उभे अहनी पुर एत्यप्रयुच्छन् स्वाधीर्देवः सविता ॥८॥

(यः) जो व्यक्ति (इमे उभे अहनी) प्रातः सायं इन दोनों कालों में (अप्रयुच्छन्) बिना प्रमाद के (पुरः एति) उस सविता देव के सामने पहुँचता हैं। (सविता देवः) वह सविता देव उस भक्त में (स्वाधीः) अपने आपको स्थापित करता है। अर्थात् उस भक्त में प्रगट होता है।

ऋ ६/७१

ऋषि—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः । देवता—सविता । छन्दः जगती ४, ६, त्रिष्टुप्

५८ उदुष्य देवः सविता हिरण्यया बाहू अयंस्त सवनाय सुक्रतु. ।
घृतेन पाणी अभिप्रुष्णुते मखो युवा सुदक्षो रजसो विधर्मणि ॥१॥

(स्य) वह (सुक्रतुः) सत् संकल्प तथा श्रेष्ठ यज्ञों का कर्त्ता (सविता देवः) सविता देव (सवनाय) सवन उत्पत्ति आदि के लिए (हिरण्यया बाहू) हिरण्यमय बाहुओं को (उत् अयंस्त) ऊर्ध्व में तानता है, सबको नियमित करता है (मखः) यज्ञ रूप छिद्र रहित तथा सर्वत्र अभिव्याप्त वह सविता (धृतेन) तेजोमय रससे (पाणी) अपने हाथों को (अभिप्रुष्णुते) संसिक्त करता है। (युवा) मिश्रण व अमिश्रण करने वाला (रजसः) लोकों अथवा प्राकृतिक परमाणुओं के (विधर्मणि) विशेष धारण सामर्थ्य में (सुदक्षः) कुशल है।

उदुष्य—उत् उ स्यः—सविता के लिए यह प्रयोग अनेक बार आया है। क्योंकि सविता का लोक ऊर्ध्वतम स्थान में माना गया है। अतः यह प्रयोग भी उसी तथ्य को परिपुष्ट करता है। ऊर्ध्वतम लोक में स्थित होकर वह अपनी हिरण्मय बाहुओं को ऊपर उठाता है और तेजोमय रस से हाथों को सानकर लोक लोकान्तरों में उस रस को निचोड़ता है अथवा वह पृथ्वी आदि लोकों में स्थित रसों से अपने हाथों को सानता है अर्थात् उन रसों को सोख लेता है। इसी तथ्य को कवि ने यों कहा है—सहस्र गुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।

मखः—वह सविता 'मख' है। 'मास्मिन् रवं छिद्रमिति' अर्थात् जिसमें स्वल्प सा भी छिद्र नहीं है। ऐसा कोई रिक्त स्थान नहीं है जहाँ वह ओत प्रोत न हो।

युवा—युवा पद का तात्पर्य यहाँ सामान्य यौवन से नहीं है। इसका रहस्य (यु मिश्रणामिश्रणयोः) मिश्रण तथा पार्थक्य में है। किसी पदार्थ की उत्पत्ति व स्थिति आदि में कुछ तत्व मिलते है और कुछ पृथक् होते है। इस प्रक्रिया को सतत रूप में यह सविता चालू रखता है। इसलिए वह युवा है।

सुदक्षः—सकुशल व वीर्यशाली इसका सामान्य अर्थ है। स्वैर्दक्षैर्दक्षगितेह सीदेति स्वेन वीर्येणेह सीदेत्येतत्, श. प. ८,२,१,६ ।

अभिप्रुष्णुते—अभि + प्रुष वर्षणे – सिञ्चति, स्नेहयति।

प्रुष प्लुष—स्नेहन सेवन पूरणेषु ।

प्रुषु प्लुषु दाहे – भस्म करता है।

५९ देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने ।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः ॥२॥

(वयं) हम (सवितुः देवस्य) सविता देव की (श्रेष्ठे सवीमनि) श्रेष्ठ प्रेरणा में (स्याम) हों और तद् द्वारा (वसुनः च दावने) ऐश्वर्य के दान में भी हम हों। (यः) जो (विश्वस्य) विश्व के (भूमनः) बहु रूपी (द्विपदः) दोपाये (चतुष्पदः) चौपाये पशु समूह के (निवेशने) यम सदन में प्रवेश कराने तथा पुनः (प्रसवे) उत्पन्न करने में (असि) निमित्त बनता है।

दावने—दानस्य निरु ४।८।

निवेशने—स्व स्व कर्मानुसार मनुष्य यम सदन में पहुँच कर पुनः किसने किस प्रदेश में उत्पन्न होना है इसकी व्यवस्था सविता के आधीन होती है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि सविता देव की श्रेष्ठ प्रेरणा में हमारा जीवन व्यतीत हो। उसका जो श्रेष्ठतम दान हो उसके हम भागी बनें। श्रेष्ठतम दान बुद्धि का दान है (गायत्री मन्त्र)।

६० **अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वं शिवेभिरद्य परिपाहि नो गयम्।**
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघ शंस ईशत ॥३॥

(सवितः) हे सविता देव (त्वं) तू (अद्य) आज (अदब्धेभिः) न दबने वाले अर्थात् अदभ्य (शिवेभिः) कल्याण कारक (पायुभिः) रक्षण साधनों से (नः गयं) हमारे प्राण तत्व व सोम तत्व की (परिपाहि) रक्षा कर। (हिरण्यजिह्वः) तू हितकारी व रमणीय जिव्हा वाला है। (नव्यसे सुविताय) नवीन उत्पत्ति तथा ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (रक्ष) हमारी रक्षा कर। जिससे कि (अघ शंसः) पाप का शंसन करने वाला शत्रु (नः) हमारे ऊपर (माकिः ईशत) स्वामित्व न कर सके।

पायुभिः—पा रक्षणे।

गयम्—अपत्यनाम, गृहनाम, धननाम, निघ २।१,३।४,२।१०।

सयदाह गयोऽसीति सोमं वैतदाहैष ह्वै चन्द्रमा भूत्वा सर्वाल्लोकान् गच्छति तद् यद् गच्छति तस्माद् गयस्तद् गयस्य गयत्वं। गो. पू. ५।४ प्राणा वै गयः। श. प. ।४।८।१५।७।

प्राणियों में जो अपनी अपनी विशिष्ट शक्ति व प्रकृति होती है, वह सोम के कारण है। यह सोम ही इन्द्रियादिकों में रस है। यह रस जब गतिमय होता है तब इसे गय कहते हैं। गति ही प्राण है, इसलिए गय को प्राण भी कह दिया है। यह रस रूप गतिमय प्राण मनुष्य में आल्हादक व आनन्द देने वाला होता है। इस कारण यह चन्द्रमा नाम से भी व्यवहृत होता है। सोम की अनेकों विभूतियाँ हैं। (ब्रह्मा देवानाम् पदवीः कवीनाम्०) आदि मंत्रों में इसी तथ्य का निर्देश किया गया है।

सुवित—सु इते सूते सुगते प्रजायामिति वा! निरु. ४।१७। सुप्रसूतानि कर्माणि। निरु. १८।२८।

६१ **उदुष्य देवः सविता दमूना हिरण्यपाणिः प्रति दोषमस्थात् ।**
अयोहनुर्यजतो मन्द्रजिव्ह आदाशुषे सुवति भूरिवामम् ॥४॥

(सविता देवः) सबका प्रेरक यह सविता देव (दमूनाः) मन का दमन करने वाला (हिरण्यपाणिः) हितकारी तथा रमणीय हाथों वाला (प्रतिदोषं) रात्रि समाप्ति पर अर्थात् प्रभात में (उत् अस्थात्) उठ खड़ा होता है । वह (अयोहनुः) लोह समान दृढ़ ठोड़ी वाला (यजतः) यजनीय तथा (मन्द्र जिव्हः) मन्द तथा मधुर जिव्हा वाला (दाशुषे) आत्मदानी को (भूरिवामं आसुवति) वाञ्छनीय ऐश्वर्य प्रभूत मात्रा में देता है ।

दमूना—दममना वा दानमना वा दान्तमना वा । अपि वा दम इति गृह नाम तन्मनाः स्यात् । निरु. ४।४ ।

सविता का उपासक व्यक्ति मन की वासनाओं व कामनाओं को दमन करने में समर्थ हो जाता है ।

अयोहनुः—सविता की ठोडी लोहे की है अर्थात् कम हिलती है । वह कम बोलता है और जब बोलता है तब मन्द तथा मधुर बोलता है ।

६२ **उदु अयाँ उपवक्तेव बाहू हिरण्यया सविता सुप्रतीका ।**
दिवो रोहांस्यरुहत् पृथिव्या अरीरमत् पतयत् कच्चिदभ्वम् ।५।

वह (सविता) सबका प्रेरक (सुप्रतीका) शोभन रूप में प्रतीति कराने वाले (हिरण्यया) हिरण्यमय (बाहू) बाहुओं को (उत् उ अयान्) हमारे ऊपर पसारे हुए हैं (उपवक्ता इव) और मानो वह कुछ कह रहा है । वह (पृथिव्याः) पृथिवी से (दिवः) द्युलोक तक (रोहांसि अरुहत्) रोहण कर रहा है और कराता है (पतयत्) ऊर्ध्व को गति करता हुआ (कच्चित् अभ्वं) जो कुछ भी महान् से महान् है उसमें (अरीरमत्) रमण करता है ।

अभ्वम्—महान् नाम । निघ ३।३ उदक १।१२ भगवान् के दोनों वरद हस्त आत्मदानी भक्त के सिर पर विराजमान होते हैं । भक्त को इसकी स्पष्ट प्रतीति होती है । संसार का कोई भी व्यक्ति उसके इस विश्वास को डिगा नहीं सकता, और वह सविता भक्त के हृदय व मस्तिष्क में स्थित हो निर्देश देता रहता है । उपवक्ता का यही भाव है । वह मनुष्य को ऊर्ध्वारोहण के लिए प्रेरित करता है और महान् तथा सूक्ष्मतम तत्व में उसको रमाता है । जो व्यक्ति परमात्मा के किसी भी देव रूप के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है वह भगवान् के उस रूप से अभिन्न हो उसके सब कर्मों का करने वाला होकर तत्तत् देवता नाम से सामान्य जनों में प्रख्यात होता है । यही तथ्य अवतारों में हमें देखना चाहिये ।

६३ **वाममद्य सवित र्वाममुश्वो दिवे दिवे वाममस्मभ्यम् सावीः ।**
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ।६।।

(सवितः) सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक सविता देव (अद्यवामम्) आज का दिन हमारे लिए प्रशस्त व सेवनीय हो (वाममुश्वः) कल का दिन भी प्रशस्त व अच्छा हो, (दिवे दिवे वामम् अस्मभ्यम् सावीः) प्रतिदिन हमारे लिए प्रशस्त ऐश्वर्यों का सवन करो अर्थात् उत्पन्न करो। हे देव (वामस्य) श्रेष्ठ तथा (भूरेः क्षयस्य) महान् निवास स्थान को प्रदान करो और (अयाधिया) इस बुद्धि द्वारा हम (वामभाजः स्याम) वांछनीय तथा श्रेष्ठ ऐश्वर्यों के भोग करने वाले हों।

वामम्—प्रशस्त नाम। निघ ३।४।

वामम् वसूनि वननीयानि—निघ० ११।१६।

ऋ. ७/३८

ऋषिः—मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः, ६उत्तरार्धस्य भगोवा। देवता-सविता। छन्दः—त्रिष्टुप्

६४ **उदुष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत् ।**
नूनम् भगो हव्यो मानुषेभिर्वि यो रत्ना पुरु वसुर्दधाति ।१।

(उत् उ स्य देवः सविता) ऊर्ध्व में स्थित वह सविता देव (यां हिरण्ययीं) जिस हिरण्यमय (अमतिं) रूप को (अशिश्रेत्) आश्रय किये हुये हैं उस रूप को हम भी (ययाम) प्राप्त हों। (भगः) ऐश्वर्यशाली वह सविता (नूनं) निश्चय से (मानुषेभिः हव्यः) मनुष्यों द्वारा हवि देने योग्य है। यह जो (पुरु वसुः) अनन्त ऐश्वर्य वाला सविता (रत्ना) रत्नों को (विदधाति) देता है।

अमतिं—अमति रूप नाम—निघ ३/७। अमामयी मतिः। आत्ममयी मतिः। निरु. ६/१२

यहाँ अमति का रूप अर्थ अधिक संगत है क्योंकि सविता की आकृति हिरण्यमयी है अथवा निरु० ६।१२ के आधार पर अमति है जो कि अमा—स्वगृह में स्थित हो बहिर्मुखी न हो अथवा आत्ममयी आत्मा के साथ सम्पर्क वाली हो।

६५ **उदुतिष्ठ सवितः श्रुध्यस्य हिरण्यपाणे प्रभृतावृतस्य ।**
व्युर्वीं पृथ्वीममतिं सृजान आनृभ्यो मर्तभोजनं सुवानः ।२।

(हिरण्यपाणे) हिरण्यमय हाथों वाले (सवितः) हे सर्वप्रेरक सविता देव! (उदुतिष्ठ) उठ खड़ा हो (ऋतस्य प्रभृतौ) ऋत के प्रकृष्ट धारण में (अस्य) इस मुझ

भक्त की याचना (श्रुधि) सुन (उर्वी) सबको आच्छादित करने वाले (पृथ्वीं) विस्तीर्ण (अमतिं) अपने रूप को (विसृजानः) हम पर विसर्जित करता हुआ (नृभ्यः) मनुष्यों के लिये (मर्तभोजनम्) मनुष्योचित भोजन (आसुवानः) उत्पन्न कर।

उर्वी—ऊर्णुञ् आच्छादने। प्रभृती—प्र + भृञ् भरणे।

६६ अपिष्टुतः सविता देवो अस्तु यमा चिद् विश्वे वसवो गृणन्ति।
स नः स्तोमान्नमस्यश्चनो धाद् विश्वेभिः पातु पायुभिर्निसूरीन्।३।

(सविता देवः) यह सविता देव (अपिष्टुतः अस्तु) अत्यधिक स्तुत्य हो अर्थात् इसकी खूब स्तुति की जानी चाहिये (यंचित्) जिस सविता का (विश्वे वसवः) सब देव (आगृणन्ति) स्तवन करते हैं (सः) वह (नमस्यः) नमन के योग्य सविता (नः स्तोमान्) हमारे अन्दर भक्ति स्तोत्रों को तथा (चनः) अन्न को (धात्) धारण करावे (नः सूरीन्) हम विद्वानों व स्तोताओं की (विश्वेभिः पायुभिः) सम्पूर्ण रक्षा साधनों से (पातु) रक्षा करे।

सविता की स्तुति तन्मय होकर प्रकृष्ट रूप में करनी चाहिये। जिससे वह हमारे स्तोत्रों को स्वीकार कर लेवे। जो स्तुति तन्मय होकर नहीं की जाती वह व्यर्थ जाती है।

६७ अभि यं देव्यदिति गृणाति सवं देवस्य सवितु र्जुषाणा।
अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः।४।

(सवितुः देवस्य) सविता देव की (सवं जुषाणा) प्रेरणा को पाकर (देवी अदितिः) दिव्य शक्तिवाली वह देव माता अदिति (यं अभिगृणाति) जिसको लक्ष्य करके स्तवन करती है। (सम्राजः) सम्यक् देदीप्यमान (वरुणः मित्रासः) वरुण तथा मित्रादि देवता और (सजोषाः अर्यमा) समान प्रीति सेवी अर्यमा ये सब (यं अभिगृणन्ति) जिसको लक्ष्य कर स्तुति करते हैं उसकी तुम भी स्तुति किया करो।

अदिति—देव माता है यह जब देवों को पैदा करती है तब सविता की आज्ञा व प्रेरणा पाती है। मित्र वरुण अर्यमा आदि देवता सविता भगवान द्वारा अदिति में पैदा किये जाते हैं।

६८ अभि ये मिथो वनुषः सपन्ते रातिं दिवो रातिषाचः पृथिव्याः।
अहिर्बुध्न्य उत नः श्रृणोतु वरुत्र्येकधेनुभिर्निपातु।५।

(रातिषाचः) दान का सेवन व ग्रहण करने वाले (पृथिव्याः) पृथ्वी के देवता (दिवः रातिं) द्युलोक के दान को (वनुषः अभि) उसका सेवन करने वाले प्राणियों को लक्ष्य कर (मिथः सपन्ते) मिलकर चलते हैं और उनको स्पर्श करते हैं। (उत)

और (अहिर्बुध्न्यः) विद्युत् अथवा मेघ (नः शृणोतु) हमारी प्रार्थना सुने अर्थात् यथा-कामवृष्टि करे। (वरूत्री) सब देव शक्तियों को घेरने वाली वाक् (एक धेनुभिः) एक रस दुग्धपान कराने वाली धेनुओं से रसपान कराकर (निपातु) हमारी रक्षा करे।

रातिषाचः—रातिं दानं सचन्ते ये।

वनुषः—सम्भजमानान्-वनषण संभक्तौ।

सपन्ते—सपः सपते स्पृशति कर्मणः। निरुक्त ५।३।५६
सपषप समवाये (भ्वादि)

अहिर्बुध्न्यः—यो ऽहिः स बुध्न्यो बुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात् विद्युन्मयो मेघो विद्युद्वा। निरुक्त १०।४।३०

वरुत्री—वारयित्री, यह एक विशिष्ट स्तर की वाक् है या सबको एक साथ बाँधने वाली रज्जु है मनुष्य के अन्दर जो विभिन्न शक्ति स्थान है उन सबकी अपनी-अपनी वाक् है जिन्हें कि वेद में धेनु या 'धेना' कहते हैं। ये सब 'धेनु' व 'धेना' जब एक स्वर में बोलती हैं तो एक प्रकार से रज्जु से बँध गई हैं ऐसा समझना चाहिये। यही रज्जु सबको वारण करने के कारण वरुत्री है—उसी अवस्था में 'वरुत्री एक धेनुभिः' यह स्थिति बनती है। यह 'धेनु' व 'धेना' बृहस्पति की वाक् मानी जाती है।

६९ **अनुतन्नो जास्पतिर्मंसीष्ट रत्नं देवस्य सवितु रियानः।**
भगमुग्रो ऽवसे जोहवीति भगमनुग्रो अध याति रत्नम्।६।

(इयानः) याचना किया गया (जास्पतिः) उत्पत्ति का स्वामी त्वष्टा (सवितुः देवस्य) सविता देव के (तत्रत्नम्) उस प्रसिद्ध रत्न को (अनुमंसीष्ट) अनुमोदन करे अर्थात् स्वीकार करे। (उग्रः) उग्र व्यक्ति (अवसे) रक्षा के लिये (भगं) भजनीय सविता को (जोहवीति) आह्वान करता है + और (अनुग्रः) कोमल व्यक्ति उस भग रूप सविता से (रत्नं याति) रत्न आदि धन ऐश्वर्य की याचना करता है और पाता है।

जास्पतिः—वेंकट ने जास्पति से त्वष्टा का ग्रहण किया है। सायणाचार्य ने सविता ही माना है। हमारे विचार में 'त्वष्टा' अर्थ अधिक उपयुक्त है क्योंकि उत्पत्ति में त्वष्टा ही रूप देने वाला है। उग्र व्यक्ति के शत्रु अधिक होते हैं अतः वह मुख्य रूप से रक्षा की याचना किया करता है। अनुग्र व्यक्ति के शत्रु नहीं होते। अतः वह प्रायः ऐश्वर्य व रमणीयता आदि की याचना किया करता है।

ऋ. ७/४५

ऋषि-मैत्रावरुणीर्वसिष्ठः । देवता-सविता । छन्दः—त्रिष्टुप्

७० आ देवो यातु सविता सुरत्नो ऽन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वैः ।
हस्ते दधानो नर्या पुरूणि निवेशयञ्च प्रसुवञ्च भूम ।१।

(सुरत्नः) शोभन रत्नों वाला (अन्तरिक्षप्रा) अपने तेज से अन्तरिक्ष को भर देने वाला (हस्ते) हाथ में (नर्या) मनुष्य हितकारी (पुरूणि) अनेकों शक्तियों व ऐश्वर्यों को (दधानः) धारण किये हुये (भूम) प्राणी वर्ग को (निवेशयन्) रात्रि समय अपने-अपने स्थानों में प्रवेश कराता हुआ तथा प्रातः (प्रसुवंच) कार्य में प्रेरित करता (अश्वैः वहमानः) अश्वों द्वारा वहन किया गया (आयातु) हमारे समीप आवे ।

अन्तरिक्षप्रा—अन्तरिक्षं प्रपूरयति
भूम—भूतजातम्-वेंकट
निवेशयन्-प्रसुवं—का भाव उत्पत्ति तथा विनाश में भी घटता है । विनष्ट कुछ भी नहीं होता प्रत्युत रूप परिवर्तन होकर अव्यक्त में समा जाता है ।

७१ उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम् ।
नूनं सो अस्य महिमा पनिष्ट सुरश्चिदस्या अनुदादपस्याम् ।२।

(अस्य) इस सविता देव की (शिथिरा) शिथिल (बृहन्ता) महान् (हिरण्यया) हिरण्यमय (बाहू) बाहुएँ (दिवो अन्तान्) द्युलोक के अन्त भागों को (उत् अनष्टाम्) ऊर्ध्व में स्थित हुई व्याप्त होती हैं । (नूनं) निश्चय से (सो अस्य महिमा) वह इसकी महिमा है जिसकी (पनिष्ट) स्तुति की जाती है । (सूरः चित्) सूर्य भी (अपस्यां) अपनी कर्मेच्छा को (अनुदात्) अनुकूल रखता है ।

अनष्टां—अशूङ् व्याप्तौ । पनिष्ट—पन स्तुतौ । अपस्यां—आत्मनः कर्मेच्छा —स्वामी दयानन्द ।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि सूर्य तथा सविता में पार्थक्य है—सूर्य सविता के अनुकूल रहते हुये अपने कार्य का निर्वाह करता है । बाहुओं को शिथिल कहने का तात्पर्य यह है कि ये अपने स्वभाव के अनुसार सर्वत्र फैले हुये होते हैं, बँधे नहीं रहते ।

७२ स घा नो देवः सविता सहावा साविषत् वसुपति र्वसूनि ।
विश्रयमाणो अमतिमुरूचीं मर्तभोजनमध रासते नः ।३।

(सहावा) तेजस्वी तथा शत्रुओं को अभिभूत करने वाला (वसुपतिः) ऐश्वर्यों

का स्वामी (स सविता देवः) वह सविता देव (घ) निश्चय से (नः) हमें (वसूनि) ऐश्वर्यों को (साविषत्) प्रदान करे। (उरूचीं) बहुव्यापी (अमतिं) रूप का (विश्रय-माणः) अवलम्बन करता हुआ वह (नः) हमें (मर्तभोजनं रासते) मनुष्योचित भोज्य पदार्थों को देता है।

सहावा—सहः बलं तद्वान्। रासत्—ददातु —निरु० १२।१८

साविषत्—षणु दाने। उरूचीम्—उरून् बहून् अञ्चति ताम्।

७३ इमा गिरः सवितारं सुजिह्वं पूर्णगभस्तिमीडते सुपाणिम्।
चित्रं वयो बृहदस्मे दधातु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।४।

(इमा गिरः) हमारी ये वाणियाँ (सुजिह्वं) उत्तम जिह्वा वाले (पूर्णगभस्ति) ऐश्वर्य से परिपूर्ण किरणों वाले (सुपाणिं) उत्तम हाथों वाले (सवितारमीडते) सविता देव की स्तुति करती हैं वह सविता देव (बृहत् चित्रं वयः) महान् अद्भुत अन्नादि का विशाल भण्डार (अस्मे दधातु) हमें प्रदान करे। (यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः) हे सविता आदि देवो! तुम सब हमारी कल्याणों से रक्षा करो।

सूर्य की रश्मियाँ केवल ऊर्जा ही नहीं प्रदान करतीं परन्तु उनमें सूक्ष्म रूप में समग्र भौतिक ऐश्वर्य समाया हुआ होता है। वे केवल ऐश्वर्य ही नहीं प्रदान करतीं प्रत्युत सुजिह्व होने के कारण पृथ्वी पर फैले समग्र ऐश्वर्य को चाटती भी हैं। हम स्तुति प्रार्थना द्वारा अपने अन्दर वह आकर्षण पैदा करे जिससे कि वह ऐश्वर्य खिचकर सीधा हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जाये।

ऋ. १०/१३९

ऋषिः—विश्वावसुः गन्धर्वः। देवता-सविता १-३। छन्द—त्रिष्टुप्

७४ सूर्य रश्मि र्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्संपश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः।१।

(सूर्य रश्मिः) सूर्य की रश्मि ही जिसकी रश्मि है (हरिकेशः) हरणशील रश्मि रूपी केशों वाला (सविता) सर्वप्रेरक सविता देव (पुरस्तात्) आगे-आगे (अजस्रं ज्योतिः उदयान्) निरन्तर ज्योति का उद्भव करता है अर्थात् प्रसारित करता है। (तस्य प्रसवे) उस सविता की प्रेरणा पर (पूषा) पोषणकर्त्ता तथा (गोपाः) रक्षक यह सूर्य (विश्वा भुवनानि संपश्यन्) विश्व भुवनों को सम्यक् प्रकार देखता तथा (विद्वान्) जानता हुआ (याति) निरन्तर गति कर रहा है।

सूर्य रश्मिः—सूर्यस्य रश्मिरेव रश्मिर्यस्य सः

हरिकेशः—हरणशीला केशस्थानीया रश्मयो यस्य सः।

गोपाः—गोपायिता।

उषसः प्रादुर्भवानन्तरं सूर्यस्योदयात् पूर्वं यः कालस्तस्याभिमानी देवः सवितेत्युच्यते। सायणाचार्य

आदित्य के जो १२ विभाग किये हैं उनमें उषा के पश्चात् तथा उदय से पूर्व सूर्य को सविता कहते हैं। सूर्य के माध्यम से सविता भगवान ही सर्वजगत को देखते हैं जानते हैं, और सबको जनाते हैं।

७५ नृचक्षा एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान्रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिष्टे धृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्।२।।

(नृचक्षाः) मनुष्यों का द्रष्टा (एष) यह सूर्य (रोदसी अन्तरिक्षं) द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष को (आपप्रिवान्) अपने तेज से भरता हुआ (दिवो मध्य आस्ते) द्युलोक के मध्य में विराजमान होता है। (स) वह सविता (विश्वाचीः) विश्वव्यापिनी तथा (धृताचीः) तेजोमयी दिशाओं को (अभिचष्टे) देखता है और (अन्तरा) अन्तराल में तथा (पूर्वं अपरं च केतुं) पूर्वापरं के केतु अर्थात् प्रज्ञापक तत्व को भी देखता है।

नृचक्षाः—पूषा आदि विशेषण बाह्य सूर्य की सामान्य शक्ति का प्रदर्शन करते हैं पर जब आध्यात्मिक सूर्य उद्गत होता है तब मनुष्यों में दूसरों के अन्तर्तम को देखने की शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है और अन्तरापूर्वमपरं च केतुं भूत भविष्यत तथा वर्तमान को वह जान लेता है।

७६ रायो बुध्नः संगमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः।
देव इव सविता सत्य धर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्।३।

(रायः बुध्नः) ऐश्वर्य का बन्धक (वसूनां संगमनः) धनों का प्राप्त कराने वाला वह सविता (शचीभिः) शक्तियों व दीप्तिओं द्वारा (विश्वारूपाभिचष्टे) विश्व रूपों को देखता है। यह सविता (देव इव) देव रूप में (सत्यधर्मा) सत्य का धारण कराने वाला है। और (धनानां समरे) धनों के युद्ध द्वारा प्राप्त करने में (इन्द्रो न तस्थौ) इन्द्र के तुल्य दृढ़ता से स्थिर रहता है।

बुध्नः—बध्नाति यः।

सत्यधर्मा—सत्यं धर्म धारणंयस्य सः।

ऋ- १०।१४९

ऋषि—अर्चन् हैरण्यस्तूपः । सविता देवता । छन्दः त्रिष्टुप ।

७७ सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धम् सविता समुद्रम् । १ ।।

सविता (यन्त्रैः) नियमन के साधनभूत हिरण्यमय किरणों द्वारा (अस्कम्भने) आलम्बन रहित प्रदेश में (पृथिवीं अरम्णात्) पृथिवी को रमाता है, घुमाता है तथा तथा (द्यां) द्युलोक को (अदृंहत्) दृढ़ किए हुए हैं। (धुनिं अश्वमिव) शरीर को कंपाते व झकझोरते अश्व की तरह (अन्तरिक्षं अधुक्षत्) अन्तरिक्ष को झकझोरकर दोहता है। और उस सविता ने (अतूर्ते) तीर रहित अथवा हिंसा रहित अन्तरिक्ष स्थान में (समुद्रं बद्धम्) समुद्र को बांधा हुआ है।

यन्त्रम्—सविता हिरण्य रूप है उसके यन्त्र अर्थात् नियमन साधन भी हिरण्य रूप व तेजो रूप है। इन्हीं तेजस्वी किरणों द्वारा नियन्त्रित हो यह पृथ्वी घूम रही है।

धुनिम् = धूञ् कम्पने जिस प्रकार घोड़ा अपने शरीर को कँपाता है, झकझोरता है उसी प्रकार यह सविता अन्तरिक्ष को झकझोरता है जिससे वर्षा आदि होती है, तट नहीं है फिर भी बंधा है।

७८ यत्रा समुद्रः स्कभितो व्योनदपां नपात् सविता तस्य वेद ।
अतो भूरत आ उत्थित रजोऽतो द्यावा पृथिवी अप्रथेताम् ।२।

(यत्र) जहाँ (विशाल अन्तरिक्ष में) (स्कभितः) थमा हुआ (समुद्रः) समुद्र (व्यौनत्) विविध रूप में आर्द्रता व क्लेदन करता रहता है। (अपांनपात्) जलों को न गिरने देने वाला यह सविता (तस्य वेद) उसको जानता है। (अतः) उसी महान् समुद्र से (भूः) यह पृथ्वी तथा (रज आ उत्थितम्) अणु परमाणु चहुँ ओर को उठे हैं। (अतः) उसी से (द्यावा पृथिवी अप्रथेताम्) द्यावा पृथ्वी फैले हैं।

समुद्र—वे सामान्य, पार्थिव समुद्र नहीं है। यहाँ सृष्टि के प्रारम्भ का तथा अन्तरिक्ष समुद्र दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। द्यावा पृथ्वी में प्राणियों औषधि वनस्पतियों आदि की उत्पत्ति में यह समुद्र कारण बनता है।

व्यौनत्—वि उन्दी क्लेदने।

७९ पश्चेदमन्यदभवत् यजत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूना ।
सुपर्णो अंग सवितुर्गरुत्मान् पूर्वोजातः स उ अस्यानु धर्म ।३।।

(पश्चा) द्यावा पृथिवी के प्रथन के पश्चात् (इदं अन्यत् यजत्रम्) यह अन्य यजनशील शक्ति समूह (अमर्त्यस्य भुवनस्य) अमरणशील भुवन के (भूना) बहुत्व अंश से (अभवत्) उत्पन्न हुआ (अङ्ग) हे प्रिय (अस्य सवितुः) इस सर्व प्रेरक सविता देव के अनुधर्म) धर्म व धारण के नियम अनुसार (गरुत्मान्) उद्गिरण शक्ति वाला (सुपर्णः) यह हिरण्याण्ड रूपी सुपर्ण (पूर्व जातः) सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ था।

भूना—भूमना बहुत्वेन।

प्रकृति से जब सृष्टि की उत्पत्ति होती है तब उसके मर्त्य और अमर्त्य दो विभाग हो जाते हैं। अमर्त्य भाग से सविता शक्ति रूप में पैदा होते हैं। इन देवताओं से मर्त्य भुवन का यजन व मेल होता है तब प्राणि वर्ग की उत्पत्ति होती है। इस प्राणीजगत् की उत्पत्ति का माध्यम सूर्य है। यही सुपर्ण है गरुत्मान् है। मानव शरीर में वीर्य सुपर्ण है।

८० गाव इव ग्रामं युयुधिरिवाश्वान् वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभिनो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ।४।

(इव) जिस प्रकार (गावः ग्रामं) गौएँ ग्राम की ओर (इव) जिस प्रकार (युयुधिः अश्वम्) योद्धा अश्वों की ओर (सुमना दुहाना) शोभन मन वाली दोग्ध्री (वाश्रावत्सं) रम्भाती गौ बछड़े की ओर (इव) जिस प्रकार (पतिः जायां) पति अपनी पत्नी की ओर (इव) उसी प्रकार (दिवः धर्ता) द्युलोक को धारण करने वाला (विश्ववारः) विश्व को घेरने वाला (सविता) सर्व प्रेरक देव (नः न्येतु) हमारे पास आये।

गौओं का ग्राम की ओर प्रयाण अपने निवास की ओर स्वाभाविक रूप से होता है उसी प्रकार सविता हमारे शरीर को अपनी निवास भूमि बनाले यही भाव यहाँ प्रकटित हुआ है। योद्धा का अश्वों की ओर जाना शत्रु विनाश का सूचक है। शोभन मनस्क दोग्ध्री गौओं का बछड़ों की ओर जाना दुग्ध प्रदान के समान शक्ति आदि के दोहन को सूचित करता है। पति का जाया की ओर प्रयाण द्वारा भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रजनन को सूचित करता है। जिस प्रकार उपर्युक्त गौएँ, योद्धा, दोग्ध्री धेनु पति आदि का अपने प्रिय के प्रति प्रयाण स्वाभाविक तथा स्नेह भरित होता है। उसी प्रकार सविता का हम भक्तों के प्रति हो यह इस मन्त्र द्वारा दर्शाया गया है।

८१ हिरण्यस्तूपः सवितर्यथा त्वाऽऽङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन्।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमानः सोमस्येवांशुं प्रतिजागराहम् ।५।

(सवितः) हे सविता देव! (यथा) जिस प्रकार (हिरण्यस्तूपः आङ्गिरसः) आन्तरिक ज्योतिष्पुञ्ज वाला आंगिरस अर्थात् अग्नि पुत्र (अस्मिन् वाजे) इस वाज

की प्रगति में तेरा आह्वान करता है। (एवा) उसी प्रकार मैं भी (अबसे) अपनी रक्षा के लिये (अर्चन् वन्दमानः) तेरी अर्चना तथा वन्दना करता हुआ (त्वा जुह्वे) तुझे बुलाता हूँ और (सोमस्य अंशुमिव) सोम के रस की तरह (त्वा प्रति) तेरे प्रति समर्पित हो (अहं जागर) मैं जागरुक हुआ हूँ।

उपर्युक्त मन्त्र पर निरुक्त (१०।३।३२ में आता है।

आदित्योऽपि सवितोच्यते। तथा च हैरण्यस्तूपे स्तुतोऽर्चन् हिरण्यस्तूप ऋषि रिदं सूक्तं (ऋ. १०।१४९) प्रोवाच।

हिरण्यस्तूपो हिरण्मयस्तूपो हिरण्मयः स्तूपोऽस्येति वा स्तूपः स्त्यायतेः सङ्घातः।

जिस प्रकार सोम का रस इन्द्र के प्रति स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होता है उसी प्रकार मैं भी सविता के प्रति प्रवाहित होता हूँ। किस साधन से? अर्चना व वन्दना द्वारा। जिस प्रकार आदित्य स्वयं हिरण्य का संघात है ज्योतिष्पुञ्ज है। यही ज्योतिष्पुञ्ज मनुष्य में उद्गत हो हिरण्य स्तूप नाम से व्यवहृत होता है। हिरण्यस्तूप भी आदित्य का प्रतिरूप है। मनुष्य मे विद्यमान हिरण्य ज्योति रूप किरणें आदित्य के प्रति स्वाभाविक रूप में गति करती है। और आदित्य से मनुष्य के हिरण्यस्तूप के प्रति आती है। इस भांति दोनों में आदान-प्रदान होता रहता है।

८२ उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।
देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत् प्रचतुष्पदित्यै। ऋ. १।१२४।१

(उषा) यह उषा (समिधाने अग्ना) अग्नि होत्रादि यज्ञों में अग्नि के प्रदीप्त होने पर (उच्छन्ती) अन्धकार का निवारण करती हुई (उर्विया) बहुत (ज्योतिः अश्रेत्) ज्योति को प्रकट करती है अथवा सब जगत् को प्रकाशित कर देती है। किस प्रकार? (उद्यन् सूर्यः) उदय होता सूर्य जिस प्रकार सब कुछ प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार उषाकाल होने पर यह (सविता देवः) सब को कार्यों में प्रेरित करने वाला सविता देव (नु) शीघ्र ही (नः इत्यै) हमारे गमनागमन के लिये अथवा व्यवहारादि के लिये (द्विपत्) दो पाये तथा (चतुष्पत्) चौपाये रूपी (अर्थं) धन को (प्रासावीत्) प्रेरित करे।

ज्योति में तथा ज्योति द्वारा सब जगत् को प्रकाशित करने में उषा की उपमा सूर्य के प्रकाश से दी है। अन्धकार समाप्त होकर जब दिन निकल आता है तब सविता से प्रार्थना की गई है कि मेरे सकल कर्मों की सिद्धि व सफलता के लिये दोपाये चौपाये सब प्राणी वर्ग को यह सविता प्रेरित करे। इस मन्त्र में भी मनुष्य तथा अन्य प्राणी वर्ग को 'धन' बतलाया गया है।

८३ यदद्य भागं विभजासि नृभ्य उषो देवि मर्त्यत्रा सुजाते ।
देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचति सूर्याय । ऋ. १।१२३।३

(सुजाते) शोभन रूप में उत्पन्न अथवा शोभन व श्रेष्ठ की उत्पत्ति करने वाली (उषोः देवि) हे दिव्य गुण वाली उषा (मर्त्यत्रा) मनुष्यों का पालन-पोषण करने वाली (यत्) जो तू (अद्य) आज (नृभ्यः) मनुष्यों के लिये (भागं विभजासि) उन का अपना अपना ऐश्वर्य, बुद्धि, बल व स्वास्थ्य आदि का भाग विभक्त करके देती है। (अत्र) इस बटवारे में (दमूना) दान देने की इच्छा वाला या मन को नियन्त्रित करने वाला यह (सविता देवः) सब का प्रेरक सविता देव (सूर्याय) सूर्य के प्रति (नः अनागसः वोचति) हमें निष्पाप बताता है।

इस मन्त्र में उषा, सूर्य तथा सविता ये तीनों देव पृथक्-पृथक् है ऐसा संकेत मिलता है। यह सविता देव तो अन्य सब देवों को प्रेरित करता है। सूर्य और उषा को भी प्रेरित करने वाला है। उषाकाल में मनुष्य की बीमारी शान्त होती है स्वास्थ्य अच्छा होता है शारीरिक बल और बुद्धि की भी वृद्धि होती है। अतः इन सबकी प्राप्ति के लिये सबको प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठना चाहिये। सविता को यहाँ 'दमूना' कहा है "दमूना-दममनावा दानमना वा दान्तमनावा" नि. ४/४ ये सब अर्थ यहाँ घटते हैं। जब सविता के मन में किसी पुण्यशाली व उसके अपने भक्त को बुद्धि, बल व ऐश्वर्य आदि देने की इच्छा होगी तो वह सूर्य को यह सब उस भक्त को देने के लिये प्रेरित करेगा। परन्तु शर्त एक ही है कि हम 'अनागसः' निष्पाप हों।

८४ अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा ।
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः सविता जगत्पृथक् ।
ऋ. १।१५७।१

(ज्मः) पृथिवी की यह (अग्निः) अग्नि (अबोधि) उद्बुद्ध होती है और (सूर्य उदेति) यह सूर्य उदय होता है और यह (चन्द्रा) आह्लाद पैदा करने वाली (मही उषा) महान् उषा (अर्चिषा) तेज से (विआवः) अन्धकार को दूर कर प्रकट होती है। इस कारण हे अश्वियो ! तुम (यातवे) जाने के लिये (रथं आयुक्षातां) रथ को जोड़ो यह सब कार्य के लिये (सविता देवः) सर्व प्रेरक सविता देव (जगत्) इस संसार में सबको (पृथक्) पृथक्-पृथक् रूप में (प्रासावीत्) प्रेरित करता रहता है।

यह पार्थिव अग्नि उद्बुद्ध होकर प्राणियों, ओषधि वनस्पतियों को पैदा करती है। अग्निहोत्र में अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, सूर्य उदय होता है और फिर अस्त हो जाता है। रात्रि की समाप्ति पर उषा आती है। रात्रि के अन्धकार को दूर कर देती है, प्रभात काल होने पर यातायात के अधिकारी अश्वीदेव रथों को

जोतते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणी जगत् को अपने अपने कार्यों में प्रेरित करने वाला यह सविता देव ही है।

८५ आभोगयं प्रयदिच्छन्त ऐतनापाकाः प्राञ्चो मम केचिदापयः।
सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितु र्दाशुषो गृहम्। ऋ. १।११०।२

(अपाकाः) परिपक्वज्ञान वालों अथवा अग्नि पर पका अन्न सेवन न करने वाले यति लोगो (प्राञ्चः) विद्याओं में प्रकृष्ट गति वाले (यत्) जो (आभोगयं) श्रेष्ठ भोग योग्य वस्तुओं की (इच्छन्तः) कामना वाले तुम (प्रऐतन) निः संकोच मेरे पास आओ (मम) मेरा (केचित्) कुछ (आपयः) आप से प्राप्तव्य है अर्थात् में आपसे कुछ प्राप्त करना चाहता हूँ, हे (सौधन्वनासः) हृदय रूपी श्रेष्ठ विद्याओं, भावनाओं, विचारों वाले तुम (चरितस्य भूमना) अपने श्रेष्ठ चरित्र के बाहुल्य से (सवितुः दाशुषः) ऐश्वर्योत्पातक हविष्यान्न के दाता मुझ यजमान के (गृहंआगच्छत) घर में आओ।

इस मन्त्र में सौधन्वनासः पद से सायणाचार्य आदि भाष्यकार इतिहास बताते हैं। यास्काचार्य के निरुक्त का प्रमाण देते हुए सायणाचार्य लिखते हैं। "तदुक्तं यास्केन" ऋभुर्विम्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्रा बभूवुः' निरु ११।१६ अन्य विद्वान् वेदों में इतिहास की सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे इस मन्त्र का अन्य अर्थ करते हैं। इस सम्बन्ध में हमने अपनी 'ऋभु देवता' नामक पुस्तक में विस्तार से विचार किया है। सविता अर्थात् ऐश्वर्योत्पादक गृहस्थ यजमान अपनी ज्ञान वृद्धि तथा संशयों की निवृत्ति के लिये ऋत ज्ञान से देदीप्यमान ऋभुओं (ऋतेनभान्ति, निरुक्त) को अपने घर में आने के लिये निमन्त्रण देता है और उनका अच्छी प्रकार आतिथ्य सत्कार करता है। इसी सम्बन्ध में अगला मन्त्र है।

८६ तत् सविता वोऽमृतत्वमासुवदगोह्यं यच्छ्रवयन्त ऐतन।
त्यं चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुत चतुर्वयम्। ऋ. १।११०।३

हे ऋभुओं! (तत्) वह तत्व ज्ञान जो कि (अगोह्यं) गुह्य नहीं रहा है ऐसा (अमृतत्वं) मोक्ष (यत्) जिसको तुम (श्रवयन्त ऐतन) भिन्न-भिन्न स्थानों पर सुनाते हुये आये हो (वः) तुम्हारे उस तत्वज्ञान को (सविता) ऐश्वर्योत्पादक यजमान ने (आसुवत्) अपनी ओर प्रेरित किया अर्थात् धारण किया।

(त्यं एकं चित् सन्तं) उस एक रूप जोकि (असुरस्य भक्षणं) प्राण-शरीर के भक्ष्य रूप (चमसं) अन्न को तुमने (चतुर्वयं अकृणुत) चार भागों में विभक्त कर दिया।

यहाँ भी सविता गृहस्थ यजमान है, उसने अतिथि रूप में पधारे देव पुरुषों से गुह्य अमृतत्व प्रदान करने वाले उपदेश सूने। उन तत्वज्ञानियों ने केवल आत्मा के भक्षण के लिये ही अपना उपदेशामृत रूपी अन्न ही नहीं दिया प्रत्युत प्राण शरीर

के स्तम्भक भौतिक अन्न के चार विभाग कर प्रत्येक वर्ण के अनुकूल उन्हें बताया। ब्राह्मण को कैसा-कैसा अन्न खाना चाहिये जिससे कि उसके ब्राह्मणत्व की रक्षा हो सके। इसी भाँति क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि के उपयोगी अन्नों का उपदेश किया। 'ऋभु देवता' पुस्तक में हमने इस मन्त्र का अर्थ अन्य रूप में किया है।

८७ आनो देवः सविता साविषद् वय ऋजूयते यजमानाय सुन्वते।
यथा देवान् प्रतिभूषेम पाकवदा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे। ऋ १०।१०।३।

(देवः सविता) सर्व प्रेरक यह सविता देव (ऋजूयते) ऋजु सरल प्रकृति आचरण करने वाले (सुन्वते) सोम सवन करने वाले (नः यजमानाय) हमारे यजमान के लिये (वयः आ साविषत्) दीर्घायुष्य प्रदान करे। (यथा) जिससे (पाकवत्) परिपक्व बुद्धि व ज्ञान वाले की तरह (देवान् प्रति भूषेम) देवों व दिव्य शक्तियों को अपने अन्दर अंलकृत कर सकें। (सर्वतातिं) सर्व संसार व सर्व देवों का विस्तार करने वाली (अदितिं आवृणीमहे) अखण्डनीया देव माता अदिति की हम याचना करते हैं, या स्वीकार करते हैं। यहाँ सविता सर्वप्रेरक परमात्मा व सूर्य देव दोनों हो सकते हैं। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि सरल चित्त व ऋजु प्रकृति वाले सवन-परिश्रम आदि करने वाले की आयु दीर्घ होती है। इसके लिये अदिति माता का अखण्ड भाव जागृत कर स्मरण करना चाहिये।

८८ ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज्ज्योति विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन्।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः। ऋ. ४।१४।२

(सविता देवः) सविता देव ने (विश्वस्मैभुवनाय) सम्पूर्ण भुवन पर (ज्योतिः कृण्वन्) अपनी ज्योति को प्रसारित करते हुए (केतुं ऊर्ध्वं अश्रेत्) अपना सूर्य मण्डल रूपी झण्डा ऊपर उठाया हुआ है। यह सबको (चेकितानः) चिताने वाला प्रज्ञापक (सूर्यः) सूर्य (रश्मिभिः) अपनी किरणों से द्यावा पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष को व्याप्त किये हुए है :

इस मन्त्र में सविता सूर्यमण्डल में स्थित आदित्य पुरुष है। अगला मन्त्र है—

८९ तदिन्न्वस्य सवितुर्नकि र्मे हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत्।
आसुष्टुती रोदसी विश्वमिन्वे अपीव योषा जनिमानि वव्रे। ऋ. ३।३८।८

यह सविता (यां) जिस (हिरण्ययीं) हिरण्यमय (अमतिं) रूप को (अशिश्रेत्) धारण किये हुए हैं। (तदित्) वह ही (नु) निश्चय से (अस्य सवितुः) इस सविता का है (नकिः मे) मेरा नहीं है। (सुष्टुती) जिसकी खूब स्तुति की जाती है ऐसे (विश्वमिन्वे) विश्वव्यापी (रोदसी) द्यावा पृथिवी (अपीव योषा) समुच्चित योषा स्त्री के तुल्य (जनिमानि वव्रे) सकल उत्पत्तियों को वरण किये हुए हैं।

अमतिः रूप नाम-निघ ३।८ नकिः-निषेधे/विश्वमिन्वे विश्वव्यापिके विश्वं मिन्वं व्याप्तं याभ्यां ते । अपीव समुच्चिता इवं ।

इस मन्त्र में जीवात्मा कहता है कि सविता भगवान का अपना रूप तो हिरण्यमय है । यह रूप मेरा नहीं है । मेरा रूप तो द्यावा पृथिवी प्रदत्त रूप है । द्यावा पृथिवी ने स्त्री का रूप धारण किया हुआ है जो कि सकल उत्पत्तियों की जननी है । मेरी भी उत्पत्ति इसी द्यावा पृथिवी के अधीन है ।

९० हिरण्यपाणिः सविता सुजिह्व स्त्रिरादिवो विदथे पत्यमान : ।
देवेषु च सविता श्लोकमश्रेरादस्मभ्यमा सुव सर्वतातिम् । ऋ. ३।५४।११

(हिरण्यपाणिः) हिरण्यमय हाथों वाला (सुजिह्वः) उत्तम जिह्वा वाला अर्थात् उत्तम बोलने वाला यह (सविता) सर्व प्रेरक सूर्य (आदिवः) द्युलोक से नीचे (विदथे) सौरयज्ञ में (त्रिः) तीन बार (पत्यमानः) प्राप्त होता हुआ, पहुँचता हुआ या स्वामित्व करता हुआ विद्यमान होता है । (सवितः) हे सर्व प्रेरक सवितादेव तूने (देवेषु) देवों में (श्लोकं अश्रेः) अपनी कीर्ति से आश्रय लिया हुआ है अर्थात् देवों में तेरी कीर्ति पहुँची हुई है । अथवा श्लोक वेदवाणी द्वारा सदा स्तुति किया जाता है । (आद्) और तू (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सर्वतातिं) सब सुखों का विस्तार (आसुव) कर ।

———

सूर्य देवताक सूक्तानि

ऋ: १।५०।१-१३

ऋषि प्रस्कण्वः—काण्वः। देवता-सूर्यः। छन्दः—गायत्री १०·१३ अनुष्टुप

६१ उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ।१।

(केतवः) केतु सदृश सूर्य के अश्व या सूर्य रश्मियां (त्यं) उस (जातवेदसं) उत्पन्न प्राणियों के ज्ञाता ज्ञातप्रज्ञ व जातधन (देव) दिव्य गुणयुक्त (सूर्य) सर्व प्रेरक सूर्य को (विश्वाय दृशे) विश्व के दर्शन के लिए अथवा समग्र प्राणी उसको देख सकें इस कारण (उद्वहन्ति) ऊर्ध्व में वहन किए हुए हैं।

'उ' इति पादपूरणः—मिताक्षरेष्वनर्थकाः कमीमिद्विति निरु. १।९

जातवेदसं—जातानां वेदितारं ज्ञातप्रज्ञं जातधनं वा निरु. १२।१५

जातानि वेत्तीति जातवेदाः।

दृशे—दृशे विख्ये च पा. ३।४।११ तुमर्थे निपातितः

जातवेदसं-सूर्य के इस नाम से स्पष्ट है कि यह सूर्य सबको जानता है, मनुष्य जो कर्म प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में करता है उसे भी जानता है अर्थात् उससे कुछ भी प्रच्छन्न व गुह्य नहीं है।

६२ अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे ।२।

(त्ये) वे (नक्षत्रा) नक्षत्र, तारे (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (विश्वचक्षसे) विश्व के दृष्टा (सूराय) सूर्य के आगमन होने पर (तायवः यथा) चोरों के तुल्य (अपयन्ति) भाग खड़े होते हैं।

तायवः—तस्कराः तायुरिति स्तेन नाम। नि. ३।२४।७

अक्तुभिः—अक्तुरिति रात्रि नाम शर्वरी अक्तुः। नि. १।७।४

नक्षत्रः—नक्ष गतौ+अभिनक्षियजि वधिपतिभ्योऽत्रन्। उणा. ३।१।५

इति अत्रन् प्रत्ययः। यद्वा नक्षरति न क्षीयत इति वा।

नक्षत्रम्नक्षीयते क्षरतेर्वा नक्षत्रमिति निपात्यते।

देव गृहा वै नक्षत्राणि तै ब्रा. १।५।२।६ यो वा इह यजतेऽमुं स लोकं नक्षते तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्' तै ब्रा. १।५।२।५ सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि

तै. सं. ५।४।१।३   नक्षत्राणि नक्षते र्गतिकर्मणो नेमानि क्षत्राणीति च ब्राह्मणम् ।
नि. ३।२०

विश्वचक्षा—विश्वंचष्टे प्रकाशयतीति विश्वचक्षाः चक्षेर्बहुलं शिच्च उणा० ४।६७२ इति असुन् प्रत्ययः उभयत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ।

इस मन्त्र में एक सामान्य प्राकृतिक घटना का दिग्दर्शन कराया गया है कि सूर्य के उदय होने पर नक्षत्र चोरों की तरह रात्रि के साथ भाग खड़े होते हैं। परन्तु इसका आध्यात्मिक पक्ष बहुत उत्कृष्ट स्थिति को दर्शाता है । मानव का आन्तरिक सूर्य विश्व के द्रष्टा के रूप में जब उदित हो जाता है तब नक्षत्र =इन्द्रियाँ तथा तज्जनित सीमायें और इन इन्द्रियों के विषय अज्ञान रात्रियों के साथ इस प्रकार लुप्त हो जाते हैं जैसे चोर भाग खड़े होते हैं । हमारी इन्द्रियाँ देव हैं इनके गृह देवगृह कहलाते हैं । इन इन्द्रियों का अपने विषय के प्रति सदा गमन (नक्षगती) रहता है । आन्तरिक सूर्य के उदय होने पर विषयों के प्रति इन्द्रियों का जाना रुक जाता है इस प्रकार मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ मनुष्य को अपने आन्तरिक सूर्य को उदित करने के लिये प्रेरणा देता है ।

९३   अदृश्रमस्य केतवो विरश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ।३।

(अस्य) इस सूर्य के (केतवः) प्रज्ञापक (रश्मयः) रश्मियाँ (जनान् अनु) मनुष्यों को (वि अदृश्रं) विश्व जगत का दर्शन कराती हैं । किस प्रकार ? (भ्राजन्तो अग्नयो यथा) जिस प्रकार खूब प्रज्वलित अग्नियाँ सब वस्तुओं को दिखा देती हैं ।

ग्रीष्म ऋतु में तो ये सूर्य किरणें एक प्रकार से अग्नि धारायें ही हैं ऐसा समझना चाहिये ।

अदृश्रम्:—दृशिर् प्रेक्षणे वर्तमाने लुङ् । शाखान्तरे अदृश्रन्नस्य केतवः इति श्रूयते ।

अध्यात्म पक्ष में यह समझना चाहिये कि जब आन्तरिक सूर्य उदय होकर खूब प्रवृद्ध होता है तब उसकी रश्मियाँ भी प्रज्वलित अग्नि ज्वाला के तुल्य देदीप्यमान रूप में दृष्टिगोचर होती हैं ।

९४   तरणि विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमाभासि रोचनम् ।४।

हे सूर्य ! तू (तरणिः) आकाशीय महान् मार्ग को पार करने वाला है या उपासकों को रोगादि से पार कराने वाला है अन्तर्यामी रूप में विद्यमान हे सूर्य भगवान् तू भक्तों को संसार सागर से पार कराने वाला है (विश्वदर्शतः) सब प्राणियों द्वारा दर्शनीय यद्वा सकल भूतजात जिससे प्रकाश में आता है (ज्योतिष्कृत्) प्रकाश का कर्त्ता अथवा चन्द्रादि अन्य ज्योतियों को प्रकाश देने वाला है । इस कारण हे सूर्य! तू (विश्वं रोचनं आभासि) समस्त अन्तरिक्ष को आभासित करता है ।

अन्तर्यामी रूप में विद्यमान सबके प्रेरक परमात्मन् ? तू मुमुक्षुजनों को संसार सागर से पार करने वाला हैं। सब मुमुक्षुजनों द्वारा तु दर्शनीय अर्थात् साक्षात् कर्त्तव्य है, सूर्य चन्द्रादि सब ज्योतियों को तू बनाने वाला है। इस प्रकार चिद् रूप से तू सब दृश्यमान जगत् को देदीप्यमान बनाता है।

सूर्य गति—योजनानां सहस्रे द्वे-द्वे शते द्वे च योजने।
एकेन निमिषार्धेन क्रममाण नमोऽस्तु ते ॥ स्मृति
सूर्य से आरोग्यता–आरोग्यं भास्करादिच्छेत्
दर्शने ज्योतिषां दर्शनम्। आपस्तम्ब'

ज्योतिष्कृत्–"चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत" तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा। सर्वमिदं विभाति। तै. आ, ३।१२।६
५।१५

तरणिः—तॄ प्लवनसन्तरणयोः।

६५ प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ।५।

हे सूर्य! तू (देवानां विशः) देवी प्रजा के (प्रत्यङ् उदेषि) प्रति उदित होता है अर्थात् उनके अभिमुख होता है तथा (मानुषान् प्रत्यङ् उदेषि) मनुष्यों के प्रति उदित होता है (विश्वं स्वः दृशे) अभिव्याप्त विस्तृत स्वर्लोक को देखने के लिये (प्रत्यङ् उदेषि) स्वर्लोक वासी जनों के प्रति उदित होता है।

देवानां विशः—मरुतौ वै देवानां विशः, तै. सं. २।२।५।७

मरुत देवताओं की प्रजायें हैं। बाह्य ब्रह्माण्ड में ये वायुवे हैं जो कि ४९ प्रकार की हैं। शरीर में ये प्राणवायुवें हैं। राष्ट्र-पक्ष में ये सैनिक हैं। सूर्य की स्थिति ऐसी है कि सब ग्रहों उपग्रहों व नक्षत्रों के निवासी ये समझते हैं कि यह सूर्य हमारे लिये उदित हुआ है। कहा भी है 'तस्मात् सर्व एव मन्यते माँ प्रत्युदगात्' तै. सं. ६।५।४।२ प्रत्यङ्-प्रति अञ्चतीति, अञ्चु गति पूजनयोः। ऋत्विक् इत्यादिना क्विन् अनिदिताम् इति न लोपः, उगिदचाम् इति नुम्।

स्वः—सुपूर्वात् अर्तेः विच् गुणे यणादेशः।

६६ येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनां अनु। त्वं वरुण पश्यसि ।६।

हे (पावक) पवित्र कारक (वरुण) अनिष्ट निवारक यद्वा पापीजनों के घेरने वाले सूर्य (त्वं) तू (जनान्) उत्पन्न प्राणियों को (भुरण्यन्तं) धारण पोषण किए जाते हुए इस ब्रह्माण्ड को (येन चक्षसा) जिस दृष्टि से (अनुपश्यसि) अनुकूलता से देखते हो उसकी हम स्तुति करते हैं अथवा इस ऋचा का अगली ऋचा (७वीं) से सम्बन्ध कर अर्थ कर लेना चाहिये। इसी बात को यास्काचार्य ने लिखा है "तत्ते वयं स्तुम इति वाक्य शेषोऽपि वोत्तरस्यामन्वयस्तेन व्येषि" भुरण्यन्तम्-भुरण धारणपोषणयोः कण्ड्वादित्वात् यक् ततः शतरि कर्तरिशप्।

सूर्य पवित्र करने वाला है अतः सूर्य का सेवन करना अत्यन्त उपयोगी है। सूर्य को 'वरुण' शब्द से कहने का तात्पर्य यह है कि यह आधि व्याधि का निवारण करता है। विजातीय तत्वों को घेरकर शरीर से बाहर कर देता है मलमूत्र पसीने आदि द्वारा यह शरीरस्थ विजातीय तत्वों को विनष्ट कर देता है। यही सूर्य सब लोक लोकान्तरों का 'भुरण्यु' भर्ता पालन पोषण करने वाला है वह सब प्राणियों को उनकी सामर्थ्य शक्ति व योग्यता को दृष्टि में रखकर तदनुकूल देखता है। देखने का तात्पर्य यह है कि जो जितनी शक्ति को ले सकता है उसे उतना ही देता है।

वरुण—वृञ् वरणें अस्मादन्तर्भावितण्यर्थात्।

९७ वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य ।७।

हे सूर्य! तू (जन्मानि पश्यन,) प्राणियों की उत्पत्तियों अथवा जन्म लेने वाले प्राणियों को देखता हुआ (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (अहामिमान) दिनों को मापता हुआ या निर्माण करता हुआ (पृथुःरजः) विस्तृतलोक (द्यां) द्युलोक में (विएषि) विशेष रूप से गति करते हैं।

रजः—लोका रजांस्युच्यन्ते। निरु. ४।१९

मिमानः—माङ्माने जौहोत्यादिकः शानचि श्लौ द्विर्भावः।

जन्मानि—जनि प्रादुर्भावे अन्येभ्यो ऽपि दृश्यन्ते इति मनिन्। अध्यात्म क्षेत्र में अहामिमानो अक्तुभिः का भाव यह होगा कि जब आन्तरिक सूर्य उदित हो जाता है तब आन्तरिक क्षेत्र, अंग प्रत्यङ्ग, आत्मा व परमात्मा आदि जो रात्रि के अन्धकार में विलीन थे वे प्रकाशित हो जाते हैं अर्थात् रात्रि से दिन का निर्माण होगा या ऐसा समझना चाहिए।

९८ सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण ।८।

(देव) द्योतमान दिव्यगुणयुक्त (विचक्षण) सबके प्रकाशित करने वाले सूर्य (शोचिष्केशं त्वा) तुझ ज्योतिर्मय केशों वाले को (सप्तहरितः) रसादि हरण करने वाले तेरे सात रश्मि रूप अश्व तुझे (रथेवहन्ति) रथ में वहन करके ले जाते हैं

सूर्य का रथ उसका अपना मण्डल है और उसमें ज्योति दीप्ति व ताप आदि शक्ति रूप में रहने वाला सूर्य कहलाता है। सात प्रकार की किरणें उसके सात प्रकार के अश्व हैं।

शोचिष्केशं—शोचींषि तेजांस्येव यस्मिन् केशा इव दृश्यन्ते स तथोक्तः तम्। शुच् दीप्तौ अर्चिशुचि० इत्यादिना इसि प्रत्ययः नित्यं समासेऽनुत्तर० षत्वम्।

हरितः—हरित आदित्यस्य, निरु. १।१५।३

९९ अयुक्त सप्तशुन्ध्युवः सूरोरथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ।९।

(सूर:) सबके प्रेरक सूर्य ने (रथस्थ नप्त्य:) रथ को न गिरने देने वाले (सप्त शुन्ध्युव:) शोधन करने वाले सात किरण रूपी अश्वों को (अयुक्त) रथ में जोड़ा (स्वयुक्तिभि:) अपनी योजनाओं के आधार पर (ताभि:) उन किरणों से (याति) चलता है।

सूर्य अपने आकर्षण बल से सब ग्रहों उपग्रहों को आकर्षित किए हुए है। जिससे कि वह सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण कर रहे हैं परन्तु प्रश्न यह है कि सूर्य को किसने आकर्षित किया हुआ है ? इसका उत्तर मन्त्र ने यह दिया है कि ये सूर्य की किरणें ही हैं जो इस सूर्य रथ को गिरने नहीं देतीं। उस सूर्य की अपनी योजनायें क्या हैं यह वैज्ञानिक जो साथ में योगी भी हों वे ही स्पष्ट कर सकते हैं।

अयुक्त—युजिर् योगे लुङ्।

शुन्ध्युव:—शुन्ध् विशुद्धौ—यजिमनिशुन्धि० उणा. ३/३००

सूर:—षु प्रेरणे सुसूधागृधिभ्य: रन् उणा. २/१८२

नप्त्य:—न पातयतीत्यर्थे: नप्तृ नेष्टृ उणा. २/२५२

स्वयुक्तिभि:—स्वकीया: सूर्य सम्बन्धिन्यो युक्तयो योजनानि यासांताभि:।

१०० **उद्वयम् तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।**
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योति रुत्तमम्।१०।

(वयं) हम स्तोता भक्तजन (तमस: परि) पाप रूपी अंधकार से परे (उत्) ऊपर उठकर (उत्तरं ज्योति: पश्यन्त:) उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर ज्योति को देखते हुए (देवत्रा देवं) देवों में सर्वश्रेष्ठ देव (उत्तमं ज्योति: सूर्यं अगन्म) उत्तम ज्योति रूप सूर्य को प्राप्त करें या वहाँ पहुँचे।

"उद्वयं तमसस्परीत्याह पाप्मा वै तम: पाप्मानमेवास्मादपहन्ति"

तै. सं. ५।१।८।६

"अगन्म ज्योतिरुत्तमित्याहासौ वा आदित्यो ज्योतिरुत्तममादित्यस्यैव सायुज्यं गच्छति" तै. सं. ५।१।८।६

तमसस्परि—पञ्चम्या: परावध्यर्थे इति विसर्जनीयस्य सत्वम्।

ज्योतिष्पश्यन्त:—'इसुसो: सामर्थ्ये पा. ८।३।४४ इति विसर्जनीयस्यषत्वम्।

देवत्रा:—देव मनुष्य पुरुष पुरु मर्त्येभ्यो द्वितीया सप्तम्योर्बहुलम् इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्यय: पा. ५।४।५६

१०१ **उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।**
हृद् रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।११।

(मित्रमह.) हम स्तोता मित्रों द्वारा पूज्य अथवा हम मित्रों को सुख स्वास्थ्य, धनैश्वर्य आदि प्रदान द्वारा सत्कृत करने वाले (सूर्य) सबके प्रेरक देव! (अद्य) आज

(उत्तरां दिवं) उत्कृष्टतर द्युलोक में [उद्यन्] उदय होता हुआ [आरोहन्] आरोहण करता हुआ तू (मम) मेरे (हृद् रोगं) हृदय रोग को और (हरिमाणं) शारीरिक कान्ति को हरने वाले बाह्य रोग को अथवा शरीरगत हरित वर्ण रोग को (नाशय) नष्ट कर।

मित्रमहः—यो मित्राणि पूजयति सः तत्सम्बुद्धौ। मित्राणां महः पूज्यः, मित्रमनुकूलं महस्तेजो यस्यासौ, यः मित्रैः पूज्यते सः। महान्ति मित्राणि यस्य तत्सम्बुद्धौ।

हरिमाणम्—हरणशीलं यद्वा शरीरगतं हरिद्वर्णं कामला रोगं।

इस मन्त्र में सूर्य से हृदय रोग तथा कामला रोग को नष्ट करने की प्रार्थना मिलती है। इन रोगों को वह उदय होकर जब आकाश में ऊर्ध्व को चढ़ता दृष्टि-गोचर होता है तभी दूर करता है। परन्तु एक शर्त है कि उसे मित्र बनाना पड़ेगा या हम उसके मित्र बनें तभी सूर्य द्वारा रोग निवारण सम्भव है।

१०२ **शुकेषु मे हरिमाणम् रोपणाकासुदध्मसि।**
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं निदध्मसि।१२।

(मेहरिमाणम्) अपना हरिमा वर्ण (शुकेषु) तोतों में तथा (रोपणाकासु) मैनाओं में (दध्मसि) रखते हैं, क्योंकि हरिमा इनके अनुकूल है। (अथो) और (हारिद्रवेषु) हरिताल वृक्षों में मेरी अपनी हरिमा को (निदध्मसि) धारण कराते हैं। अर्थात् यह हरिमा वहाँ सुखपूर्वक रहे हमें बाधित न करे।

दध्मसि—'इदन्तो मसि' इति मस इकारागमः।

१०३ **उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।**
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्मो अहं द्विषते रधम्।१३।

(अयं आदित्य) यह अदिति पुत्र सूर्य (विश्वेन) सम्पूर्ण (सहसा सह) बल के साथ (उदगात्) उदय हुआ है। क्या करता हुआ? (मह्यं द्विषन्तं) मेरे रोगादि शत्रुओं को (रन्धयन्) हिंसित करता हुआ अर्थात् मेरे सब रोगों को यह विनष्ट कर रहा है (अहं) मैं (द्विषते) अपने शत्रु के लिये (मा उ रधम्) नष्ट न होऊँ।

इस मन्त्र का यह तात्पर्य है कि रोगी को इतना दृढ विश्वास होना चाहिये कि यह सूर्य ही मेरे सब रोगादि शत्रुओं को नष्ट करेगा। अतः मैं अन्य कोई काष्ठादि औषधी न लेकर सूर्य चिकित्सा ही करूंगा। अथवा मैं इतना लापरवाह न बन जाऊँ।

रन्धयन्—रध् हिंसा संराद्ध्योः ण्यन्तात् लटः शतृ नुमागमः पा. ६।१।६१

मो—मा उ। मो अहं—ओत्। १।१।१५ इति प्रगृह्यत्वे।

रधम्—रधेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेः अङादेशः रधिजभो॰ नुम् अनिदिताम्' इति अनुषङ्गलोपः न माङ्योगे अडभावः।

ऋ. १।११५।१-६

ऋषिः—कुत्सः। देवता—सूर्यः। छन्द—त्रिष्टुप्

१०४ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।१।

(देवानां) देवों अथवा रश्मियों का (चित्रं) अद्भुत (अनीकं) समूह (उदगात्) उदय हुआ है। यह रश्मि समूह (मित्रस्य) मित्र अर्थात् प्राण (वरुणस्य) वरुण अर्थात् अपान तथा (अग्नेः) अग्नि का (चक्षुः) प्रकाशक है। उदित होकर इसने (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं) इन तीनों लोकों को (आअप्राः) अपने तेज से पूरित कर दिया है। यह (सूर्यः) सबका प्रेरक सूर्य (जगतः) जंगम (तस्थुषश्च) और स्थावर सबका (आत्मा) आत्मा रूप है।

यह सूर्य सबका अन्तर्यामी होने से स्थावर और जंगम सब प्राणी जगत का कारण रूप है। (तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः "ब्र. सू २, १, १४ योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति" तै, आ, १, १४, १

आप्राः—आप्रा पूरणे लङि पुरुष व्यत्ययः अदादित्वात् शपोलुक्।

१०५ सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रतिभद्राय भद्रम् ।२।

(सूर्यः) सबका प्रेरक यह सूर्य (रोचमानां) शोभायमान दीप्तिमती (देवीं) दिव्य गुण वाली (उषसं पश्चात्) उषा देवी के पीछे आता है। तत्र दृष्टान्त (मर्यो न योषां अभ्येति) जिस प्रकार मनुष्य एक सुन्दर स्त्री के पीछे-२ आता है। (यत्र) जिस उषा काल में (देवयन्तः नरः) अपने को देव बनाने की इच्छा वाले मनुष्य अथवा देव रूप सूर्य का यजन व उपासना करने की इच्छा वाले (युगानि वितन्वते) युग अर्थात् काल में होने वाले अग्नि होत्र आदि कर्मों का विस्तार करते हैं उपासना व ध्यान आदि करते हैं। यहाँ युग शब्द काल का वाचक है। उस काल में होने वाले अग्नि होत्र आदि कर्मों का ग्रहण करना चाहिए। अथवा देवयजन की इच्छा वाले मनुष्य (युगानि) पत्नी सहित युग्म बनकर अग्नि होत्रादि कर्म करते हैं। (भद्रं) कल्याण मय अग्नि होत्रादि कर्म (भद्राय प्रति) पुण्यफल के लिए करते हैं।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर सन्ध्यावन्दनादि कर्म करने चाहिए। अपने को देव अर्थात् दिव्य गुणों का आगार बनाने का प्रयत्न करना चाहिए तभी मनुष्य का कल्याण है।

मर्यः—मृङ् प्राण त्यागे छन्दसि निष्टक्र्य, इति यत् प्रत्ययान्तो निपात्यते।

युगानि—युजेः कर्मणि धञ् । वितन्वते, तनुविस्तारे (तनादि कृञ्भ्यउः)

१०६ भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः ।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परिद्यावापृथिवीयन्ति सद्यः ।३।

(सूर्यस्य) सूर्य के (अश्वाः) व्यापनशील अश्व (एतग्वा.) प्रत्यक्ष पदार्थों के प्रति जाने वाले अथवा गतिमय पदार्थों को गति युक्त रखने वाले (चित्राः) अद्‌भुत (अनुमाद्यासः) जिनकी अनुकूलता में आनन्द मनाना योग्य हैं (हरितः) हरणशील (नमस्यन्तः) हमारे द्वारा नमस्करणीय (दिवः पृष्ठं आअस्थुः) द्युलोक के पृष्ठ भाग पर स्थित होते हैं । और (सद्यः) शीघ्र ही (द्यावा पृथिवी परियन्ति) द्युलोक तथा पृथिवी लोक का चक्कर लगा लेते हैं ।

अश्वाः—अशूङ् व्याप्तौ अशिप्रुषि क्वन् । हरितः—हरणशीलाः ।, चित्राः—अद्‌भुत या विचित्र वर्ण वाले ।

एतग्वाः —एतान् प्रत्यक्ष दृश्यान् पदार्थान् गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ते । यद्वा एतान् गतिमयान् (इण गतौ) पदार्थान् गमयन्ति गतियुक्तान् कुर्वन्ति ते ।

एतं गन्तव्यमार्गं गन्तारो—सायणाचार्य

अनुमाद्यासः—आनुकूल्येन माद्यासः मादनीयाः अनुमोदनीयाः अनु + मदि-स्तुतौ ण्यन्तात् यत् अचोयत् । नमस्यन्तः—नमोवरिवः इति पूजार्थे क्यच् ।

उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य की रश्मियों का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है । ये समग्र जगत् का कल्याण करने वाली हैं । सब पदार्थों में जाकर उन्हें व्याप्त कर लेती हैं और व्याप्त करके उनको गति देती है । उनके अणु रेणु में गति प्रदान करती है । "एतग्वा" का भाव यही है । इनके स्वरूप व इनके कार्य को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम कर सकना कठिन है । इसलिए इन्हें 'चित्राः' अद्‌भुत कहा है । यदि इन सूर्य की किरणों से लाभ उठाना है तो इनकी अनुकूलता में रहने में आनन्द मनाना चाहिए या इन्हें अनुकूल बनावें । प्रातः काल जब सूर्य उदय हो तो इन्हें नमस्कार करना चाहिए ।

१०७ तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ।।४।

(सूर्यस्य) सर्व प्रेरक सूर्य का (तत्) वह (देवत्वं) देवपना है (तन्महित्वं) वह महिमा है कि (मध्याकर्तोः) कर्म के मध्य में ही अर्थात् अभी कर्म समाप्त नहीं हुए होते कि (विततं संजभार) संसार में फैली अपनी रश्मियों को समेट लेता है ।

(यदा) जब यह सूर्य (हरितः) अपने हरणशील अश्वों को (सधस्थात्) पृथिवी के सहस्थान से हटाकर (इत्) निश्चय से (अयुक्त) अपने में युक्त कर लेता है तब

(आत्) इसके अनन्तर ही (रात्री) रात्री देवी (अस्मै) इस सूर्य के लिए (वासः) तम रूपी वस्त्र (तनुते) फैला देती है।

सूर्य अपने नियम के अनुसार किरणों को प्रसारित करता है और समेट लेता है, चाहे मनुष्यों के कार्य पूर्ण व समाप्त हों या न हों। वह किसी के लिए रुकता नहीं, यही उसका देवत्व है और यही उसकी महिमा है। जब वह अपनी रश्मियों को पृथिवी पर से समेट लेता है तभी रात्रि का अन्धकार फैलता है मानो रात्रि देवी ने सूर्य के लिए वस्त्र फैला दिया हो।

अयुक्त—अन्यत्र संयुक्तान् करोति, यद्वा युजिः केवलोऽपि विपूर्वः द्रष्टव्यः।

अत्र निरुक्तम्—तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्ये यत् कर्मणां क्रियमाणानां विततं संह्रियते यदासौ अयुक्त हरणानादित्यरश्मीन् हरितोऽश्वानिति वाथ रात्रीवासस्तनुते सिमस्मै वासरमहरवयुवती सर्वस्मात् "निरु. ८।११

महित्वम्:—मह पूजायाम् औणादिक इन् प्रत्ययः। तस्य भावस्त्वतलौ'

पा. ५।१।११९

मध्या—मध्य शब्दात् सप्तम्येक वचनस्य सुपांसुलुक् इति डादेशः। कर्तोः-करोते रौणादिकः तुन् प्रत्ययः। विततम्-विपूर्वात् तनोतेः कर्मणि निष्ठा।

१०८ तन्मित्रस्य वरुणस्याभि चक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः संभरन्ति ॥५

(तत्) उदय काल में (मित्रस्य) प्राणन क्रिया करते हुए (वरुणस्य) अपान क्रिया करते हुए अर्थात् प्राणापान क्रिया युक्त समग्र जगत के (अभिचक्षे) प्रकाशन के लिए यह (सूर्यः) सर्वप्रेरक सूर्य (द्योरुपस्थे) द्युलोक के पृष्ठ पर (रूपं कृणुते) रूपों का निर्माण करता है अथवा पृथिवी आदि लोकों में रूप प्रदान करने वाले तेज को उत्पन्न करता है। (अस्य) इस सूर्य की (हरितः) रसादि हरणशील रश्मियां (अन्यत्) एक प्रकार की हैं वे (अनन्त) अनन्त स्वरूप वाले (रुशत्) तेज को तथा (पाजः) बल को (सम्भरन्ति) सम्भरण करती हैं (अन्यत्) दूसरी किरणें दूसरे प्रकार के (रुशत्) कृष्ण रूप अर्थात् रात्रि के अन्धकार में दूसरे बल को धारण करती है अथवा (कृष्णं पाजः) आकर्षण करने वाले बल को धारण करती हैं।

मित्रावरुणौ प्राणापानौ ता. ६।१०।५, श. प. ८।४।२।६

पाजः—बलं, पाति रक्षतीति पातेर्बलेजुट्च उणा ४।६४२ इति असुन् जुडागमश्च। रुशत् - रुशदीप्तौ।

उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य की दो प्रकार की किरणों की ओर निर्देश है। एक प्रकार की किरणें देदीप्यमान है, दिन का प्रकाश करने वाली है और अनन्त रूप है और बल भी इनका अनन्त है। दूसरी किरणें रात्रि में कार्य करती हैं ये कृष्ण रूप

की है अथवा आकर्षण करने वाली हैं। इन्हीं किरणों के बल से इस जगत में प्राण अपान क्रिया द्वारा निर्माण व विनाश चालू है।

१०९ अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात्
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ।।६।

(देवः) हे दिव्य गुण युक्त सूर्य रश्मियों (अद्य) आज (सूर्यस्य उदितौ) सूर्योदय के समय हमको (अंहसः) पाप से तथा (अवद्यात्) निन्दित कर्म से (निः) निकाल कर (पिपृता) हमारी पालना करो। यह जो कुछ हमने कहा है—वह (नः) हमारा कथन (मित्रः) प्राण देने वाला मित्र (वरुणः) रात्र्यभिमानी, अनिष्टों का निवारक अपान रूप वरुण देवता (अदितिः) अखण्डनीय देवमाता (सिन्धुः) नदी आदि स्यन्दनशील जलों का देवता (पृथिवी उत द्यौः) पृथ्वी और द्युलोक (नः मामहन्ताम्) हमारा अनुमोदन करें।

मित्रः—प्रमीते स्त्रायकः—प्र + मीञ्, हिंसायाम् त्रैङ्पालने।

उदिता – उत् पूर्वात् एतेर्भावेक्तिन् सुपां सुलुक् इति डादेशः

पिपृत—पृ पालन पूरणयोः पृ इत्येके लोटि।

ऋ. १०।३७।१-१२

११० नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।
दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ।।१।

हे उपासको! तुम (मित्रस्य वरुणस्य) प्राण और अपान अथवा मित्र तथा शत्रु=आवरक शक्तियों के (चक्षसे) दर्शाने वाले (देवाय) दिव्यगुणयुक्त सूर्य के लिये (महः) महान् (ऋतं सपर्यत) ऋत द्वारा परिचर्या करो। (दूरे दृशे) दूर होते हुए भी जो दृष्टि गोचर हो रहा है ऐसे (देव जाताय) देवों में उत्पन्न अथवा देवाधिदेव हिरण्यगर्भ से उत्पन्न अथवा देवत्व प्राप्त कराने के लिए उत्पन्न (केतवे) भागवत शक्ति के चिन्ह रूप व ध्वज (दिवस्पुत्राय) द्युलोक के पुत्र (सूर्याय) सूर्य की (शंसत) प्रशंसा व स्तुति करो।

इस जगत में जो प्राण और अपान क्रिया हो रही है निर्माण व विनाश अर्थात् विजातीय तत्वों का किस प्रकार विनाश हो रहा है यह सब सूर्य दर्शा रहा है। इस सूर्य की ऋत द्वारा सपर्या=(पूजा) करनी चाहिए। ऋत शक्ति सम्पन्न गतिमय सत्य को कहते हैं। सूर्य ध्यान के समय चेतना में सत्य गति होनी चाहिए, यहाँ प्रसुप्त व निर्विकल्पक स्थिति उपयुक्त नहीं है। ऋत सूक्ष्मता को भी द्योतित करता है अर्थात् स्थूलता से स्थूल जगत् से मन का नाता तोड़ सूक्ष्मता में प्रविष्ट होना

चाहिए। मन में दिव्यता का भाव उदित रहे ऐसी अवस्था में ऋत द्वारा सूर्य की सपर्या ठीक होती है। सूर्य से ही दूर दृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि तथा देवत्व की उत्पत्ति होती हैं। यह सूर्य द्युलोक का पुत्र है इसी प्रकार सूर्य सदृश द्युलोक के और भी पुत्र हैं।

१११ सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः।२।

(सा सत्योक्तिः) वह सत्यवचन सत्यभाषण (मा) मेरी (विश्वतः) सब ओर से (परिपातु) रक्षा करे, कहाँ से ? (यत्र) जहाँ (द्यावा) द्यावाभूमी (च) और (अहानि) दिन रात (ततनन्) फैले हुए हैं। (विश्वं अन्यत् निविशते) जहाँ समग्र भूत जात निवेश कर रहा है। (यत् एजति) जो गति कर रहा है (विश्वाहा आपः) जहाँ सदा जल रहते हैं और जहाँ (विश्वाहा सूर्यः उदेति) सदा सूर्य उदित रहता है।

इस मन्त्र में सत्य भाषण की कितनी ऊँची महिमा वर्णित हुई है यह स्पष्ट है। यह सत्यवचन कहाँ-कहाँ रक्षा करता है, यह मन्त्र में अत्यन्त स्पष्ट कर दिया गया है। एक प्रकार से समग्र ब्रह्माण्ड में सत्यवक्ता का कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।

११२ न ते अदेवः प्रदिवो निवासते यदेतशेभिः पतरैरथर्यसि
प्राचीनमन्यदनुवर्तते रजः उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य।३।

हे सूर्य! (अदेवः) अदेव व्यक्ति अर्थात् जो व्यक्ति देव नहीं बना है वह तो (ते प्रदिवः) तेरे प्रकृष्ट द्युलोक में (न निवासते) निवास नहीं कर सकता। कब ? जब तू (पतरैः) गतिशील (एतशेभिः) अश्वों द्वारा (रथर्यसि) रथ को युक्त करना चाहता है अथवा जाता है (प्राचीनं) पुरातन आदिकाल की (अन्यद्) दूसरी ज्योति है जो कि (रजः अनुवर्तते) पृथिवी आदि लोक लोकान्तरों का अनुवर्तन करती रहती है। हे सूर्य! तू (अन्येन ज्योतिषा) इसके अतिरिक्त अन्य ज्योति से (उद्याति) उदित होता है।

उपर्युक्त मन्त्र से यह तथ्य उजागर हो रहा है कि जो व्यक्ति देव नहीं बना है वह सूर्यलोक में प्रवेश नहीं कर सकता। उपर्युक्त मन्त्र के पूर्वार्द्ध का यह भी अर्थ हो सकता है, हे सूर्य ! (प्रदिवः) पुरातन काल से ही (अदेवः) अन्धकार (ते) तेरे पार्श्व में (न निवासते) रह नहीं सकता (यत्) जबकि तू (पतरैः) गतिशील (एतशेभिः) अश्वों द्वारा (रथर्यसि) चलता है।

रथर्यति—गति कर्मा निघ. २।१४

यास्काचार्य ने 'रथर्यति' क्रिया की निष्पत्ति निम्न प्रकार की है "रथर्यतीति सिद्धस्तत्प्रेप्सुः, रथं कामयत इति वा, तत् प्रेप्सुः—तत् रथं प्रेप्सुः प्राप्तुमिच्छति

इति,'' अर्थात् रथर्यति रथ प्राप्त करना चाहता है। दूसरा अर्थ रथर्यति गति कर्मा निघ. २।१४ के आधार पर जाता है यह अर्थ होगा।

प्रदिवः—प्रकृष्ट द्युलोक, "प्रदिवः पुराण नाम" निघ.३।२७

उपर्युक्त अर्थ से यह स्पष्ट है कि यह सूर्य अपने रथ पर समारूढ़ हो इस ब्रह्माण्ड में गति करता है तो कोई भी अदेव शक्ति समक्ष रह नहीं सकती। यह इसका पुरातन काल से चला आ रहा अटूट नियम है। इससे पूर्व अर्थ की दृष्टि से यह भी सत्य है कि कोई भी अदेव शक्ति सूर्य मण्डल को भेदन कर ऊर्ध्व नाक-लोकों में नहीं पहुँच सकती। देवयान मार्ग पर जाने वाले ही वहाँ पहुँच सकते हैं।

११३ येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
तेनास्मद विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुःष्वप्न्यं सुव।४।

हे सूर्य! (येन ज्योतिषा) जिस ज्योति से तू (तमः बाधसे) अंधकार का निवारण करता है और (भानुना) जिस भानु अर्थात् किरण के प्रभाव से (विश्वं जगत्) सम्पूर्ण जगत् का (उदियर्षि) उद्गम करता है। (तेन) उस तेज से (अस्मत्) हमारे (विश्वां अनिरां) सम्पूर्ण अन्नाभाव को (अनाहुतिं) यज्ञाभाव को (अमीवां) रोग समूह को (अप) दूर कर तथा (दुःष्वप्न्यं) दुःस्वप्नों तथा तज्जनित दुष्प्रभावों को तू (अपसुव) दूर कर।

उत् इयर्षि—उद्गमयसि—इयर्ति गति कर्मा निघ. २।१४

अनिराम्—न + इराम् - इरा इन्नम्।

११४ विश्वस्य हि प्रेषितो रक्षसि व्रतमहेडयन्नुच्चरसि स्वधा अनु।
यदद्य त्वा सूर्योपब्रवामहै तन्नो देवा अनुमंसीरत क्रतुम्।५।

हे सूर्य! (प्रेषितः) सवितृ शक्ति से प्रेरित तू (अहेडयन्) क्रुद्ध न होता हुआ (विश्वस्य) सम्पूर्ण भूतजात के (व्रतं) व्रत कर्म की (रक्षसि) रक्षा करता है। मनुष्य पशु-पक्षी आदि प्राणियों को तत्तदनुकूल कर्मों को करने के लिये प्रेरित करता है। (स्वधाअनु) अपनी धारण सामर्थ्य के अनुसार तू प्रतिदिन (उच्चरसि) उदित होता है। यद्वा-द्यावा पृथिवी की अनुकूलता में रहता हुआ हे सूर्य! (यत्) जो (अद्य) आज (त्वा) तुझे हम (उपब्रवामहे) उपस्थान कर स्तुति प्रार्थना करते हैं तो (नः) हमारे इस (क्रतुं) संकल्पित कर्म का (देवाः) देव लोग विद्वान् (अनुमंसीरत) अनुमोदन करें।

स्वधा—स्वकीया धारण शक्तिः। दयानन्द १।२१।६

द्यावा पृथिव्योर्नाम। निघ. २।३०

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप में सूर्योपस्थान का संकेत किया है। उसके समक्ष उपस्थित हो स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये। बाल्मीकि रामायण का 'आदित्य हृदय' नाम से सूर्य का स्तवन अत्यन्त उपयोगी है। इसी प्रकार कौत्सायनि स्तुति तथा

अन्य वैदिक शास्त्रों में सूर्य स्तवन अनेक प्रकार से हुआ है। जैसा-जैसा मनोभाव होगा वैसी-वैसी शक्ति सूर्य से आकर्षित की जा सकती है क्योंकि यह मन इस संसार में सबसे प्रबल चुम्बक हैं। सूर्य का स्तवन ठीक है कि नहीं इसकी परख यही है कि देवों, दिव्य गुणों व दिव्य शक्तियों का अनुमोदन होना चाहिये। ये देव हमारे अन्दर उत्पन्न हो वृद्धिगत हो रहे हैं कि नहीं यही वास्तविक कसौटी है। स्वधा पद यहाँ सूर्य की अपनी धारण शक्ति या द्यावा पृथिवी का वाचक है। सूर्य में अपनी धारण सामर्थ्य तो है ही पर उसका कितने अश में व कितनी मात्रा में उपयोग करना है यह द्यावा पृथिवी, मस्तिष्क व अधोभाग की अनुकूलता के आधार पर निर्णयकरना होता है। इसी दृष्टि से 'स्वधा अनु' पदों का प्रयोग हुआ है।

११५ **तं नो द्यावा पृथिवी तं न आप इन्द्रः श्रृण्वन्तु मरुतो हवं वचः।**
मा शूने भूम सूर्यस्य संदृशि भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि।६।

(द्यावा पृथिवी आपः इन्द्रः मरुतः) द्यावा पृथिवी, जल, इन्द्र, विद्युत आदि मरुत् अर्थात् प्राणवायुवें (तं) उस (नः हवं वचः श्रृण्वन्तु) हमारे आह्वान को तथा स्तुति वचन को सुनें। (शूने) दुख व कष्ट की वृद्धि में (माभूम) हम न हों अर्थात् दुःख कष्ट न बढ़े। (सूर्यस्य सन्दृशि) सूर्य के सन्दर्शन में (भद्रं जीवन्तः) कल्याणमय जीवन जीते हुए (जरणामशीमहि) वृद्धत्व को प्राप्त हों अर्थात् पूर्ण आयु को भोगें।

इस उपर्युक्त मन्त्र में द्यावापृथिवी, आपः इन्द्र तथा मरुत् इनका आह्वान किया गया है? प्रश्न पैदा होता है कि अग्नि, वरुण व सोम आदि अन्य देवों का ग्रहण क्यों नहीं किया? इसका समाधान कुछ इस प्रकार है। द्यावा पृथिवी शरीर के मस्तिष्क तथा अधोभाग से सम्बन्ध रखते हैं। आपः का सम्बन्ध शरीर में रस रक्तादि से है, मरुत प्राणापान आदि वायुओं के वाचक हैं और इन्द्र के क्षेत्र में मन और इन्द्रियाँ आ जाती हैं। इस प्रकार अन्नमय कोष, प्राणमय कोष तथा मनोमय कोष इन तीनों का यहाँ ग्रहण समझना चाहिये। मनुष्य में आधि और व्याधि इन तीनों कोषों में होती है। यदि इन तीनों कोषों के निर्माता ठीक रहें तो मनुष्य स्वस्थ व रोग रहित रहता है। अन्यथा इनके विकृत होने पर शरीर में विकृति पैदा हो जाती है। इसलिए इन द्यावापृथिवी आदि देवताओं का आह्वान किया गया है और अन्त में भद्र जीवन तथा दीर्घायुष्य की प्रार्थना सूर्य से की है।

११६ **विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः।**
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवे-दिवे ज्योग् जीवाः प्रति पश्येम सूर्य॥

हे सूर्य! (त्वा) तुझे (सुमनसः) प्रसन्न मुख वाले (सुचक्षसः) सुन्दर दर्शन वाले (प्रजावन्तः) पुत्र पौत्रादि सन्तति वाले (अनमीवाः) रोग रहित और (अनागसः) निष्पाप हम (जीवाः) जीव (मित्रमहः) हम मित्रो द्वारा पूजित हे सूर्य (दिवे-दिवे) प्रति-

दिन अर्थात् (विश्वाहा) सदा (उद्यन्तं त्वा) उदय होते हुए तुझको (ज्योग्) चिरकाल तक (प्रतिपश्येम) देखें।

प्रसन्नमन, शोभन दृष्टि पुत्रादि सन्तति तथा रोग रहित होना इन सबका आधार हमारे अन्दर 'अनागसः' निष्पाप होना है। निष्पाप होने पर ही हम उपर्युक्त अवस्थाओं वाले हो सकते हैं और सूर्य की पूजा कर सकते हैं। यहाँ सूर्य को 'मित्रमहः कहा है मित्राणां महः पूज्यः यः, सर्वमित्रैः पूज्यते तत्सम्बुद्धौ। निष्पाप होने पर ही हम सूर्य के मित्र होने का दावा कर सकते हैं। और उसकी पूजा करने के अधिकारी हो सकते हैं। मन्त्र में दीर्घायुष्य की प्रार्थना के साथ यह भी कहा है कि 'उदय होते हुए सूर्य को देखना चाहिये अस्त होते हुए सूर्य को नहीं।

११७ **महि ज्योति बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषे चक्षुषेमयः।**
आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रतिपश्येम सूर्य।८।

(विचक्षण सूर्य) विविध दृष्टियों से देखने वाले हे सूर्य! (महिज्योतिः बिभ्रतं) महान् ज्योति को धारण करने वाले (भास्वन्तं) दीप्तिमान (चक्षुषे-चक्षुषे) प्रत्येक चक्षु वाले की दृष्टि के लिए (मयः) सुख शान्ति देने वाले (बृहतः) महान् (पाजसस्परि) बल व अन्नादि तथा अन्नादि युक्त पृथ्वी के ऊपर (आरोहन्तं) आरोहण करते हुए तुझको हम (जीवाः) प्राणी (प्रतिपश्येम) देखें।

यह सूर्य विचक्षण है विविध दृष्टियों से सबको देखता है स्नेह दृष्टि, क्रुद्ध-दृष्टि आदि दृष्टियों से वह देखा करता है और विचक्षण चतुर को भी कहते हैं अर्थात् उससे कुछ छिपा नहीं रह सकता। वह महान् चतुर है। विचक्षण शब्द का चक्षु से सम्बन्ध है इसीलिये शास्त्रकारों ने चक्षु को ही विचक्षण कह दिया है "चक्षुर्वै-विचक्षणं वि ह्यनेन पश्यतीति चक्षुर्वै विचक्षणं चक्षुषा हि विपश्यति कौ. ७/३ ऐ १/६
पाजः बल नाम पातेर्बले जुटचं उपा. ४/२१० इत्यसुन्
स्वामी दयानन्द ने पाजः शब्द का अन्नादिकम् यह अर्थ भी दिया है। प्रत्येक चक्षु तथा चक्षु वाले के लिए यह सूर्य (मयः) सुख शान्ति व रोगशमन प्रदाता है। अतः इसके लिये क्या उपाय करना चाहिये इसका संकेत मन्त्र के उत्तरार्ध में कर दिया है कि उदय होते हुए तथा पृथ्वी से ऊर्ध्व को आरोहण करते हुए सूर्य को हम देखें और उसका स्तवन करें।

११८ **यस्य ते विश्वा भुवनानि केतुना प्रचेरते नि च विशन्ते अक्तुभिः।**
अनागास्त्वेन हरिकेश सूर्याह्नाह्नानो वस्यसा वस्यसोदिहि।९।

(हरिकेश) हरणशील रश्मियों वाले सूर्य। (यस्य ते) जिस तेरे (केतुना) प्रज्ञा-नात्मक संकेत से (विश्वा भुवनानि) सम्पूर्ण भूतजात (प्रचेरते) प्रकृष्ट रूप में चलते-

फिरते हैं और (अक्तुभिः च निविशंते) रात्रियों में विश्राम करते हैं अर्थात् सोते हैं (स त्वं) वह तू (नः) हमारे (अनागास्त्वेन) निष्पाप व निरपराध होने से 'अनागास्त्वमन पराधत्वम्' नि० ११।२१ (वस्यसा वस्यसा) अत्यन्त श्रेयस्कर तथा अत्यधिक वसु वाले (अह्नाह्ना) प्रत्येक दिन आगे-आगे (उद्गच्छ) उत्कृष्ट होता जा।

हरिकेशः—हरयः हरणशीला रसादिहरणकर्तारः केशाः रश्मयः यस्य स तत्सम्बुद्धौ।

केतुना—कित संज्ञाने प्रज्ञानात्मकेन संकेतेन।

वस्यसा—अतिशयेन वास हेतुना।

सूर्य को यहाँ हरिकेश पद से सम्बोधित किया है। सूर्य किरण केश स्थानीय हैं, ये हरि है अर्थात् पृथ्वी पर से रसादि का हरण करती हैं इसी कारण वनस्पतियाँ सूख जाती है। जल के बड़े बड़े तालाब सूख जाते हैं, पर हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ये सूर्य किरणें जल व रसादि का ही हरण नहीं करतीं प्रत्युत मानव के दुःखों व व्याधियों को ये सूर्य किरणें हर लेवें इसका विज्ञान हमें जान लेना चाहिए। प्रत्येक भावी दिन हमारा श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर होता चला जाए यही हमें जानना है। इस मन्त्र में भी मनुष्य को निष्पाप होने का उपदेश दिया है।

११९ शंनो भव चक्षसा शंनो अह्ना अह्ना शंभानुना शं हिमा शं घृणेन।
यथा शमध्वञ्छमसद् दुरोणे तत् सूर्य द्रविणं धेहि चित्रम् ॥१०॥

हे सूर्य (चक्षसा) अपनी दृष्टि व तेज से (नः शं भव) हमारा कल्याण करने वाला हो. (अह्ना नः शं) दिन से कल्याण करने वाला हो (भानुना शं) भानु रश्मि द्वारा कल्याण कर (हिमा शं) ठण्डक द्वारा कल्याण कर (घृणेन शं) उष्णता से कल्याण करने वाला हो। (यथा अध्वनि शं) जिससे हमारा मार्ग में कल्याण हो. (दुरोणे शं असत्) घर में कल्याण हो हे सूर्य (तत् चित्रं द्रविणं धेहि) वह अद्भुत धन हमें दे।

उपर्युक्त मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि सूर्य कहाँ-कहाँ कल्याण कर सकता है। तेज, रश्मि, दिन, शैत्य, ग्रीष्म, मार्ग तथा गृह इन सबमें वह सूर्य हमारा कल्याण कर सकता है। शीतता, उष्णता, तेज आदि यदि यथाभीष्ट न हों, सीमातीत या अतिन्यून हो तो भी कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए इनकी यथोचित मात्रा होनी चाहिए।

इस मन्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि यात्रा व मार्ग तय करने से पूर्व सूर्य से रक्षा की प्रार्थना कर लेनी चाहिए।

१२० अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत द्विपदे चतुष्पदे।
अदत् पिबदूर्जयमानमाशितं तदस्मे शंयोररपो दधातन ॥११॥

(देवाः) हे देवो ! (अस्माकम्) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) दोपाए और चौपाए (उभयायजन्मने) इन दोनों प्रकार के जन्म लेने वाले प्राणियों के लिए (शर्मयच्छत) सुख प्रदान करो। (अदत् पिबत्) खाया पीया गया (आशितं) भोजन या भक्ष्यपदार्थ (ऊर्जयमानं) बल देने वाला हो (तत् अस्मे) तो हमारे में (शंयोः) रोग की शान्ति करने वाला सुख तथा विषय सम्बन्धी सुख और (अरपः) पाप रहितता हमारे में (दधातन) धारण कराओ।

इस मन्त्र से यह शिक्षा मिलती है कि बिना भेद भाव के सब दोपाए तथा चौपाए सुखी हों इसलिए सुख प्राप्ति में साम्य है वैषम्य नहीं और आहार ऐसा हो जो ऊर्जस्वी हो बल प्रदान करने वाला हो, अन्नादि में मिलावट करना, कृत्रिम कमी पैदा करना वेद को अभीष्ट नहीं। अन्त में निष्पाप होने का भी उपदेश दे दिया क्योंकि हमारे अन्दर बैठा हुआ पाप ही भ्रष्टाचार कराता है।

१२१ यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु मनसो वा प्रयुती देवहेडनम्।
अरावा यो नो अभिदुच्छुनायते तस्मिन्तदेनो वसवो निधेतन।१२।

(देवाः) हे देवो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (जिह्वया) जिह्वा द्वारा अर्थात् वाणी से (गुरु) भारी पाप अपशब्द आदि हमने (चकृम) कर दिया है (मनसो वा प्रयुती) अथवा मन के प्रयोग व अप्रयोग की अवस्था में (देवहेडनम्) देवों का क्रोध उत्पन्न कर दिया है (यः अरावा) जो अदानशील (नः अभिदुच्छुनायते) हमारे प्रति पापाचरण कर रहा है अथवा दुष्ट कुत्ते की तरह हमें काटने दौड़ता है (वसवः) हे वसुदेवो (तत् एनः) वह पाप (तस्मिन् निधेतन) उस हमारे शत्रु में स्थापित कर दो।

प्रयुती—प्रकृष्ट्यायुत्या—यु मिश्रणामिश्रणयोः।

दुच्छुनायते—दुष्टं शुनं गमनं तदाचरति शुनगतौ दुष्टः श्वा तदिवाचरतिवा

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों में देवों से प्रार्थना की है पूर्व मन्त्र में तो सब प्राणियों के लिए ऊर्जस्वी अन्न तथा सुख की प्राप्ति के लिए प्रार्थना है। तो इस मन्त्र में जो पापाचरण वाणी या मन से हो गया है उसको दूर करने की प्रार्थना की गई है और यहाँ यह भी कहा गया है कि जो पाप हमने किया है वह हमारे शत्रु को जा लगे। यह तभी सम्भव है जब हम उस अपने शत्रु से अधिक निष्पाप होंगे।

ऋ. १०।१५८।१-५

विनियोग—सूर्यमिति पञ्चर्चं सप्तमं सूक्तं सूर्य पुत्रस्य चक्षुः संज्ञस्यार्षं सूर्य दैवत्यं गायत्रम्। तथा चानुक्रान्तम् –सूर्यो नश्चक्षुः सौर्यः सौर्यम् गायत्रमिति। आश्विन शस्त्रे सूर्योदयादुत्तर कालीने सौर्य काण्डे इदं सूक्तम्। सूत्रितं च 'सूर्यो नो

दिव उदुत्यं जातवेदसमिति नवेति । दशपूर्णमासयोः स्रुगादापनात् पूर्वं भाविनि जपे सूर्यो न इत्येषा । सूत्रितं च सूर्यो नो दिवस्पातु नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्य इति ।

१२२ सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् । अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ।१

(सूर्यः) सबका प्रेरक यह सूर्य (नः) हमें (दिवः पातु) द्युलोक से रक्षा करे (वातः अन्तरिक्षात्) वायु अन्तरिक्ष तथा (अग्निः नः पार्थिवेभ्यः) अग्नि पार्थिव भूत जात से अर्थात् पार्थिव पदार्थों से हमारी रक्षा करे ।

मन्त्रार्थ स्पष्ट है । सूर्य, वायु अग्नि ये अपने अपने लोकों के अधिपति है ।

१२३ जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति पाहिनो नो । दिद्युतः पतन्त्याः ।२।

(सवितः) हे सर्वप्रेरक सविता देव तू (जोष) हमसेप्रीति पूर्वक संयुक्त हो (यस्य ते) जिस तेरा (हरः) हरणशील तेज (शतं सवान् अर्हति) सैंकड़ों उत्पत्तियों व प्रेरणाओं को करने में समर्थ है । तू (नः) हमें (पतन्त्याः दिद्युतः) गिरती हुई, कम होती हुई चक्षुः ज्योति से (पाहि) रक्षा कर । अर्थात् हमारी आँख की ज्योति कम न हो इस प्रकार हमारी रक्षा कर ।

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ तो स्पष्ट है पर कुछ शब्दों पर विचार करना उपयुक्त होगा । एक तो 'जोषा' अर्थात् हमें सूर्य का सेवन प्रीतिपूर्वक करना चाहिए, यह भाव सदा बनाएं रक्खे कि यह सूर्य हमारा पिता है हम उसके पुत्र हैं । जिस प्रकार पुत्र पिता को प्यारा होता है उसी प्रकार हम भी उसके प्रिय हों । दूसरे सूर्य को यहाँ 'सविता' प्रेरक कहा है अर्थात् हसे सदा प्रेरणा लेते रहना चाहिए । उसके तेज को मन्त्र में 'हरः' कहा है । इसका भाव यह है कि सूर्य सेवन के समय हमें उसके तेज का 'हर' के रूप में ध्यान करना चाहिए । अर्थात् सूर्य का यह तेज जिसका मैं सेवन कर रहा हूँ यह मेरी समग्र व्याधियों को हर रहा है । मेरे चक्षु की समस्त न्यूनताओं व व्याधियों को हर रहा है ऐसी भावना मन में आनी चाहिए । इस सूर्य में इतनी अधिक शक्ति है कि वह सैंकड़ों व सहस्रों शक्तियों की हमारे में उत्पत्ति कर सकता है । हमारी गिरती चक्षु शक्ति की तो वह पूर्ति कर ही सकता है ।

१२४ चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः ।३

(देवः सविता) दिव्य गुणयुक्त सबका प्रेरक यह सूर्य (नः चक्षुः) हमारे में दृष्टि शक्ति (दधातु) धारण करावे (उत) और (पर्वतः) पर्वत भी हमें दृष्टि प्रदान करे (धाता) सबका विधाता वह भगवान् (नः चक्षुः) हमें चक्षु शक्ति प्रदान करे ।

इस मन्त्र में तीन देवों से चक्षु शक्ति मांगी है । वे हैं सविता पर्वत और यह धाता । सविता तो दृष्टि देता ही है पर्वत भी वह शक्ति प्रदान करता है । पर्वत की

उच्चता हरयाली शुद्ध वायुमण्डल, ये सब दृष्टि शक्ति के प्रदान करने वाले है। धाता सबका धारक वह विधाता है यह हमारी चक्षु शक्ति आदि को धारण कर रहा है यह भावना सदा बनाए रखनी चाहिए।

१२५ चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षु विख्यै तनूभ्यः। संचेद विच पश्येम ।४।

हे सूर्य (चक्षुषे) चक्षुइन्द्रिय के लिए (चक्षु: नः धेहि) हमें दृष्टिशक्ति धारण करा। (तनूभ्यः) हमारे शरीर के ताने बाने के (विख्यै) विशिष्ट रूप में प्रकाशन के लिए (चक्षु:) चक्षु शक्ति प्रदान कर जिससे कि हम (इदं) इस जगत् में (संपश्येम) सम्यक दर्शन कर सकें (च) और (विपश्येम) विविध रूपों का विविध प्रकार से दर्शन कर सकें।

'तनुभ्यः' तनु विस्तारे धातु से बनता है इस दृष्टि से 'विख्यै तनुभ्यः' का यह भी भाव हो सकता है कि प्रकाश के अधिक से अधिक दूरी तक विस्तार के लिए चक्षु शक्ति प्रदान कर।

१२६ सु संदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य। विपश्येम नृचक्षसः।५।

हे सूर्य। (सुसन्दृशं) श्रेष्ठ व शोभन द्रष्टा अथवा सुन्दर व दर्शनीय (त्वा) तुझको (वयं) हम (प्रति पश्येम) देखें अथवा तेरी ओर हम देख सकें। (नृचक्षसः) मनुष्यों के द्रष्टा हम (विपश्येम) पदार्थों के वैशिष्ट्य को देखने वाले हों।

प्रति पश्येम—का तात्पर्य यह भी है कि किसी वस्तु की प्रत्येक विशिष्टता व उसके अंग प्रत्यङ्गों को भली प्रकार देख सकें। दृष्टि क्षीणता में मनुष्य को धुंधला सा दिखाई देता है। उसकी विशिष्टता दृष्टि गोचर नहीं होती।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में दर्शन की विविधता निम्न क्रियाओं से भली भाँति दर्शाई गई है।

संपश्येम, विपश्येम, प्रति पश्येम।

ऋ० १।१६४।१

ऋषिः—दीर्घतमा औचथ्यः। देवता विश्वदेवाः, सूर्यः। छन्द त्रिष्टुम

१२७ अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रा पश्यं विश्पतिं सप्त पुत्रम् ॥१॥

(अस्य) पूर्व दिशा में उदित इस (वामस्य) वननीय अर्थात् सबसे सेवनीय

(पलितस्य) स्वर्णीय आभा वाले तथा पालन कर्ता (होतुः) संसार चक्र को चलाने के लिये सब ग्रहों-उपग्रहों को आह्वान करने वाले या इन सबके द्वारा आह्वातव्य (तस्य) सूर्य का (मध्यमः भ्राता) बीच का भ्राता (अश्नः अस्ति) व्यापनशील विद्युत है। पुनः (तृतीयो भ्राता) तीसरा भ्राता (अस्य) इस सूर्य का (घृतपृष्ठः) घृत तेजस्वी पृष्ठ वाला, इन्धन का स्पर्श करने वाला अथवा इन्धन जिसका पृष्ठ है, आधार है वह अग्नि है। इस प्रकार उस वाञ्छनीय (विश्पतिं) प्रजाओं के पालक व रक्षक (सप्तपुत्रं) सात रश्मियाँ हैं पुत्र जिसके अथवा अदिति देवमाता का यह सूर्य सप्तम पुत्र है ऐसे आदित्य को मैंने (अपश्यम्) देखा है।

यह सूर्य 'वामं' अर्थात् वाञ्छनीय है। क्योंकि प्राणिमात्र की उत्पत्ति स्थिति तथा रोगनिवृत्ति आदि सब इसी के कारण हैं। समग्र व्यवहार इसी के ऊपर आश्रित है। इसलिये यह सबका वामं अर्थात् वाञ्छनीय है। 'पलितं' सर्वस्य पातारं पालयितारं वा' सबके रक्षक व सबके पालन कर्ता है। 'पलित' पीताभ लिये शुभ्र को कहते हैं। जो सुवर्ण की आभा होती है वह पलित है। यहाँ सूर्य को पलित कहने का तात्पर्य यह भी है कि प्रातः उदय काल के सूर्य का यहाँ महत्व है। अनेकों मंत्रों में इसके महत्व को दर्शाया गया है।

उदाहरणार्थ—उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः, उद्यन्नद्य मित्रमह० ऋ. १।५०।११ उदय होता हुआ क्रिमि रोग, हृदय रोग, पाण्डु रोग आदि अनेकों व्याधियों को दूर करता है। स्वास्थ्य प्रदान करने वाला है। अतः पाता तथा पालियता के साथ पीताभ सूर्य का ग्रहण उपर्युक्त तथ्य को पुष्ट करने वाला है।

यास्काचार्य ने 'होतुः ह्वातव्यस्य' यह दिया है। ह्वातव्य का अर्थ है जिसका आह्वान करना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि प्रातःकाल सूर्य के समक्ष उपस्थित हो हम स्तुति प्रार्थना आदि द्वारा उसका आह्वान करें। यह सूर्योपासना का एक हेतु है। यहाँ मंत्र में तीन भ्राताओं का वर्णन है। ये तीन हैं—सूर्य, विद्युत और अग्नि।

सायणाचार्य ने विद्युत के स्थान पर वायु को माना है यास्काचार्य 'भ्राता' की व्युत्पत्ति देते हैं। "भरतेर्हरति कर्मणो हरते भागं भर्तव्योभवतीति वा" निरु० ४।२५ जिस प्रकार लोक में भ्राता पितृ धन में अपने-अपने भाग का हरण करते हैं। उसी प्रकार वृष्टि के लिये रश्मियों द्वारा आहृत पार्थिव रसों के हरने से यह वायु भ्राता है। पार्थिव अग्नि रात्रि में सविता के तेज को हरण कर लेती है। और दिन में अपने तेज का भाग सविता को प्रदान करती है। इस प्रकार अग्नि भी भ्राता है। यह 'सूर्य सप्त पुत्रम्' है अर्थात् सात सूर्य रश्मियाँ इसके पुत्र हैं। सप्त का एक अर्थ 'सर्पण' भी है। सर्पणात्—सप्त, ये रश्मियाँ सूर्य से निकल सर्पण करती हुई चहुँ ओर प्रसृत होती है। निरु. ४।२६ में आता है। "सप्त पुत्रं सप्तम पुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा सृप्ता संख्या सप्तादित्यरश्मय इति वदन्ति" सायणाचार्य ने अपने भाष्य में अदिति

पुत्रकामा उद्धरण द्वारा ऐतिहासिक प्रश्न की ओर संकेत किया है कि देवोत्पत्ति परम्परा में सूर्य का नम्बर सातवाँ है ।

१२८ सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ॥२॥

(एक चक्रं रथं) मण्डल रूपी एक चक्र वाला रथ अथवा जिसका भ्रमण एकाकी व स्वाधीन है ऐसा यह रथ है इसमें (सप्तयुञ्जन्ति) सात रश्मियाँ जुड़ी हैं। दूसरे शब्दों में (एकः अश्वः) अश्व एक है उसी एक अश्व के 'सप्तनामा' सात नाम है। अथवा नाम नमन के प्रकार को दर्शाता है। यास्क लिखता है—"सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति" अर्थात् यह सात रश्मियाँ इस सूर्य को पृथिवी से रसाकर्षण कर पहुँचाती रहती है। सायणाचार्य ने अश्व को वायु माना है "एक एव वायुः सप्त रूपं धृत्वावहतीत्यर्थः"। सूर्य का अन्तरिक्ष में संचार वायु के अधीन है।

यास्काचार्य ने अगली आधी ऋचा का अर्थ संवत्सर परक किया है। पर सायणाचार्य ने एक चक्र का ही विस्तार किया है। यास्काचार्य के अनुसार मन्त्रार्थ का अर्थ है—(त्रिनाभि चक्रं) ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त ये तीन ऋतुऐं ही संवत्सर के तीन चक्र हैं। (अजरं) जो स्वयं जरा रहित पर अन्यों के जरा का कारण है (अनर्वं) जो अन्यों पर आश्रित नहीं है पर स्वाश्रय हैं (यत्रेमा विश्वाभुवनाऽधितस्थुः) जिसमें ये सम्पूर्ण भुवन स्थित हैं। सायणाचार्य लिखते हैं—(त्रिनाभि) 'वलयत्रयमध्यस्थित नाभि स्थानीय छिद्रत्रयोपेतम्' अर्थात् सूर्य के तीन वलय हैं उनके मध्य में नाभि स्थानीय तीन छिद्र हैं। सूर्य से सूर्य की शक्ति का ग्रहण करने पर उसकी शक्ति का विस्तार पृथिवी भी है। अतः इस दृष्टि से पृथिवी एक नाभि अन्तरिक्ष द्वितीय नाभि तथा द्युलोक तृतीय नाभि हो सकते हैं। इसी प्रकार तीन नाभि से ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल, इस प्रकार अनेकों नाभियाँ दर्शायी जा सकती हैं। चक्र से अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर तथा युगादि का निर्माण ये सब सूर्य के चक्र के चक्कर काटने से निर्मित होते हैं।

अश्व—एको अश्वो वहति सप्तनामा सूर्य को अश्व कहा जाता है क्योंकि वह सर्वत्र सौर मण्डल में अभिव्याप्त है। (अशूङ् व्याप्तौ) अश्व से केवल व्याप्ति का भाव ही नहीं लेना है यह 'अश्व' पद प्राण का भी वाचक है। इसमें वीर्य, तेज और वेग (वाज) आदि शक्तियों की व्याप्ति का भाव भी साथ में सन्निहित है। ये सब शक्तियाँ सात संख्या में विभक्त है और सात प्रकार की किरणों द्वारा हमारी ओर आ रही हैं। किस प्रकार की किरणों से क्या-क्या शक्ति उपलब्ध हो सकती हैं। ६ ऋतुऐं—अधिक मास ये सात, पर यह विचारणीय है क्योंकि ऋतुऐं रश्मियों की उपज है। रश्मियाँ सप्तधा विभक्त होकर सूर्य का वहन करती है।

१२९ **इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभिसंनवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा ।।३।।**

(ये सप्त) जो सात (इमं रथमधितस्थुः) इस सूर्य रूपी रथ पर समारूढ़ हैं (सप्त चक्रं) सात चक्रों पहियों वाले इस रथ को (सप्त अश्वावहन्ति) सात अश्व वहन कर रहे हैं (सप्त स्वसारः) सात बहिनें (अभिसंनवन्त) इसके अभिमुख हो इसका स्तवन कर रही हैं (यत्र गवां सप्तनामा निहिता) जहाँ गौओं के सात नाम रखे गये हैं। इस सौर्य रथ पर सात अधिष्टित है। ये सात ऋषि हैं, ऋषि प्राणों को कहते हैं। सप्त चक्रम्—इस रथ के सात चक्र हैं। एक-एक चक्र में एक-एक ऋषि प्राण प्रमुख है। सूर्य से लेकर पृथ्वी तक सात चक्र हैं। जो कि तिस्रः भूमीः, तिस्र द्यौः रूप में ६ चक्र तो ये हैं इनमें छटा जो प्रद्यौ नाम का द्यु भाग है इसके दो विभाग किये गये हैं। इस प्रकार ७ ऋषि, ७ चक्र तथा ७ रश्मि रूपी अश्व इस सूर्य का वहन कर रहे हैं। ऊपर मंत्र में सात-सात करके जो रथ में समारूढ़ चक्र, अश्व, स्वसा, गौएँ आदि यदि सूर्य रश्मि ही है तो मंत्र का स्वारस्य व विशिष्टता कुछ नहीं रहता। अतः हमारे विचार में ये भिन्न-भिन्न चीजें हैं। विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिये।

१३० **को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत् ।४।।**

(प्रथमं जायमानं) सर्वप्रथम उत्पन्न होते हुये इस ब्रह्माण्ड को (कः ददर्श) किसने देखा? (यत्) जिसकी कृपा से (अनस्था) अस्थि मज्जा आदि रहित कोई शक्ति (अस्थन्वन्तं बिभर्ति) अस्थि मज्जा आदि वाले अर्थात् ठोस पदार्थों से बने इस संसार को धारण करती है। (भूम्याः असुः) भूमि का प्राण (असृक्) उसका रक्त और (आत्मा क्वस्वित्) उसकी आत्मा ये सब कहाँ हैं अर्थात् किसके आश्रय से हैं। यहाँ पृथिवी पर रहने वाले प्राणियों के शरीर रक्त, मांस आदि और उसमें निवास करने वाली आत्मा कहाँ से आये हैं? (एतत् प्रष्टुं को विद्वांसं उपगात्) इन सब प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये कौन इन रहस्यों के ज्ञाता विद्वान् के पास पहुँचा है अर्थात् कोई नहीं।

१३१ **इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिवसाना उदकं पदापुः ।।५।।**

(इह ब्रवीतु) कृपया वह यहाँ आकर बतलावें (अङ्ग) हे प्रिय! (य ईम्) जो इसको अर्थात् (अस्य वामस्य वेः) इस वाञ्छनीय व सुन्दर पक्षी रूप सूर्य के (निहितं) प्रच्छन्न (पदं वेद) पद को जानता है। (अस्य) इस सूर्य की (गावः) गौएँ (शीर्ष्णः;

क्षीरं दुह्नते) सिर से दूध दुहाती है और (वव्रिंवसानाः) अपने स्वरूप को धारण कर (उदकं पदापुः) पावों द्वारा जल पीती हैं।

इस सूर्य की रश्मि रूपी गौएँ सिर से तो दूध देती हैं और पैर से पानी पीती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब सूर्य किरणें सूर्य से दुग्ध रस लेकर उद्गत होती हैं तो यह उन गौवों का शृंग है, सिर है। यह रस लेकर वे पृथिवी पर आती है और वह रस पार्थिव स्थावर जंगम प्राणियों को पिला देती हैं। यह उनका दोहन है। जब दुग्ध रस से रिक्त होकर पार्थिव रसों को पान करती है यहाँ ये पैर कहलाती है क्योंकि पृथिवी पर पड़ने के कारण ये पैर स्थानीय हैं।

१३२ पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वितत्निरे कवय ओतवाउ ॥६॥

(पाकः) बुद्धि व आयु से परिपक्व हुआ भी मैं (मनसा अविजानन् पृच्छामि) मन से मनन करके भी नहीं जान पाया हूँ। अतः आप साक्षात्कर्ता ऋषियों से पूछता हूँ क्या ? (देवानां एना निहिता पदानि) देवों—सूर्य, चन्द्र आदि देवों के ये प्रच्छन्न पद कहाँ है ? अथवा (मनसा) मन द्वारा सोच विचार कर भी (अविजानन्) अज्ञानी (पाकः) ब्रह्मचर्यादि तप द्वारा परिपाक के योग्य मैं (देवानां) देव पुरुषों के (निहिता) रक्खे गये (एना पदानि) इन पदों व कदमों के रहस्य को (पृच्छामि पूछता हूँ। (वष्कये वत्से अधि) दिव्य मार्ग के पथिक वत्स शिष्य के निमित्त (कवयः) क्रान्तदर्शी ऋषियों ने (ओतवाउ) बुनने के लिये [दिव्य वस्त्र बुनने के लिये] (सप्त तन्तून् वितत्निरे) कौन से सात तन्तु फैलाये हैं ? [सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुः] ये हैं।

पाकः—पा रक्षणे पा पाने वा—कन् प्रत्ययः। रक्षा के योग्य यद्वा विद्या रस पान करने वाला। यद्वा—डुपचष् पाके घञ्—ब्रह्मचर्यादि तपसा परिवचनीयो ऽहम्। दयानन्द

पदानि—पत्तुं प्राप्तुं ज्ञातुं योग्यानि—पद् गतौ।

वष्कये—वष्क गतौ दर्शने च—कयन्—वलिपलितनिभ्यः कयन् उणाः ३।६२।

ओतवे—वेञ् तन्तु सन्ताने—तवै प्रत्ययः, तुमर्थे सेसेनसे० पा० ३।४।६

सप्ततन्तु—सप्त मर्यादा, सप्त धातु, सप्त लोक, सात प्राण व सूर्य की सप्त रश्मियाँ आदि।

१३३ अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्वनो न विद्वान्।
यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥७॥

(अचिकित्वान्) नासमझ और (न विद्वान्) अज्ञानी मैं (अत्र) यहाँ (चिकितुषः)

सर्व रहस्यों को समझने वाले (विद्वनः कवीन्) विद्वान् क्रान्तदर्शी ऋषियों से (पृच्छामि) पूछता हूँ कि (य इमा षड् रजांसि) जो इन ६ लोकों को (स्तस्तम्भ) विशेषतया थामे हुये हैं (अजस्य रूपे) गति के हेतु भूत सूर्य के रूप में (किमपि एकं स्वित्) क्या वह कोई एक शक्ति है या कोई और भी शक्ति है।

षड् रजांसि—६ लोक=तिस्रः द्यौः तिस्रः पृथिवीः।

अचिकित्वान्—कित निवासे रोगापनयने, ज्ञाने च क्व सुः।

विद्वन्—विद् ज्ञाने क्वनिप् शीङ् क्रुशि रुहि. उणा ४।११४

अजस्य—अज गति क्षेपणयोः—गतिशीलस्य सूर्यस्य।

१३४ माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥८॥

(माता) चराचर प्राणियों की निर्मात्री पृथिवी ने (धीत्या) वीर्याकर्षण व धारण शक्ति द्वारा (पितरं) हमारे पिता सूर्य को (ऋते आबभाज) सर्वत्र फैले ऋत तत्व में भागी बनाया अर्थात् सूर्य का वीर्य ऋत तत्व में आया इसके लिये उसने (अग्रे) प्रारम्भ में (मनसा संजग्मे) मानस प्रदेश चन्द्रमा स्थान से 'चन्द्रमा मनसो जातः उस सूर्य से संगम किया। तत् परिणामस्वरूप वह (गर्भरसा) गर्भ में रसवाली अर्थात् जिसके अन्तरिक्ष रूपी गर्भ में जल रूप में रस भरा हुआ है ऐसी यह पृथिवी (निविद्धा) मेघ गर्जन व विद्युत् आदि द्वारा ताडित अतएव (बीभत्सुः) भयप्रद होती है। (नमस्वन्तः) सब चराचर प्राणी उसे नमस्कार करते हुए (उपवाकमीयुः) स्तुति रूप वाणी से उसके समीप पहुँचते हैं।

बीभत्सुः—भयप्रदा। निविद्धा नि+व्यथताडने

उपवाकं—उपेत्य वचनं स्तुति रूपं।

१३५ युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यद् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ।९।

(माता) यह पृथिवी माता (दक्षिणायाः धुरि) दक्षिण दिशा के धारक स्थान में (युक्ता आसीत्) पिता सूर्य से युक्त संयुक्त थी अर्थात् पृथिवी का दक्षिण पार्श्व सूर्य से संयुक्त था। तब (वृजनीषु अन्तः) गर्भघातक शत्रुओं का वर्जन करने वाली योनियों के अन्दर (गर्भः अतिष्ठत्) गर्भ स्थित हुआ। तब (वत्सः) माता के गर्भ से उत्पन्न होकर वत्स ने (गां अनु अपश्यत्) अपनी माता पृथिवी रूपी गौ की ओर देखा और (अमीमेत्) दुग्धपान के लिये शब्द किया। इस प्रकार (विश्व रूप्यं) विश्व रूपों में होने वाला यह जगत् (त्रिषुयोजनेषु) द्यावा पृथिवी और अन्तरिक्ष इन तीनों के योजन संयोजन में ही प्रकट होता है।

धुरि—या धरति सा तस्याम्।

वृजनीषु—वर्जन्ति गर्भघातकान् शत्रून् उपद्रवान् वा याः तासु।

अमीमेत्—माङ् माने शब्दे च (जुहोत्यादि) व्यत्ययेन परस्मैपदमभ्यासस्य दीर्घत्वं च।

विश्वरूप्यम्—विश्व रूपेषु भवम्।

१३६ तिस्रोमातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौनेमवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥१०॥

(तिस्रः मातॄः) तीन माताओं और (त्रीन् पितॄन्) तीन पिताओं को (एकः बिभ्रत्) एक धारण किये हुए (ऊर्ध्वः तस्थौ) ऊर्ध्व में स्थित है। (ईम् न अवग्लापयन्ति) उस एक को ये ग्लानि नहीं पहुँचाते हैं।

(विश्वविदः) विश्व वेत्ता मुक्त जन (अमुष्य दिवः पृष्ठे) उस द्युलोक के पृष्ठ पर (अविश्वविन्नाम्) सामान्य जन दुर्लभ (वाचं मन्त्रयन्ते) वाणी का उच्चारण करते हैं या परस्पर मन्त्रणा करते हैं।

तिस्रः मातॄः—तीन पृथिवियां अन्नमय, प्राणमय, मनोमय (चन्द्रमा)।

त्रीन् पितॄन्—तीन द्युलोक, उदन्वती पीलुमती प्रद्यौ।

तीन माता—पृथिवी, द्युलोक, अन्तरिक्ष।

तीन पिता—अग्नि, वायु, सूर्य।

एकः—सूर्यः।

अवग्लापयन्ति—अव अनादरे ग्लैहर्षक्षयो णिच् लट्। अविश्वविन्नाम्, अ+विश्व+विद्लृलाभे क्तः प्रत्ययः।

१३७ पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न छिद्यते सनाभिः ॥११॥

(पञ्चारे चक्रे) पाँच अरों वाले [५ ऋतुयें हेमन्त, शिशिरयोः समासेन निरु. ४।२६ अर्थात् पाँच ऋतु रूपी चक्रों वाले काल चक्र रूपी संवत्सर के (परिवर्तमाने) निरन्तर घूमते हुए (तस्मिन्) उस चक्र पर (विश्वा भुवनानि आतस्थुः) सम्पूर्ण भुवन स्थित हैं। (तस्य अक्ष) उसके भ्रमण का आधार भूत अक्ष=धुरा (सनादेव) सनातन काल से ही (भूरिभारः) बहुत भार को सहन करता हुआ भो (न तप्यते) कभी गर्म नहीं होता और (सनाभिः) चक्र की नाभि से संलग्न वह (न छिद्यते) कभी टूटता नहीं अर्थात् वह काल चक्र निरन्तर घूमता रहता है और घूमता रहेगा।

पञ्चारे—पञ्च अरा यस्मिन् स पञ्चारः तस्मिन् पञ्चर्तवो हेमन्त, शिशिरयोः समासेन तावान् सवत्सरः ऐ. ब्रा. १।१।

१३८ पञ्चपादं पितरं द्वादश कृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्त चक्रे षडर आहुरर्पितम् ।।१२।।

(पञ्चपादं) नीचे के पांच लोकों में जिसके पैर फैले हुए हैं (पितरं) सबके पालक (द्वादशाकृतिं) चैत्रादि १२ मासों की आकृति वाले इस सूर्य को विद्वान् लोग (दिवः परेअर्धे) द्युलोक के परले आधे भाग में (पुरीषिणं आहुः) जल रखने वाला कहते हैं अर्थात् सूर्य के ऊपर ले आधे भाग में सोम-रस रूप जल भरा हुआ है। (अथ इमे अन्ये) और कुछ दूसरे लोग (उपरे विचक्षणं) ऊपर के भाग से वह सबको देखता है ऐसा कहते हैं। (सप्तचक्रे) सप्त रश्मि रूप चक्र वाले (षडरे) षट् ऋतु रूपी आरों वाले इस सूर्य में (अर्पितं आहुः) सब कुछ अर्पित है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

पञ्चपादं—पञ्च लोकाः पादाः यस्यतम्। षडहन् अर्थात् छटे अहन् पर स्वयं यह सूर्य स्थित है। नीचे के ५ अहन् पर किरण रूपी उसके पैर पड़ रहे हैं। (तिस्रः पृथिवीः तिस्रः द्यौः—'वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि' ऋग्वेद।

इस प्रकार द्यावा पृथिवी को षडहन् प्रकरण में ६ स्तरों पर बाँटा गया है। छटे पर सूर्य स्वय स्थित है। नीचे के पाँच स्तरों पर उसके पैर पड़ते हैं।

पुरीषिणम्—पुरीषं पालनपोषणकर सोमरसादि तत्वं विद्यते यत्र। पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा निरु. २।२२।

पॄ पालन पूरणयोः (क्र्यादिः) पुरी आप्यायने (चुरादि) पालनमाप्यायनं च।

१३९ द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ।।१३।।

(ऋतस्य चक्रं) ऋतात्मक सूर्य का यह चक्र मण्डल तदुत्पन्न काल चक्र संवत्सर चक्र (द्वादशारं) चैत्रादि १२ मासरूपी अरों वाला है। (तत् जराय नहि) वह निश्चय से जीर्ण नहीं होता, प्रत्युत (द्यां परिवर्वर्ति) द्युलोक के चारों ओर परिभ्रमण करता रहता है (अग्ने) हे सूर्य अग्ने (अत्र) इस संवत्सर रूप चक्र में (मिथुनासः) स्त्री पुरुष रूप में (सप्तशतानि विंशतिश्च आतस्थुः) ७२० दिन रात अर्थात् ३६० दिन और ३६० रात्रियां विद्यमान हैं।

सप्त च वैशतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः ऐ. आ. ३।२।१ जराय—जॄवयोहानी" (क्रयादि) ततः ऋदोरप् ३।३।५७ जरः तस्मै जराय।

१४० सनेमिचक्रमजरं विवावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्ना तस्थु र्भुवनानि विश्वा ।।१४।।

(सनेमि चक्रम्) नेमिपरिधि सहित यह सूर्य चक्र (अजरं) कभी जीर्ण न होने वाला अथवा शीघ्रगामी (विवावृते) निरन्तर अपनी परिधि पर घूमता है। (उत्तानायां) उत्तान अवस्था में (दशयुक्ता वहन्ति) दश प्राण व दश दिशाऐं उसमें युक्त होकर उसे वहन करती हैं। (सूर्यस्य चक्षु:) सूर्य की दर्शन शक्ति अर्थात् तेज (रजसा आवृतं ऐति) हिरण्यमय परमाणुओं से आवृत्त हुआ फैलता है। (यस्मिन्) जिस तेज में (विश्वा भुवनानि आतस्थु:) सम्पूर्ण भुवन विराजमान हैं।

सनेमि—नेमि-णीञ् प्रापणे-मि 'नियोमिः उणा ४।४३
अजरम्—अजगतिक्षेपणयोः—अर प्रत्ययः ऋच्छेररः उणा. ३।१३१
उत्तानायाम्—उत्तनु विस्तारे घञ् टाप्।

रजसा—रजते ज्योतीरज उच्यते। उदकं रज उच्यते लोकारजांस्युच्यन्ते असृगहनी रजसी उच्येते। रञ्ज रागे (म्वादि दिवादि "भूरञ्जिभ्यां कित्" उणा. ४।२१७ इत्यनेन असुन् प्रत्ययः किन्। ज्योतिः उदकम् लोकाः (बहुवचने) असृक् (रुधिरम्) अहनी (अहोरात्रे) ये ५ अर्थ रज के हैं। रजः रात्रिनाम निघ. १।७, द्यावा पृथिव्योर्नाम निघ. ३।३०

१४१ स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः।
कवि र्यः पुत्रः सईमाचिकेत यस्ता विजानात् सपितुष्पितासत् ॥१५॥

(अक्षण्वान्) ज्ञान नेत्र वाला (पश्यत्) आध्यात्मिक रहस्यों व वैज्ञानिक तत्वों को देखता है (अन्धः) ज्ञान नेत्र से रहित व्यक्ति (न विचेतत्) उन सूक्ष्म तत्वों को नहीं देखता (सतीः स्त्रियः) अध्यात्म ज्ञान तथा विज्ञान से सम्पन्न स्त्रियों को (मे) मेरे लिये (पुंसः तान्) वे पुरुष हैं उन्हें गुरु मानकर उनसे शिक्षा ग्रहण करो ऐसा तत्वज्ञानी पुरुष कहते हैं। क्योंकि ज्ञान विज्ञान में शिखर पर पहुँची स्त्रियें पुरुष के तुल्य होती हैं। इसी प्रकार (यः पुत्रः कविः) जो पुत्र क्रान्तदर्शी व तत्वज्ञानी होता है (सः) वह (यः ईम् आचिकेत) जो उन रहस्यों को देखता है और (ता विजनात्) उन विज्ञानों को जान लेता है। (सः पितुः पितासत्) वह अपने शरीरदाता पिता का भी पिता होता है।

यथा—शिशुराङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् स पितृन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत ते देवानपृच्छन्त ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृत् (ताँ० ब्रा० १३।३।२४)

२. (स्त्रियः सतीः) शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ स्त्रियाँ हैं पर ऋषि (पश्यत्) प्राण को देखता हुआ अर्थात् प्राण की दृष्टि से [ता अमुं पुंशब्देन निराह प्राण इति पश्यन्] निरुक्त १४।२० (तान्=ताः) उन इन्द्रिय रूप स्त्रियों को [लिङ्ग व्यत्यय तान्=ताः) तथा (अमुं) उस प्राण को ऋषि ने

मुझे पुं शब्देन निराह पुरुष रूप में बताया है [पुंसः=पुं इति वचन व्यत्ययः आहु =निराह वचन व्यत्ययः] अर्थात् इन्द्रियाँ और प्राण पुरुष ही है जो क्रान्त दर्शी पुत्र इस रहस्य को जानता है कि इन्द्रियाँ प्राण का ही दूसरा रूप हैं वह पिता का भी पिता होता है।

३. तत्व ज्ञानी दिव्य चक्षु ऋषि महर्षि ये बताते हैं जिन्हें तुम इस समय स्त्री रूप में देखते हो वे विगत जन्मों में कभी पुरुष रूप में होंगी और भावि जन्मों में भी पुरुष रूप में हो सकती है। इस रहस्य को दिव्य चक्षु शक्ति वाला व्यक्ति ही देख सकता है अन्धा नहीं। जिसने इस रहस्य को देख लिया है और भली प्रकार जान लिया वह कवि है कान्तदर्शी है शरीर दाता पिता का पुत्र होते हुए भी वह अपने पिता का (जिसको तत्वज्ञान नहीं हुआ) भी पिता कहलाता है सायणाचार्य ने अपने भाष्य में इस मन्त्र पर एक श्लोक दिया है जो इस प्रकार है—

नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स चोद्यते॥

१४२ **साकं जानां सप्तमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयोदेवजा इति।**
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥१६।

(साकं जानां) साथ उत्पन्न सात ऋषियों में (सप्तथं) सातवें ऋषि को (एकजं आहुः) तत्व ज्ञानी अकेला उत्पन्न हुआ कहते हैं। इन सात में (षट् ऋषयः) ६ ऋषि प्राण (इत्) निश्चय से (यमाः) जोड़े रूप में रहते हैं। और वे (देवजा इति) देव से उत्पन्न है। (तेषां इष्टानि) उनके अभीष्ट विषय (धामशः) उनके अपने अपने धाम=स्थान के अनुसार (विहितानि) पृथक्-पृथक् बनाए गये है। वे (रूपशः) रूप के भेद से (विकृतानि) विविध आकृति युक्त हुए (स्थात्रे) अपने स्थान के अधिष्ठाता के प्रति (रेजन्ते) जाते हैं।

विकृतानि—विविधाकृतियुक्तानि-स्थात्रे—अधिष्ठात्रे तदर्थाय सायणाचार्य।

यहाँ से इस मन्त्र को हमने अध्यात्म क्षेत्र में लगाने का प्रयत्न किया है। ये सात ऋषि सात प्राण है वे हैं २ कान + २ नासिका + २ चक्षु + १ मुख इनमें ६ ऋषि यम रूप में युग्म रूप में रहते है। २ कान २ नासिकायें तथा २ चक्षु ये कार्य की स्थूल दृष्टि से तो एक ही कार्य करने वाले प्रतीत होते हैं पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ये पृथक् पृथक् है ऐसा निश्चय होता है। उदाहरण के तौर पर नासिका के दो छिद्रों में एक में सूर्य स्वर चलता है तो दूसरे में चन्द्र स्वर। एक गर्म है और एक ठण्डा है। इसी प्रकार कान और आंख को समझना चाहिए। इन सात ऋषि प्राणों में मुख अर्थात् 'वाक्' अकेली है। अतः यह एकज है।

१४३ **अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौ रुदस्थात् ।**
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥१७॥

(परेण अवः) परे अर्थात् द्युलोक से नीचे की ओर (अवरेण परः) नीचे पृथिवी से परे द्युलोक की ओर (पदावत्सं विभ्रतीः) अपने पैर अर्थात् अग्रभाग से प्राणि रूप वत्स को धारण किये हुए (गौः उदस्थात्) किरण रूपी गौः उद्गत हुई । (सा कद्रीची) वह किधर जाती हुई (कं स्वित् अर्ध) सौर मण्डल के किस अर्ध भाग में (परागात्) परे चली गई (क्वस्वित् सूते) और कहाँ किसको जन्म देती है । (नहि यूथे अस्मिन्) अब वह हमारे इस यूथ = पशु समुदाय में जन्म नहीं दे रही है ।

वत्सम्—वस निवासे + स-वृतृवदिवचिस उणा. ३।६२ प्राणि निवास स्थानं देहम् ।

कद्रीची—किं + अञ्चति किं + अञ्चू गतिपूजनयोः + क्विन्—ऋत्विकदधृक पा. ३।२।५९ किं शब्दस्य टेरद्रि आदेशः ।

इस मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि ये किरणें ब्रह्माण्ड में एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्राणि समुदाय को उनके कर्मों के अनुसार वहन करके ले जाती है । और वहाँ उत्पन्न करती है ।

१४४ **अवः परेण पितर यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण ।**
कवीयमानः क इह प्रवोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥१८॥

(परेण अवः) परे द्युलोक से नीचे पृथिवी की ओर आती हुई इस प्रकार (परेण अवः) परे द्युलोक से नीचे की ओर (एना अवरेण परः) इस अवर स्थान पृथिवी से परे द्युलोक की ओर आती जाती हुई (अस्य) इस रश्मि के (पितरं) पालक पिता को (यः वेद) जो जानता है वह हमें बतावे । पर (कः) कौन (कवीयमानः) क्रान्तदर्शी होता हुआ (इह प्रवोचत्) यहाँ इस रहस्य को बता सकता है ? (देव मनः कुतः अधि प्रजातम्) यह देव मन कहाँ से उत्पन्न हुआ है क्योंकि उपर्युक्त रहस्य को दिव्य मन वाला व्यक्ति ही बता सकता है पर यह दिव्य मन कैसे उत्पन्न होता है इस पद्धति को कौन जानता हैं ? अर्थात् कोई विरला ही व्यक्ति जानता है । कवीयमानः=कवि + क्यङ् कर्तुः क्यङ् सलोपश्च पा ३।१।११ अकृत सार्वधातुकयोदीर्घः इति दीर्घः कवीयः । कवीय शानचि मुक् । कविवदाचरन् अतीव विद्वान् ।

१४५ **ये अर्वाञ्चस्ताँउपराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।**
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१९॥

(ये अर्वाञ्चः) जो सूर्य ग्रह उपग्रह इधर पृथिवी की ओर आ रहे हैं अर्थात् जिनकी रश्मियाँ पृथिवी की ओर आ रही है (तान्) उनको (उ) वितर्क (पराच आहुः) परे रहते हुए वे गति कर रहे है ऐसा तत्वःज्ञानी लोग बताते

हैं और (ये पराञ्चः) जो पृथिवी आदि परे द्युलोक की और गति कर रहे हैं— अर्थात् उनकी याचना शक्ति परे को जा रही है (तान्) उनको (अर्वाचः आहुः) इधर यहाँ ही रहते हुए गति कर रही है ऐसा बताते हैं। हे (सोम) निर्माण सामग्री रूप सोम, तूने (च) और (इन्द्रः) इन्द्र ने (या चक्रथुः) जिनको बनाया है (तानि) वे किरणें (धुरा युक्ता नः) धुरा में जुते हुए घोड़ों के समान (रजसः वहन्ति) लोकों को वहन कर रही है।

सूर्य व द्युलोक के वृहत् नामक प्राणरश्मि रूप में इधर की ओर आ रहे हैं और इस पृथिवी के रथन्तर प्राण [वृहद् प्राण ही पृथिवी पर आकर रथन्तर प्राणों में परिणत हो जाते हैं] द्युलोक की और जा रहे हैं। इस प्रकार ये सौर प्राण रश्मि रूप में सब लोकों का वहन करते हैं। यहाँ सोम निर्माण सामग्री रूप में है। इन्द्र ने उस सोम सामग्री से इन किरणों का निर्माण किया है। इन्द्र सूर्य है "इन्द्र ह्येत माचक्षते य एष (सूर्यः) तपति" श. प. ब्रा. ४।६।७।११ अथ य सः इन्द्रोऽसौ स आदित्यः श. प. ८।५।३।२ इसी प्रकार निम्न स्थलों पर भी इन्द्र को सूर्य माना है। जै. उ. १।४।४।५: १।२८।२।१ श. प. १।६।४।१८।

१४६ यत्र सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२०॥

(यत्र) जिस सूर्य मण्डल में स्थित (सुपर्णाः) शोभन पर्ण वाली यद्वा सुपतनशील आदित्य रश्मियाँ (अमृतस्य भागं) सोमरस रूप अमृत भाग को (अनिमेषं) निरन्तर (विदथा) प्राप्त करती हुई (अभिस्वरन्ति) मधुर ध्वनि करती रहती है अथवा जगत् को तपाती है या सूर्य में पहुँचती रहती हैं ऐसा (इनः) इन रश्मियों का स्वामी (विश्वस्य भुवनस्य गोपाः) विश्व भुवन का रक्षक (धीरः) धीमान् यहां बुद्धिप्रद वह आदित्य (पाकं) पक्तव्य मति वाले (मां अत्र आविवेश) मुझ में यहाँ प्रविष्ट हों। सुपर्णाः सुपतना आदित्य रश्मयः निरुक्त ३।१२ सुपर्णा रश्मि नाम निघ १।५ विदथा वेदनेन विदॢलाभे (तुदादिः निरु ३।१२ अभिस्वरन्ति अभिस्वृ शब्दोपतापयोः (भ्वादिः) शब्दयन्ति उपतापयन्ति यद्वा—अभि प्रयन्ति नि. ३।१२ धीरः धीमान् यद्वा धियं राति ददाति इति धीरः।

यह मन्त्र यास्काचार्य ने अध्यात्म में भी घटाया है। यथा आत्माश्रित सुपतन शील ये इन्द्रियाँ विषयाभिमुख अमृत-अर्थात ज्ञान के भाग को-अपने विषय केप्रत्ति प्रयाण धर्म से निरन्तर प्रदान करती है तथाभूत विपक्व प्रज्ञावाले मुझ में इन इन्द्रियों का स्वामी तथा विश्व भुवन का रक्षक वह परमात्मा प्रविष्ट हो।

१४७ यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोशद्यः पितरं न वेद ॥२१॥

(यस्मिन् वृक्षे) जिस सौर्य वृक्ष में (मध्वदः) मधु रस भक्षण करने वाली

(सुपर्णा) सुपतनशील आदित्य रश्मियां (निविशन्ते) निवेश करती है और (विश्वे) वे सब कालान्तर में (अधिसुवते) उत्पन्न होती है। (तस्य) उस सूर्य वृक्ष का (अग्रे) सर्वश्रेष्ठ (स्वादु) स्वादिष्ठ (यत् पिप्पलं आहुः) जो अमृतरूप फल बताते है (तद् उत्) इस उत्कृष्ट अमृत फल को (ननशत्) वह नहीं प्राप्त कर सकता (यः) जो व्यक्ति (पितरं) सबके पालक पितृ रूप सूर्य को (नवेद) नहीं जानता है।

अध्यात्म पक्ष में–संसार में मधु भक्षण करने वाली ये इन्द्रियों के आत्म तत्व में प्रवेश करने पर जो स्वादिष्ठ आनन्दातिरेक की प्राप्ति होती है वह उसको नही हो सकती जो सबके पालक परमात्मा को नहीं जानता है।

———